॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१७२

॥ श्रीः ॥

गौतमधर्मसूत्राणि

हिन्दीव्याख्याविभूषित-
हरदत्तकृत-मिताक्षरावृत्ति-सहितानि

हिन्दी व्याख्याकार

डॉ० उमेशचन्द्र पाण्डेय

एम० ए०, पी-एच० डी,० साहित्यरत्न,

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९६६

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

172

*****

THE

GAUTAMA-DHARMA-SŪTRA

 With the

'Mitākṣarā' Sanskrit Commentary of Haradatta

Edited with

The Hindi Commentary and Introduction

by

Dr. UMESH CHANDRA PANDEY,

M. A., Ph. D., Sāhityaratna,

THE

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Post Box 8. Varanasi-1 (India) Phone : 3145

First Edition
1966
Price : 10–00

दो शब्द

भारतीय साहित्य से परिचित सुधी पाठकों को 'गौतम-धर्म-सूत्र' का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। धर्मग्रन्थों में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज के युग में भारतीय धर्म के शाश्वत मूल्यों की स्थापना के बिना समाज को सही दिशा कठिनाई से मिल सकती है। आवश्यकता है अपने अतीत की सभी अच्छाइयों को ग्रहण कर वर्तमान जीवन में पिरोने की, और इसके लिए हमें उस अतीत को सही रूप में पहचानना होगा।

'गौतम-धर्म-सूत्र' का यह संस्करण उस अमूल्य निधि के एक अंश को आधुनिक पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास है। केवल सूत्रों में ही हिन्दी व्याख्या दी गयी है और इस बात का प्रयत्न किया गया है कि सूत्र का पूरा अर्थ सरलता से स्पष्ट हो जाय। भूमिका में सूत्र साहित्य, भारतीय धर्म और इस ग्रन्थ की विषयवस्तु के कुछ पक्षों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

मैं इस बात का दावा नहीं करता कि मेरा योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है। बहुधा लेखक कतिपय सीमाओं में बद्ध होता है। इस ग्रन्थ को वर्तमान कलेवर प्रदान करने का श्रेय चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस के सुयोग्य प्रबन्धकों को है, जो संस्कृत एवं संस्कृति की सेवा और प्रतिस्थापना में चिरकाल से अहर्निश संलग्न हैं। मैंने उन्हीं की प्रेरणा से इस पुस्तक के वर्तमान संस्करण द्वारा भारतीय वाङ्मय की जो तुच्छ सेवा की है उससे मुझे संकोच है, किन्तु सन्तोष भी है।

अपनी ओर से दो शब्द कहते हुए मैं अपने कतिपय प्रियजनों का, जो मेरे जीवन के मधुर प्रेरणा-स्रोत हैं, प्रेम और कृतज्ञता से स्मरण करता हूँ। मेरा श्रम निष्फल नहीं होगा, यही मेरी आशा है।

'विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आ सुव॥'

विनीत—
उमेशचन्द्र पाण्डेय
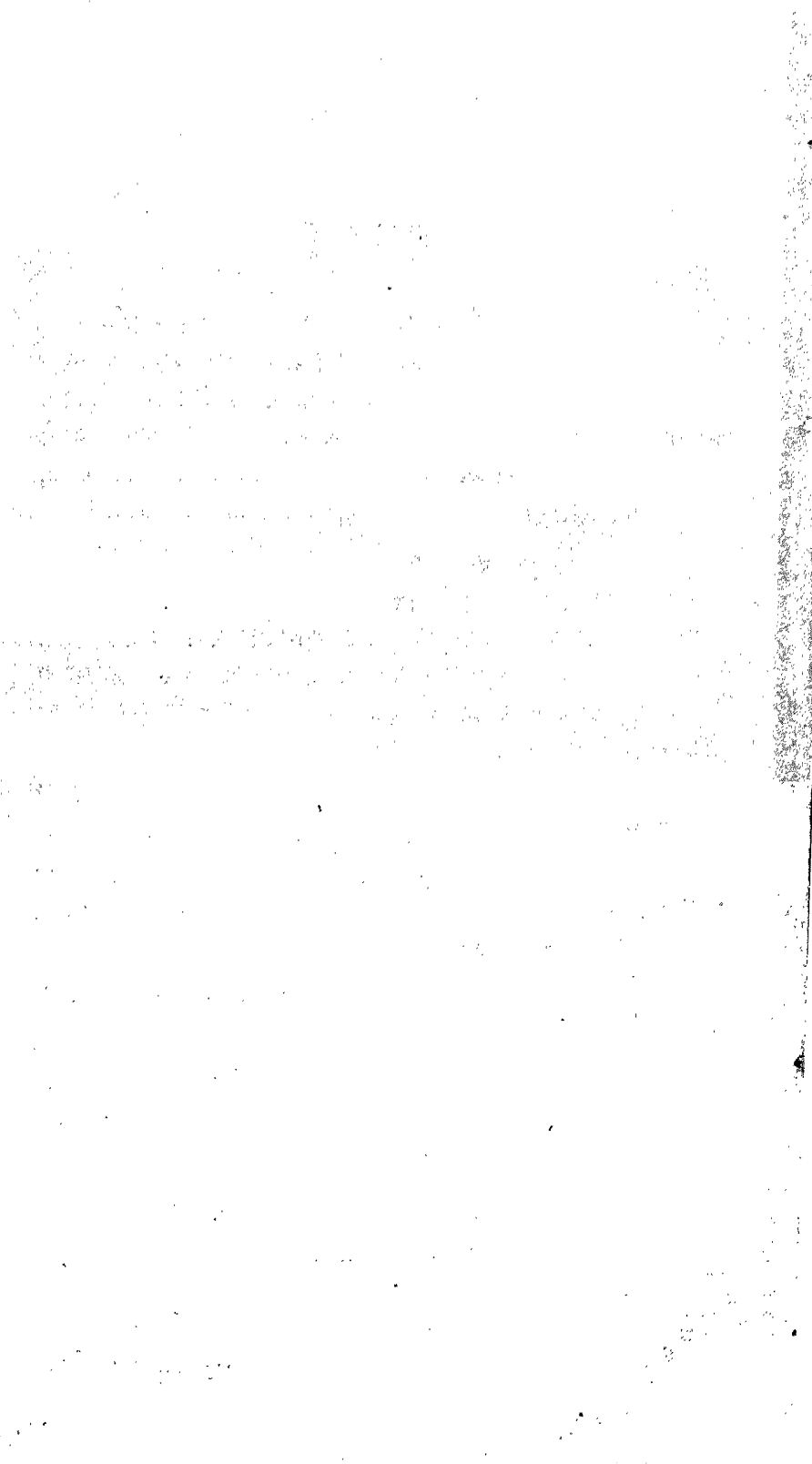
भूमिका

सूत्र साहित्य

सूत्र साहित्य भारतीय वाङ्मय का एक अनूठा वर्ग है और इसकी विशेषता है इसकी अनोखी शैली। वैदिक साहित्य में सूत्रों का काल अध्ययन और चिन्तन की एक परम्परा का प्रतिनिधि है और भारतीय साहित्य में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह वैदिक साहित्य को परवर्ती संस्कृत साहित्य से जोड़ने वाली शृंखला है। जैसा कि माक्स म्यूल्लेर ने कहा है इन सूत्रों की शैली का परिचय उसी व्यक्ति को मिल सकता है जिसने इन्हें समझने का प्रयत्न किया है और इनका शाब्दिक अनुवाद तो संभव हो ही नहीं सकता। सूत्र का अर्थ है धागा और सूत्रों में छोटे, चुस्त, अर्थगर्भित वाक्यों को मानों एक धागे में पिरोकर रखा जाता है। संक्षिप्तता इनकी विशेषता है। पश्चिमी विद्वानों ने इन सूत्रों की शैली पर बहुत आलोचनात्मक ढंग से विचार किया है। प्रो० माक्स म्यूल्लेर ने प्राचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास नामक ग्रंथ में सूत्र साहित्य के सन्दर्भ में कहा है :—

"Every doctrine thus propounded, whether Grammar, metre, law, or philosophy, is reduced to a mere skeleton. All the important points and joints of a system are laid open with the greatest precision and clearness, but there is nothing in these works like connection or development of ideas." (Page 37)

कोलेब्रूक ने भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया है :

"Every apparent simplicity of the design vanishes in the perplexity of the structure. The endless pursuit of exceptions and limitations so disjoins the general precepts, that the reader cannot keep in view their intended connection and mutual relation. He wonders in an intricate maze, and the clue to the labyrinth is continually slipping from his hands."

सूत्र रचनाओं में अनेक शताब्दियों के ज्ञान का भण्डार एकत्र किया गया है। वे शताब्दियों के चिन्तन, मनन और अध्ययन के परिणाम हैं और उन्हें जो रूप प्राप्त हुआ है वह भी अनेक शताब्दियों की अनवरत परम्परा का परिणाम है। धर्मसूत्रों को श्रुति के अन्तर्गत नहीं माना जाता है, जैसा कि इसके पूर्ववर्ती साहित्य-संहिता और ब्राह्मण को, और इस प्रकार इसे अपौरुषेय न मानकर पौरुषेय माना जाता है। यदि ब्राह्मणों और परवर्ती काल के मन्त्रों के साथ तुलना करें तो हमें सूत्रों में ऐसी कोई बात नहीं मिलती जिसके कारण उन्हें श्रुति में सम्मिलित न किया

जाय। हाँ, इसका एक ठोस कारण हो सकता है उनकी बाद के समय की रचना। इनके मनुष्यों द्वारा लिखित होने का स्पष्ट ज्ञान है, यथा :

यथैव हि कल्पसूत्रग्रंथानितरांगस्मृतिनिबंधनानि चाध्येत्रध्यापयितारः स्मरन्ति तथाश्वलायनबौधायनापस्तंबकात्यायनप्रभृतीन् ग्रंथकारत्वेन। श्रुति के विपरीत स्मृति में न केवल सूत्र रचनाएं आती हैं अपितु मनु, याज्ञवल्क्य, पाराशर आदि के श्लोक में निबन्ध ग्रंथ भी आते हैं, जिन्हें स्पष्टतः स्मृति कहा जाता है।

स्मृति का आधार भी श्रुति ही है। श्रुति से स्वतन्त्र रूप में स्मृति की प्रामाणिकता नहीं होती। जैसाकि कुमारिल ने कहा है इसके नाम से ही यह तथ्य स्पष्ट है :

पूर्वविज्ञानविषयज्ञानं स्मृतिरिहोच्यते।
पूर्वज्ञानाद्विना तस्याः प्रामाण्यं नावधार्यते॥

इस प्रकार सूत्रों के दो विस्तृत वर्ग किये जाते हैं : श्रौतसूत्र और स्मार्तसूत्र। इनमें श्रौतसूत्र तो वे हैं जिनके स्रोत श्रुति में मिलते हैं और स्मार्त वे हैं जिनका कोई इस प्रकार का स्रोत नहीं है। यह स्मरणीय है कि जिन विषयों का विवेचन सूत्रों—श्रौत, गृह्य, और समयाचारिक—में किया गया है, उन्हीं का प्रतिपादन श्लोकबद्ध स्मृतियों में भी किया गया है। जैसा कि आगे बताया जायगा इनका अन्तर विषयवस्तु का नहीं अपितु उनके काल और उनकी शैली का है।

वैदिक-साहित्य में सूत्र-साहित्य को वेदांग के अन्तर्गत कल्प शीर्षक में रखा जाता है। चरणव्यूह के अनुसार—"शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषम्" ये वेदांग हैं। आपस्तम्ब ने भी इन्हें इस क्रम में गिनाया है—२, ४, ८ "षडंगो वेदः कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं शिक्षा"। कल्प सबसे पूर्ण वेदांग है, इसके अन्तर्गत सूत्रों का विशाल भण्डार समाहित है। ये सूत्र यज्ञ के नियमों के विषय में हैं। इनके महत्त्व के विषय में माक्स म्यूल्लेर ने ठीक ही कहा है—कल्पसूत्रों का वैदिक-साहित्य के इतिहास में अनेक कारणों से महत्त्व है। वे न केवल साहित्य के एक नये युग के द्योतक हैं और भारत के साहित्यिक एवं धार्मिक जीवन के एक नये प्रयोजन के सूचक हैं अपितु उन्होंने अनेक ब्राह्मणों के लोप में योग दिया, जिनका केवल नाम ही ज्ञात है। यज्ञ का सम्पादन केवल वेद द्वारा, केवल कल्पसूत्र द्वारा हो सकता था, किन्तु विना सूत्रों की सहायता के ब्राह्मण या वेद के याज्ञिक विधान का ज्ञान प्राप्त करना कठिन ही नहीं असम्भव था। कुमारिल ने कल्पसूत्र के महत्व के विषय में कहा है—

वेदादृतेऽपि कुर्वन्ति कल्पैः कर्माणि याज्ञिकाः।
न तु कल्पैर्विना केचिन्मंत्रब्राह्मणमात्रकात्॥

कल्पसूत्रों के महत्व के कारण ही इनके रचयिता स्वयं नयी शाखाओं के संस्थापक बन गये और उनकी शाखा में उनके सूत्र का ही प्रधान स्थान हो गया तथा ब्राह्मण और वेद का कुछ सीमा तक महत्त्व कम हो गया। सूत्र यद्यपि

स्मृति थे, श्रुति नहीं तथापि उन्हें स्वाध्याय के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया। विभिन्न चरणों एवं शाखाओं में सूत्र साहित्य के विकास के संबन्ध में यह उल्लेखनीय है कि कभी-कभी कल्पसूत्र शाखाओं के अन्तर्गत भिन्न होते हैं और कभी भिन्न नहीं होते। शाखाओं के भेद का एक कारण उनके स्वाध्याय के भेद हैं और कुछ कारण सूत्र की भिन्नता भी है। अतः कई स्थानों पर जहाँ शाखा का भेद है वहाँ सूत्र का भी भेद है। यही बात महादेव ने हिरण्यकेशिसूत्र की टीका में कही है :—

"तत्र कल्पसूत्रं प्रतिशाखं भिन्नमभिन्नमपि क्वचित् शाखाभेदेऽध्ययनभेदाद्वा सूत्रभेदाद्वा। आश्वलायनीयं कात्यायनीयं च सूत्रं हि भिन्नाध्ययनयोर्द्वयोर्द्वयोः शाखयोरेकैकमेव। तैत्तिरीयके च समाम्नाये समानाध्ययने नाना सूत्राणि। अनेन च सूत्रभेदे शाखाभेदः शाखाभेदे च सूत्रभेद इति परम्पराश्रय इति वाच्यम् ॥"

इसी आचार्य ने अर्वाचीन कहे जाने वाले सूत्रों की प्राचीनता के विषय में भी एक नवीन बात कही है कि वे सूत्र भी जिनके रचयिता अर्वाचीन मालूम पड़ते हैं वस्तुतः शाश्वत हैं और प्राचीन ऋषियों से निःसृत हैं।

"न हि सूत्राणां कर्तृसंबंधिसंज्ञाद्यतनी किन्तु नानाकल्पगतासु तत्तन्नामकर्षिव्यक्तिषु नित्या तत्प्रणीतसूत्रेषु च नित्यां जातिमवलंब्य तिष्ठति यथा पुरुषनामांकितशाखासु संज्ञा।"

कल्पसूत्र मुख्यतः चार प्रकार के हैं :—

१. श्रौतसूत्र—श्रौत अग्नि से होने वाले बड़े यज्ञों का विवेचन करने वाले सूत्र।

२. गृह्यसूत्र—गृह्यअग्नि में होने वाले घरेलू यज्ञ का तथा उपनयन, विवाह आदि संस्कारों का विवेचन करने वाले सूत्र।

३. धर्मसूत्र—चारों आश्रमों, चारों वर्णों तथा उनके धार्मिक आचारों का तथा राजा के कर्तव्यों का वर्णन करने वाले सूत्र।

४. शुल्वसूत्र—यज्ञ में वेदि आदि के निर्माण की विधि का वर्णन करने वाले सूत्र।

धर्मसूत्र

वैदिक साहित्य के एक महत्वपूर्ण अंग हैं—धर्मसूत्र। सामान्यतः वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों के समान धर्मसूत्र भी प्रत्येक शाखा में अलग-अलग होते हैं किन्तु अनेक शाखाओं के विशिष्ट धर्मसूत्र उपलब्ध नहीं हैं। धर्मसूत्र कल्प की परम्परा में आते हैं और कल्प का अर्थ है "वेद में विहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित कल्पना करने वाला शास्त्र"। "कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पनाशास्त्रम्"—विष्णुमित्र, ऋग्वेदप्रातिशाख्य की वर्गद्वयवृत्ति, पृ० १३। इस प्रकार धर्मसूत्रों का अटूट संबन्ध यज्ञ-यागादि बड़े कर्मों, विवाह इत्यादि गृह्य कर्मों का प्रतिपादन करने वाले साहित्य के साथ है और इस कल्प साहित्य के

सन्दर्भ में हमें श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों और धर्मसूत्रों का पारस्परिक संबन्ध ध्यान में रखना चाहिए। अनेक शाखाओं के विशिष्ट सूत्र साथ-साथ मिलते हैं। आश्वलायन, शांखायन तथा मानव शाखा के श्रौतसूत्र उपलब्ध हैं किन्तु इनके धर्मसूत्र का अभाव है। जिन शाखाओं के सभी कल्पसूत्र उपलब्ध हैं उनमें प्रमुख हैं— बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशि। सभी शाखाओं के धर्मसूत्र उपलब्ध न होने का मुख्य कारण यह है कि कई शाखाओं ने पृथक् धर्मसूत्र रचने की आवश्यकता नहीं समझी और उन्होंने अन्य प्रमुख शाखा के धर्मसूत्र को ही अपना लिया। इसी बात का स्पष्ट निर्देश "पूर्वमीमांसासूत्र" १, ३, ११ की तन्त्रवार्तिक व्याख्या में किया गया है, जिसके अनुसार सभी धर्मसूत्र और सभी गृह्यसूत्र सभी आर्यों के लिए प्रामाणिक और मान्य हैं। कल्पसूत्रों के रचयिता अपनी शाखा के नियमों का विधान करते हैं किन्तु दूसरी शाखाओं के विकल्प नियमों का भी अनुसरण करते हैं :

"स्वशाखाविहितैश्चापि शाखान्तरगतान्विधीन्।
कल्पकारा निबध्नन्ति सर्व एव विकल्पितान्॥
सर्वशाखोपसंहारो जैमिनेश्चापि संमतः॥" कुमारिल, १. ३।

किन्तु यह बात भी कही गयी है कि कोई भी सूत्रकार अपनी ही शाखा से सन्तुष्ट न था :

"न च सूत्रकाराणामपि कश्चित् स्वशाखोपसंहारमात्रेणावस्थितः।"

धर्मसूत्रों के निर्माण का काल

धर्मसूत्रों का विशेष महत्व इसलिए भी है कि वे सामाजिक जीवन की रोचक झाँकी प्रस्तुत करते हैं। इन ग्रन्थों के टीकाकारों के उल्लेखों से परिलक्षित होता है कि धर्मसूत्र श्रौत और गृह्यसूत्रों के पहले विद्यमान थे। उदाहरण के लिए श्रौतसूत्र में कहा गया है कि यज्ञोपवीत धारण करने के उपरान्त ही विशिष्ट यज्ञों का सम्पादन किया जा सकता है, किन्तु यज्ञोपवीत धारण या उपनयन की विधि नहीं बतायी गयी है और संकेत दिया गया है कि इसकी विधि धर्मसूत्रों से ज्ञात है। इसी प्रकार मुखशुद्धि (आचान्त) और सन्ध्यावन्दन के नियमों के ज्ञात होने का संकेत है, किन्तु इस तर्क को निर्णयात्मक नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत धर्मसूत्रों को बाद के समय का सिद्ध करने वाले प्रमाण अधिक पुष्ट हैं जिनके अनुसार धर्मसूत्र, श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र के बाद के रचित ठहरते हैं। धर्मसूत्र के अतिरिक्त किसी अन्य सूत्र में शूद्र की स्थिति का स्पष्ट निर्देश नहीं है, धर्मसूत्रों में शूद्र की सामाजिक स्थिति पतित होकर उस अवस्था में पहुँची हुई है जिस अवस्था में वह स्मृतियों में दिखाई पड़ती है।

अनेक स्थलों पर धर्मसूत्र गृह्यसूत्रों के विषय का ही प्रतिपादन करते हैं किन्तु वे स्वतन्त्र रचनाओं के वर्ग में हैं और प्रामाणिकता में गृह्यसूत्रों के समकक्ष हैं। धर्मसूत्रों का रचनाकाल निश्चित करने के लिये जब हम इनके पूर्ववर्ती साहित्य

पर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि निरुक्त ३, ४, ५ में रिक्थाधिकार के प्रश्न पर अनेक मतों का उल्लेख किया गया है :

"अथैतां जाम्या रिक्थप्रतिषेध उदाहरन्ति ज्येष्ठं पुत्रिकाया इत्येके।"

यास्क ने इस विषय में वैदिक अंशों का संकेत तो किया ही है साथ ही उन्होंने एक श्लोक का भी निर्देश किया है जिसमें धर्मसंबन्धी ग्रंथों के यास्क के समय में विद्यमान होने का पता चलता है।

"तदेतदृक्श्लोकाभ्यामभ्युक्तम्। अङ्गादङ्गात्सम्भवसि"...."स जीव शरदः शतम्।

अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः।
मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥

इस प्रकार यदि यह स्वीकारें कि यास्क के पहले धर्मशास्त्र के ग्रन्थ विद्यमान थे तो धर्मसूत्रों की तिथि काफी पहले माननी पड़ेगी। इतना तो निश्चित है कि धर्मसूत्रों में प्राचीनतम—गौतम, बौधायन और आपस्तम्ब के धर्मसूत्र—ईसापूर्व ६०० और ३०० के बीच के समय के हैं। इन सूत्रकारों ने धर्मशास्त्रों के स्पष्ट उल्लेख किये हैं। विशेषतः गौतमधर्मसूत्र में जो प्राचीनतम धर्मसूत्र है, धर्मशास्त्र और धर्मशास्त्रकारों का निर्देश बहुशः हुआ है :

"तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गानि उपवेदाः पुराणम्।" १. ९. २१

"चत्वारश्चतुर्णां पारगा वेदानां प्रागुत्तमास्त्रय आश्रमिणः पृथग्धर्मविदस्त्रय एतान्दशावरान्परिषदित्याचक्षते।" ३. १०. ४७, यहाँ पृ० २९० ।

"त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यान्मनु।" ३. ३. ७ देखें पृ० २१४।

इसी प्रकार कई धर्मशास्त्रकारों के मतों के उल्लेख गौतम ने "इत्येके" कहकर किया है जैसे प्रथम प्रश्न में २. १५ में, २. ५८, ३. १, ४. २१, ७. २३ में। मनु तथा आचार्यों का भी निर्देश है :

"ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य"—१. ३. ३५
वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापकर्षाभ्यां सप्तमे पञ्चमे वाऽऽचार्याः—१. ४. १८

अन्य सूत्रकारों ने भी दूसरे धर्मशास्त्रकारों का सामान्य अभिधान से या नामतः उल्लेख किया है। पतंजलि ने भी "धर्मशास्त्रं च तथा" एवं जैमिनि ने भी "शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात्"—पूर्वमीमांसा ६. ७. ६. वाक्यों द्वारा धर्मसूत्रों का निर्देश किया है और जैसा कि डा० काणे ने इन प्रमाणों से निष्कर्ष निकाला है "धर्मशास्त्र यास्क के पूर्व उपस्थित थे, कम से कम ई० पू० ६००–३०० के पूर्व तो वे थे ही और ईसा की द्वितीय शताब्दी में वे मानव आचार के लिए सबसे बड़े प्रमाण माने जाते थे।"

—धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम खण्ड, अनु० आचार्य काश्यप, पृ० ८।

सूत्र ग्रन्थों और श्लोकबद्ध धर्मग्रन्थों के आपेक्षिक काल के विषय में विद्वानों में मतभेद और विवाद है। प्रो० माक्स म्यूल्लेर एवं दूसरे विद्वान् यथा डा० भण्डारकर यह मानते हैं कि सूत्रों की रचना के बाद अनुष्टुम् छन्द वाले धर्मग्रन्थों

की रचना हुई। डा० काणे को यह मत स्वीकार नहीं है, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों के विषय में हमारा ज्ञान अल्प है तथा श्लोक छन्द वाले कुछ ग्रन्थ जैसे मनुस्मृति कुछ धर्मसूत्रों यथा विष्णु-धर्मसूत्र से प्राचीन है और वशिष्ठधर्मसूत्र के समय का है। इसी प्रकार कुछ बहुत पुराने सूत्रों यथा बौधायनधर्मसूत्र में भी श्लोक उद्धृत हैं। "इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्लोकबद्ध ग्रन्थ धर्मसूत्रों से पूर्व भी विद्यमान थे"—काणे, वही, पृ० ९।

धर्मसूत्रों में प्राचीनतम गौतमधर्मसूत्र है। इसके विषय में आगे विस्तारपूर्वक कहा जायगा। इसका रचनाकाल ६०० वि० पू० और ४०० वि० पू० के बीच माना जाता है।

बौधायन धर्मसूत्र

बौधायन का धर्मसूत्र चार प्रश्नों में विभक्त है, इनमें अन्तिम प्रश्न परिशिष्ट माना जाता है और उसे बाद के समय की रचना मानते हैं। यह आपस्तम्ब धर्मसूत्र से पहले के समय का है। इसमें दो बार गौतम के नाम का तथा एक बार उनके धर्मसूत्र का उल्लेख आता है। बौधायन ने अनेक आचार्यों के नाम गिनाये हैं तथा उपनिषदों के उद्धरण दिये हैं। कुमारिल ने बौधायन को आपस्तम्ब से बाद के समय का माना है। बौधायन का काल ई० पू० २००–५०० के बीच माना जाता है।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र

इस धर्मसूत्र में दो प्रश्न हैं जिनमें प्रत्येक में ग्यारह पटल हैं। सभी सूत्रों में यह सूत्र छोटा है और इसकी शैली बड़ी चुस्त है, भाषा भी पाणिनि से बहुत पहले की है। अधिकांश सूत्र गद्य में हैं किन्तु यत्र-तत्र श्लोक भी हैं। इसका संबन्ध पूर्वमीमांसा से दिखाई पड़ता है। यह बहुत प्रामाणिक माना जाता रहा है। इसका समय ६००–३०० ई० पू० स्वीकार किया गया है।

हिरण्यकेशि धर्मसूत्र

हिरण्यकेशिकल्प का २६ वां और २७ वां प्रश्न है। प्रायः इसे स्वतन्त्र धर्मसूत्र नहीं माना जाता, क्योंकि इसमें आपस्तम्ब धर्मसूत्र से सैकड़ों सूत्र लिये गये हैं।

वसिष्ठ धर्मसूत्र

इसके कई संस्करण हैं। जीवानन्द के संस्करण में २० अध्याय हैं तथा २१ वें अध्याय का कुछ अंश है। इसके अतिरिक्त इसके ३० अध्यायों, ६ अध्यायों एवं २१ अध्यायों के अलग-अलग संस्करण भी हैं। इससे पता चलता है कि यह कालान्तर में परिबृंहित, परिवर्धित और परिवर्तित होता रहा है। इसका समय ३००–२०० ई० पू० है।

विष्णु धर्मसूत्र

इस सूत्र में १०० अध्याय हैं, किन्तु सूत्र छोटे हैं। पहला अध्याय और अन्त के दो अध्याय पद्य में हैं। शेष में गद्य है या गद्य और पद्य का मिश्रण। इसका संबन्ध यजुर्वेद की कठ शाखा से बताया गया है। इसमें भिन्न-भिन्न कालों के अंश दृष्टिगोचर होते हैं, जिससे इसका काल निश्चित करना कठिन होता है। इसके आरम्भ के अंशों का समय ३००–१०० ई० पू० के बीच माना जा सकता है। इसमें भगवद्गीता, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति से बहुत सी बातें ली गयी हैं।

हारीत धर्मसूत्र

इस सूत्र का ज्ञान उद्धरणों से मिलता है। अनेक धर्मशास्त्रकारों ने इनका उल्लेख किया है। इसमें गद्य के साथ अनुष्टुप् एवं त्रिष्टुप् छन्द का प्रयोग है। हारीत का संबन्ध कृष्णयजुर्वेद से है, किन्तु उन्होंने सभी वेदों से उद्धरण लिये हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि वे किसी एक वेद से संबद्ध नहीं थे।

शंखलिखित धर्मसूत्र

यह शुक्लयजुर्वेद की वाजसनेयि शाखा का धर्मसूत्र था। 'तन्त्रवार्तिक' में इस सूत्र के अनुष्टुप् श्लोकों का उद्धरण है। याज्ञवल्क्य और पराशर ने इनका उल्लेख किया है। "जीवानन्द के स्मृतिसंग्रह में इस धर्मसूत्र के १८ अध्याय एवं शंखस्मृति के ३३० तथा लिखितस्मृति के ९३ श्लोक पाये जाते हैं। यह धर्मसूत्र गौतम एवं आपस्तम्ब के बाद के काल का है और इसकी रचना का समय ई० पू० ३०० से ई० सन् १०० के बीच है।

अन्य सूत्र ग्रन्थ

अनेक धर्मसूत्र धर्मविषयक ग्रन्थों में विकीर्ण हैं। उनमें इन आचार्यों के सूत्र ग्रन्थ गिनाये जाते हैं—अत्रि, उशना, कण्व एवं काण्व, कश्यप एवं काश्यप, गार्ग्य, च्यवन, जातूकर्ण्य, देवल, पैठीनसि, बुध, बृहस्पति, भरद्वाज एवं भारद्वाज, शातातप, सुमन्तु आदि।

धर्मसूत्रों का वर्ण्यविषय

धर्मसूत्रों का मुख्य वर्ण्यविषय है "आचार, विधि-नियम, एवं क्रियासंस्कार"। ये इन्हीं का विधिवत् विवेचन करते हैं। निश्चय ही, धर्मसूत्र कभी-कभी गृह्यसूत्रों के प्रतिपाद्य विषयों के भी क्षेत्र में पहुँच जाते हैं, किन्तु ऐसा कम स्थलों पर हुआ है। गृह्यसूत्रों का ध्येय गृह्ययज्ञ, प्रातः सायंपूजन, पके हुए भोजन की बलि, वार्षिक यज्ञ, विवाह, पुंसवन, जातकर्म, उपनयन एवं दूसरे संस्कार, छात्रों एवं स्नातकों के नियम, मधुपर्क और श्राद्धकर्म का वर्णन करना तथा इनकी विधियों को स्पष्ट करना है। इस प्रकार गृह्यसूत्रों का स्पष्ट संबन्ध घरेलू जीवन तथा व्यक्तिगत जीवन से है। ये कर्तव्यों (duties) और कानून (laws) को अपना विषय नहीं बनाते। इनके विपरीत धर्मसूत्र मनुष्य को समाज में लाकर खड़ा कर देता

है जहाँ उसे व्यावहारिक जगत् में दूसरों के साथ रहते हुए अपने आचार-व्यवहार को नियमित और संयमित करना है, उसे कुछ कर्तव्यों एवं दायित्वों का पालन करना होता है, कुछ अधिकार प्राप्त करने होते हैं और अपने अपराधों के लिए दण्ड भोगने होते हैं। इस प्रकार धर्मसूत्रों का वातावरण अधिक सामाजिक और नैतिक है। जैसा हम कह आये हैं धर्मसूत्रों में गृह्यसूत्रों के कुछ विषयों पर भी विचार किया गया है जैसे विवाह, संस्कार, मधुपर्क, स्नातक का जीवन, श्राद्धकर्म आदि। संक्षेप में धर्मसूत्रों के वर्ण्यविषय की सूची इस प्रकार दी जा सकती है :—धर्म और उसके उपादान, चारों वर्णों के आचार और कर्तव्य एवं जीवन-वृत्तियाँ, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यास आश्रमों के आचार, उपजातियाँ और मिश्रित जातियाँ, सपिण्ड और सगोत्र, पाप और उनके प्रायश्चित्त एवं व्रत, अशौच और उससे शुद्धि, ऋण, ब्याज, साक्षी और न्यायव्यवहार, अपराध और उनके दण्ड, राजा और राजा के कर्तव्य, स्त्री के कर्तव्य, पुत्र और दत्तक पुत्र, उत्तराधिकार, स्त्रीधन और सम्पत्ति का विभाजन।

धर्मसूत्र और स्मृतियाँ

'स्मृति' शब्द का प्रयोग श्रुति अर्थात् वेद के ईश्वरप्रकाशित एवं ऋषिदृष्ट वाङ्मय से भिन्न साहित्य के लिए हुआ है। श्रुति और स्मृति के विषय में आगे धर्म के स्वरूप का विवेचन करते समय विचार किया गया है। उपर्युक्त अर्थ के अनुसार धर्मसूत्र भी स्मृति ग्रन्थ है :

"श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।" मनु० २. १०

किन्तु संकुचित अर्थ में स्मृति से धर्मशास्त्र की उन रचनाओं का तात्पर्य है जो प्रायः श्लोकों में हैं और उन्हीं विषयों का विवेचन करती हैं जिनका प्रतिपादन धर्मसूत्रों में किया गया है। इन स्मृतियों में अग्रणी हैं—मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियाँ। "मनुस्मृति" सबसे प्राचीन है और ईसा से कई सौ वर्ष पहले रची गयी थी। अन्य स्मृतियाँ ४०० से १००० ई० के बीच की हैं। स्मृतिकारों की संख्या विस्तृत है, मुख्य स्मृतिकार १८ हैं, इनके अतिरिक्त २१ अन्य स्मृतिकार हैं जिनके नाम वीरमित्रोदय ने गिनाये हैं।

डॉ० काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के प्रमुख लक्षण स्पष्टतः निर्दिष्ट किये हैं, जिन्हें यहाँ साभार उल्लिखित करना असंगत नहीं होगा।

१. अनेक धर्मसूत्र किसी चरण के कल्प के अंग हैं, अथवा उनका गहरा संबन्ध गृह्यसूत्रों से है।

२. धर्मसूत्रों में कभी-कभी अपने चरण तथा अपने वेद के उद्धरण विशेषतः दिये गये हैं।

३. प्राचीन धर्मसूत्रों के रचयिताओं को ऋषियों का ओहदा प्राप्त नहीं है और न वे अपने को मानवीय धरातल से ऊपर उठे हुए अलौकिक बताते हैं, इसके

विपरीत मनु और याज्ञवल्क्य जैसे स्मृतिकारों को मानव से ऊपर दैवी शक्ति से संपन्न दर्शाया गया है।

४. धर्मसूत्र प्रायः गद्य में हैं या कहीं-कहीं मिश्रित गद्य और पद्य में हैं, किन्तु स्मृतियाँ श्लोकों में या पद्यबद्ध हैं।

५. भाषा की दृष्टि से धर्मसूत्र स्मृतियों के पहले के हैं और स्मृतियों की भाषा अपेक्षाकृत अर्वाचीन है।

६. विषयवस्तु के विन्यास की दृष्टि से भी उनमें भेद है। धर्मसूत्रों में विषय की व्यवस्था क्रम या तारतम्य का अनुसरण नहीं करती, किन्तु स्मृतियाँ अधिक व्यवस्थित और सुगठित हैं, उनमें विषयवस्तु मुख्यतः तीन शीर्षकों में विभक्त है— आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त।

७. बहुत बड़ी संख्या में धर्मसूत्र अधिकतम स्मृतियों से प्राचीन हैं।

गौतम धर्मसूत्र

सभी धर्मसूत्रों में गौतम धर्मसूत्र सबसे प्राचीन है। यह केवल गद्य में है तथा इसमें श्लोक का कोई उद्धरण नहीं दिया गया है, जबकि दूसरे धर्मसूत्रों में श्लोक का उद्धरण आ जाता है। इसकी प्राचीनता के कई प्रमाण हैं :

१. सर्वप्रथम इसका उल्लेख बौधायनधर्मसूत्र में कई जगह किया गया है। यहाँ तक कि गौतमधर्मसूत्र का उन्नीसवां अध्याय अल्प परिवर्तित रूप में बौधायन-धर्मसूत्र में मिलता है और इन दोनों में बहुत से सूत्र एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। अनेक प्रमाणों से यह बात सिद्ध है कि बौधायन ने ही गौतमधर्मसूत्र से सामग्री ग्रहण की है।

२. इसी प्रकार वसिष्ठधर्मसूत्र में भी गौतमधर्मसूत्र से सामग्री ली गयी है। इसमें दो स्थानों ४. ३४ एवं ४. ३६ में गौतमधर्मसूत्र का उद्धरण है। इसके अतिरिक्त गौतमधर्मसूत्र का उन्नीसवां अध्याय वसिष्ठधर्मसूत्र में बाइसवें अध्याय के रूप में आता है। वसिष्ठधर्मसूत्र में कई सूत्र ठीक गौतमधर्मसूत्र में आये हुए सूत्रों के समान हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि गौतमधर्मसूत्र वसिष्ठधर्मसूत्र से पहले का है।

३. मनुस्मृति ३. १६ में गौतम का उल्लेख किया गया है और उन्हें उतथ्य का पुत्र बताया गया है।

४. याज्ञवल्क्यस्मृति १. ५ में उन्हें धर्मशास्त्रकारों में गिनाया गया है : "पराशरव्यासशंखलिखिता दक्षगौतमौ"।

५. अपरार्क ने 'भविष्यपुराण' से यह श्लोक उद्धृत किया है :

"प्रतिषेधः सुरापाने मद्यस्य च नराधिप।
द्विजोत्तमानामेवोक्तः सततं गौतमादिभिः॥"

और यह सुरापान के विषय में ठीक गौतम के सूत्र के अनुरूप है।

६. मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक ने गौतम के ३. ६. २ सूत्र को भी भविष्य-पुराण का बताया है।

७. 'तन्त्रवार्तिक' के लेखक कुमारिल ने गौतम के अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं।

८. शंकराचार्य ने अपने वेदान्तसूत्रभाष्य ३. १. ८ में गौतम के २. २. २९ को तथा १. ३. ३८ में २. ३. ४ को उद्धृत किया है।

९. याज्ञवल्क्यस्मृति के टीकाकार विश्वरूप ने गौतम के कई सूत्रों का निर्देश किया है।

१०. मनुस्मृति के भाष्यकार मेधातिथि ने गौतम का उद्धरण अनेक स्थलों पर दिया है।

११. गौतमधर्मसूत्र में हिन्दूधर्म पर बौद्धों द्वारा किये गये आक्षेपों की ओर संकेत नहीं है।

इन सब उल्लेखों से गौतमधर्मसूत्र के काल के विषय में यह निष्कर्ष निकलता है कि यह सूत्र निश्चित रूप से उपर्युक्त सभी रचनाओं से पहले का है। गौतमधर्मसूत्र का समय यास्क के 'निरुक्त' के बाद आता है और जैसा कि म० म० काणे ने कहा है गौतम धर्मसूत्र की रचना के समय "पाणिनि का व्याकरण या तो था ही नहीं और यदि था तो वह तब तक अपनी महत्ता नहीं स्थापित कर सका था।" इस प्रकार यह निश्चित होता है कि गौतमधर्मसूत्र ईसापूर्व ४००–६०० के पहले रचा जा चुका था।

गौतम धर्मसूत्र में अन्य साहित्य का उल्लेख

गौतम धर्मसूत्र सभी धर्मसूत्रों में प्राचीनतम है इसका एक प्रमाण यह भी है कि इसमें किसी अन्य धर्मसूत्र का या धर्मसूत्रकार का निर्देश नामतः नहीं है किन्तु इसके पहले धर्मशास्त्र और उसके रचयिता विद्यमान थे इस बात की ओर बहुशः उल्लेख इसमें मिलता है। राजा के व्यवहार के साधन बताते समय २. २. १९ में कहा गया है—

"तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्"।

इसी प्रकार त्रयी के साथ आन्वीक्षिकी का भी उल्लेख है :—

"त्रय्यामान्वीक्षिक्यां वाऽभिविनीतः" २. २. ३

अन्य धर्माचार्यों में केवल मनु के मत का महापातकों का वर्णन करते समय उल्लेख किया गया है। 'एके' 'इत्येके' 'एकेषाम्' शब्दों द्वारा उस समय के तथा पूर्ववर्ती धर्मशास्त्रकारों के मतों का उल्लेख किया गया है।

वैदिक संहिता एवं ब्राह्मण साहित्य का उल्लेख तो किया ही गया है, उपनिषद्, वेदान्त आदि का भी हवाला गौतमधर्मसूत्र में कई जगह मिलता है। यथा, ३. १. १२।

"उपनिषदो वेदान्तः सर्वच्छन्दःसु संहिता मधून्यघमर्षणमथर्वशिरो रुद्राः पुरुषसूक्तं राजतरौहिणे सामनी बृहद्रथन्तरे पुरुषगतिर्महानाम्न्यो महावैराजं महा-दिवाकीर्त्यं ज्येष्ठसाम्नामन्यतमद् बहिष्पवमानं कूष्माण्डानि पावमान्यः सावित्री चेति पावमाननानि।"

इसी प्रकार वेदवेदांग और इतिहास पुराण का उल्लेख बहुश्रुत व्यक्ति का लक्षण बताते समय किया गया है :

"लोकवेदवेदाङ्गवित्" १. ८. ५।
"वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशलः" १. ८. ६।

गौतमधर्मसूत्र ३. २. २८ में "दण्डो दमनादित्याहुः" कहकर निरुक्त ११. ३ की ओर भी संकेत किया गया है। इस प्रकार गौतमधर्मसूत्र में इतर साहित्य की भी पर्याप्त चर्चा है।

गौतमधर्मसूत्र का सामवेद से संबन्ध

गौतमधर्मसूत्र का सामवेद से घनिष्ठ संबन्ध है इस विषय में कोई विवाद नहीं है। इस सूत्र का अध्ययन विशेषतः सामवेद के अनुयायी करते थे। चरणव्यूह की टीका के अनुसार गौतम सामवेद की राणायनीशाखा के एक विभाग के आचार्य या शाखा के संस्थापक थे। सामवेद के श्रौतसूत्रों (लाट्यायन श्रौतसूत्र १. ३. ३, १. ४. १७ तथा द्राह्यायण श्रौतसूत्र १. ४. १७, ९. ३. १५) में गौतम का उल्लेख है। सामवेद के गृह्यसूत्र गोभिलगृह्यसूत्र ३. १०. ६ में भी गौतमधर्मसूत्र के नियम को प्रामाणिक माना गया है।

इन उल्लेखों के अतिरिक्त गौतमधर्मसूत्र का सामवेद से गहरा संबन्ध इस बात से भी प्रमाणित होता है कि इस सूत्र में सामवेद के अनेक विषय ग्रहण किये गये हैं। उदाहरण के लिए गौतमधर्मसूत्र के अध्याय २६ में कुछ सूत्र ऐसे हैं जो शब्दशः सामवेद के सामविधान ब्राह्मण से उद्धृत किये गये हैं। इसी प्रकार गौतमधर्मसूत्र के तृतीय प्रश्न, प्रथम अध्याय के १२ वें सूत्र में सामवेद के ९ मन्त्रों का निर्देश किया गया है। ये मन्त्र किसी अन्य शाखा के धर्मसूत्र में नहीं उल्लिखित हैं जिससे गौतमधर्मसूत्र का सामवेद के प्रति पक्षपात स्पष्टतः दिखाई पड़ता है। गौतमधर्मसूत्र में प्रथम अध्याय के सूत्र ५२ में पाँच व्याहृतियाँ गिनायी गयी हैं और ये व्याहृति साम से उद्धृत हैं, गौतमधर्मसूत्र के अतिरिक्त अन्य शाखा के सूत्रों में पाँच के स्थान पर तीन या सात व्याहृतियों का ही उल्लेख है। गौतमधर्मसूत्र की यह विशेषता भी सामवेद के साथ इसका घनिष्ठ संबन्ध प्रकट करती है।

अतः यह प्रतीत होता है कि गौतम की शाखा का संबन्ध सामवेद से था, यद्यपि वैदिक काल की इस प्राचीन शाखा के विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्राचीन साहित्य में क्षेपकों के लिए पर्याप्त अवसर था और किसी ग्रन्थ का विशुद्ध रूप निर्धारित करना असंभव सा ही है।

धर्मसूत्र के रचयिता-गौतम

गौतमधर्मसूत्र के रचयिता का नाम सूत्र के नाम के अनुसार गौतम है। ऊपर यह निर्देश किया जा चुका है कि सामवेद के लाट्यायन श्रौतसूत्र और द्राह्यायण श्रौतसूत्र में गौतम का उल्लेख प्रायः आया है। इसी प्रकार गोभिल गृह्यसूत्र में भी गौतम को प्रमाण माना गया है। वस्तुतः गौतम नाम एक जातिगत नाम है और अनेक व्यक्तियों के नाम के साथ इसका प्रयोग उपलब्ध होता है, उदाहरण के लिए कठोपनिषद् २. ४. ५५ और २. ५. ६ में इसका प्रयोग नचिकेता के साथ तथा उसी उपनिषद् में १. १. १० में इस नाम का प्रयोग उसके पिता के लिए हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् ४. ४. ३ में हारिद्रुम गौतम नाम के एक आचार्य का नाम आता है।

कुछ अन्य धर्मग्रन्थों के साथ भी गौतम नाम जुड़ा हुआ मिलता है। जैसा कि म० म० काणे ने बताया है मिताक्षरा, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि, माधव आदि ने किसी श्लोक-गौतम के उद्धरण दिये हैं। वृद्ध-गौतम नाम के धर्मशास्त्र का उल्लेख अपरार्क, हेमाद्रि तथा माधव ने किया है। दत्तकमीमांसा में वृद्ध गौतम के अतिरिक्त बृहद् गौतम से उद्धरण दिया गया है। किन्तु गौतम नाम की ये रचनायें गौतमधर्मसूत्र से बहुत बाद के समय की हैं और गौतम धर्मसूत्र से इनमें काफी अन्तर है।

सामवेद के वंशब्राह्मण में गौतम गोत्र नाम वाले चार सामवेदी आचार्यों के नाम आये हैं :—गातृ गौतम, सुमन्त्र बाभ्रव्य गौतम, संकर गौतम तथा स्थविर गौतम। श्रौतसूत्रों और गृह्यसूत्रों में गौतम तथा स्थविर गौतम के मत उद्धृत किये गये हैं।

गौतमधर्मसूत्र के संस्करण और टीकाकार

गौतमधर्मसूत्र का कई बार प्रकाशन हुआ है। डा० स्टेन्जलर ने इसका सम्पादन दि इंस्टीट्यूट्स आफ गौतम नाम से लन्दन से १८७६ में किया और कलकत्ता से भी १८७६ में एक संस्करण प्रकाशित हुआ। आनन्दाश्रम ग्रन्थावली के अन्तर्गत इसका संस्करण हरदत्त की 'मिताक्षरा' टीका के साथ १९१० में प्रकाशित हुआ। इसका एक संस्करण मैसूर से भी निकला है। मैसूर संस्करण में मस्करी का भाष्य है। डा० ब्यूह्लेर कृत अंग्रेजी अनुवाद 'सेक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट' सीरीज़ की दूसरी जिल्द में प्रकाशित है।

इस धर्मसूत्र के टीकाकारों में मुख्य हैं हरदत्त और मस्करी। हरदत्त का समय ११००-१२०० के बीच माना गया है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य टीकाकारों का भी उल्लेख पाया जाता है। अद्भुत सागर के लेखक अनिरुद्ध ने तथा भाष्यकार विश्वरूप ने गौतमधर्मसूत्र पर असहाय नाम के आचार्य की टीका का भी निर्देश किया है।

गौतमधर्मसूत्र में वर्णित विषय

टीकाकार हरदत्त के अनुसार गौतमधर्मसूत्र में कुल २८ अध्याय हैं। कलकत्ता से प्रकाशित संस्करण में एक अध्याय 'कर्मविपाक' १९ वें अध्याय के बाद आता है। आनन्दाश्रम ग्रन्थावली से प्रकाशित इस ग्रन्थ में तथा वर्तमान संस्करण में भी इस धर्मसूत्र का विभाजन तीन प्रश्नों के अन्तर्गत है और प्रथम प्रश्न में ९ अध्याय, द्वितीय प्रश्न में ९ अध्याय तथा तृतीय प्रश्न में १० अध्याय हैं। इसमें वर्णित विषयों की सूची संक्षेप में इस क्रम से है।

प्रथम प्रश्न

प्रथम अध्याय-धर्म, उपनयन, शुद्धिप्रकरण, छात्र के नियम। द्वितीय अध्याय-ब्रह्मचारी के नियम, आचरण और निषेध। तृतीय अध्याय—गृहस्थाश्रम, संन्यास और वानप्रस्थ के नियम। चतुर्थ अध्याय—गृहस्थ का धर्म, विवाह और पुत्रों का प्रकार। पंचम अध्याय—पंच महायज्ञ और मधुपर्क। षष्ठ अध्याय—अभिवादन के नियम, और श्रेष्ठ व्यक्तियों के प्रति आचरण। सप्तम अध्याय—गुरु सेवा और ब्राह्मण के कर्तव्य। अष्टम अध्याय—राजा और बहुश्रुत संस्कार। नवम अध्याय—व्रत और आचरण के दैनिक नियम।

द्वितीय प्रश्न

प्रथम अध्याय—चारों वर्णों के कर्तव्य। द्वितीय अध्याय—राजा के कर्तव्य और धर्मनिर्णय की प्रक्रिया। तृतीय अध्याय—अपराध और उनके दण्ड, ब्याज, ऋण। चतुर्थ अध्याय—विवाद और उनके निर्णय, साक्षी और व्यवहार, सत्यभाषण, न्यायकर्ता। पंचम अध्याय—मृत्यु और जन्मविषयक अशौच। षष्ठ अध्याय—श्राद्धकर्म। सप्तम अध्याय—वेदाध्ययन की विधि और अनध्याय। अष्टम अध्याय—भक्ष्य और पेय पदार्थ। नवम अध्याय—स्त्री के धर्म।

तृतीय प्रश्न

प्रथम अध्याय—प्रायश्चित्त। द्वितीय अध्याय—त्याज्य व्यक्ति। तृतीय अध्याय-पातक और महापातक। चतुर्थ अध्याय से सप्तम अध्याय—प्रायश्चित्त। अष्टम अध्याय—कृच्छ्र व्रत। नवम अध्याय—चान्द्रायण व्रत और दशम अध्याय—सम्पत्ति का विभाजन।

धर्म

धर्म शब्द का वास्तविक अर्थ जानने के लिए जब हम अपने प्राचीनतम साहित्य 'ऋग्वेद' का अवलोकन करते हैं तो हम देखते हैं कि इस शब्द का प्रयोग विशेषण या संज्ञा शब्द के रूप में हुआ है। प्रायः यह शब्द 'धर्मन्' है और इसका प्रयोग नपुंसकलिंग में हुआ है। 'धर्मन्' शब्द का प्रयोग निम्नलिखित स्थलों पर हुआ है—ऋग्वेद—१. २२. १८, १. १६४. ४३, ५०, ३. ३. १, ३. १७.

१, ३. ६०. ६, ५. २६. ६, ५. ६३. ७, ५. ७२. २। अथर्ववेद में १४. १. ५१ वाजसनेयिसंहिता में १०. २९ और धर्म शब्द का प्रयोग अथर्ववेद में ११. ७: १७ और १२. ५. ७, १. ३. १ तैत्तिरीयसंहिता ३. ५. २. २ वाजसनेयिसंहिता १५. ६, २०. ९. ३०. ६। अधिकतर वैदिक साहित्य में धर्म का अर्थ है 'धार्मिक विधि' 'धार्मिक क्रिया', 'निश्चित नियम', 'आचरण नियम' जैसा कि इन प्रयोगों से स्पष्ट है :

"पितुं न स्तोषं महो धर्माणं तविषीम्" १. १८७. १
"इममञ्जस्मामुभये अकृण्वत धर्माणमग्निं विदथस्य साधनम्"
"आ प्र रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।"
"धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।" ५. ६३. ७
"द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा।" ६. ७०. १
"अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः।" ७. ८९. ५
"सनता धर्माणि" ३. ३. १
"प्रथमा धर्मा" ३. १७. १
"तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" १०. ९०. १६

अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र में धर्म का अर्थ 'पुण्य फल' प्रतीत होता है :—

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं जले ॥ ९. ९. १७।

किन्तु आगे चलकर धर्म वर्णाश्रम की विधियों के समीप आ जाता है। उपनिषद् काल में धर्म द्वारा वर्ण और आश्रमों के आचारों एवं संस्कारों का स्पष्ट बोध होता था यह तथ्य छान्दोग्योपनिषद २. २३ से सिद्ध होता है—

"त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवेति द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यश्लोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥"

धर्म को जिस रूप में धर्मशास्त्रों में—धर्मसूत्रों और स्मृतियों में वर्णित किया गया है उसके अन्तर्गत चार प्रकार के धार्मिक नियमों का निर्देश किया जा सकता हैं : १. वर्णधर्म, २. आश्रमधर्म, ३. नैमित्तिकधर्म जैसे प्रायश्चित्त, ४. गुणधर्म, राजा के कर्त्तव्य।

धर्म की कुछ परिभाषाएं बहुत प्रचलित हैं जिनका यहाँ उल्लेख करना उचित होगा।

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" अर्थात् वेद में बताये गये प्रेरक नियम और लक्षण धर्म हैं, उन नियमों का आचरण ही धर्म का आचरण है।

—जैमिनि, पूर्वमीमांसासूत्र १. १. २

वैशेषिकसूत्र में धर्म उसे माना गया है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि होती है—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः"।

श्रुतिप्रमाणको धर्मः हारीत, कुल्लूक, मनु० २. १ की टीका। श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः—श्रुति और स्मृति द्वारा विहित आचरण धर्म है।—वसिष्ठधर्मसूत्र १. ४. ६।

इन कतिपय परिभाषाओं से यही ज्ञात होता है कि भारतीय धर्म का मूल है वेद और स्मृति, और इनको प्रमाण मानकर विहित नियम या आचार ही धर्म हैं। धर्म के इन उपादानों और आधारों पर विचार करना आवश्यक है।

धर्म के उपादान—

धर्म के उपादानों या स्रोतों का उल्लेख प्रायः नियमपूर्वक प्रत्येक धर्मसूत्र और स्मृति में किया गया है। गौतमधर्मसूत्र में यह स्पष्टतः कहा गया है कि वेद धर्म का मूल है—"वेदो धर्ममूलम्। तद्विदा" च स्मृतिशीले। आपस्तम्बधर्मसूत्र—"धर्मसमयः प्रमाणं वेदाश्च" १. १. १. २। धर्म को जानने वाले वेद का मर्म समझने वाले व्यक्तियों का मत ही वेद का प्रमाण है। इसी प्रकार वसिष्ठधर्मसूत्र में भी, जिसकी धर्म की परिभाषा का ऊपर उल्लेख किया गया है, श्रुति और स्मृति द्वारा विहित आचरण-नियमों को धर्म माना गया है तथा उसके अभाव में शिष्ट जनों के आचार को प्रमाण माना गया है—

"श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्। शिष्टः पुनरकामात्मा।"

इसी प्रकार सुस्मृति में वेद, स्मृति, वेदज्ञों के आचरण के अलावा अपनी आत्मा की तुष्टि को भी धर्म का मूल कहा गया है—

" वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥" २. ६

याज्ञवल्क्यस्मृति' में उपर्युक्त के साथ-साथ उचित संकल्प से उत्पन्न अभिलाषा या इच्छा को भी धर्म का मूल स्वीकारा गया है :—

"श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥ १. ७

इस प्रकार धर्म के उपादान, स्रोत, मूल या प्रमाण स्वयं धर्मशास्त्रों की दृष्टि में ये हैं : १—वेद, २—वेद से भिन्न परम्परागत ज्ञान अर्थात् स्मृति, ३—श्रेष्ठ लोगों के आचार-विचार, ४—अपनी विवेकबुद्धि से स्वयं को रुचिकर लगनेवाला आचरण और उचित संकल्प से उत्पन्न इच्छा।

वेद और धर्मशास्त्रों पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मशास्त्रों में जो कुछ भी कहा गया है उसका आधार वेद ही है और वेद की मान्यताओं के अनुसार ही धर्मसूत्रों के नियमों की रचना हुई। वेद की संहिताओं में और ब्राह्मण-ग्रन्थों में धर्मसूत्रों के विषयों का प्रसंगतः उल्लेख प्रचुर मात्रा में मिलता है, जैसे विवाह, उत्तराधिकार, श्राद्ध, स्त्री की स्थिति आदि। संहिताओं और ब्राह्मणों में

जिस समाज और सभ्यता का दर्शन होता है वह धर्मशास्त्र की व्यवस्थाओं की व्यावहारिक पृष्ठभूमि है। आख्यानों में भी नियमों का पोषण हुआ दिखायी पड़ता है, जिनका उपदेश धर्मशास्त्रों ने दिया है। ब्रह्मचर्य का महत्व, उत्तराधिकार और सम्पत्ति का विभाजन, यज्ञ और अतिथिसत्कार ऐसे ही विषय हैं, जिन पर धर्मसूत्रों से पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य में भी अनेक स्थलों पर विचार हुआ है। जैसा कि म० म० काणे ने कहा है : "कालान्तर में धर्मशास्त्रों में जो विधियाँ बतलायी गयीं, उनका मूल वैदिक साहित्य में अक्षुण्ण रूप में पाया जाता है। धर्मशास्त्रों ने वेद को जो धर्म का मूल कहा है वह उचित ही है।"—धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ० ७, अनु० अ० काश्यप।

भारतीय धर्म का स्वरूप

भारतीय संस्कृति और विशेषतः धर्म पर भिन्न-भिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से दृष्टिपात किया है। कुछ ने इसके मर्म को समझा है तो कुछ ने इसके वास्तविक तत्व को जाने बिना अपनी आलोचनात्मक प्रतिभा का दुरुपयोग मात्र किया है। वस्तुतः भारतीय धर्म या हिन्दू धर्म को किसी एक विशेष शब्द द्वारा नहीं व्यक्त किया जा सकता। जान मेकेंजी ने यह परामर्श ठीक ही दिया है कि धर्म में 'रिलीजन', 'वर्च्यू', ला, और ड्यूटी, अंग्रेजी के इन चारों पदों का अर्थ समाहित समझना चाहिए। 'हिन्दू एथिक्स' नामक पुस्तक के पृ० ३८ पर वे कहते हैं :

"In India in those days no clear distinction was drawn between moral and religious duty, usage, customary observance and law and dharma was the term which was applied to the whole complex of forms of conduct that were settled or established."

परन्तु मेकेंजी साहब का यह कथन भ्रमपूर्ण है कि हिन्दू ने धर्म को अन्य सभी व्यवस्थित नियमों से पृथक् नहीं किया, मानो ऐसा अज्ञानवश किया गया हो। वस्तुस्थिति तो यह है कि हिन्दू धर्म में धर्म बहुत व्यापक रहा है। वह जीवन के विविध पक्षों के पार्थक्य को ज्ञानपूर्वक समाप्त करता है। समन्वय उसका मूलमन्त्र है। मानवजीवन के चार पुरुषार्थ समन्वित होकर ही उपयोगी बनते हैं अलग-अलग नहीं। हिन्दू धर्म कोरा आदर्शवादी नहीं है, अपितु वह व्यावहारिक जीवन में वास्तविक और आदर्श का समन्वय करता है। यह धर्म मनुष्य से भिन्न नहीं है, अलग नहीं है। यह उसकी मौलिक अहंता है, जिसके अभाव में मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता। पशु में और धर्महीन मनुष्य में कोई भेद नहीं रह जाता, अतः भारतीय धर्म मनुष्य के समूचे व्यक्तित्व से सम्बद्ध है। वह उसके छोटे-छोटे कार्यों पर भी दृष्टिपात करता है और उनका नियमन करता है। मनुष्य को प्रत्येक स्थिति और अवस्था के परिप्रेक्ष्य में देखता है—सुख में, दुःख में, समृद्धि में और विपत्ति में भी। उसके सामाजिक, पारिवारिक, वैयक्तिक और पारलौकिक जीवन

पर विचार करता है। भारतीय धर्म मनुष्य से संबद्ध सभी बातों पर इस प्रकार दृष्टिपात करता है और उन्हें इस प्रकार व्याप्त करता है कि सम्पूर्ण जीवन धर्ममय प्रतीत होता है। संस्कारों की शृङ्खला रेलगाड़ी की पटरी की तरह बनायी गयी है, जिससे जीवन की गाड़ी उतरने पर अनर्थ ही होता है। मानवजीवन की अवधि में भिन्न-भिन्न अवस्था में उस अवस्था के उपयुक्त आश्रमों का विधान संस्कारों की व्यवस्था को और भी पुष्टि प्रदान करता है।

धर्म का जीवन के साथ तादात्म्य इतना स्पष्ट है कि पाश्चात्य विद्वान् भी भारतीय धर्म के इस अनूठे स्वरूप से प्रभावित होते हैं। प्रो० माक्स म्यूल्लेर ने इस रूप को सही ढंग से समझा है और अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है: "प्राचीन भारतवासियों के लिए सबसे पहले धर्म अनेक विषयों के बीच एक रुचि का विषय नहीं था, यह सबका आत्मार्पण करने वाली रुचि थी। इसके अन्तर्गत न केवल पूजा और प्रार्थना आती थी, परन्तु वह सब भी आता था जिसे हम दर्शन, नैतिकता, कानून और शासन कहते हैं—सभी धर्म से व्याप्त थे। उनका सम्पूर्ण जीवन उनके लिए एक धर्म था और दूसरी चीजें मानो इस जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के लिए निर्मित सुविधा मात्र थीं।"

—ह्वाट कैन इण्डिया टीच अस, पृ० १०७।

"धर्मो रक्षति रक्षितः" धर्म की रक्षा करने पर धर्म मनुष्य की रक्षा करता है। धर्महीन उच्छृङ्खल जीवन विनाश और विक्रिया की ओर ही ले जाता है। जीवन को एक उद्देश्य प्रदान करता है, उसे एक सुनिश्चित मार्ग प्रदान करता है, जिस पर चलकर आदमी अपना विकास कर सकता है, जीवन के कर्तव्यों का पालन कर सकता है। साथ ही इस जीवन से परे दूसरे जीवन की स्पृहा से प्रेरित होता है। परलोक की यह स्पृहा कल्पना की तरंग में बहते हुए कवि की कृति नहीं, वास्तविक जीवन की अनुभूति की अभिव्यक्ति है। इसी पारलौकिक स्पृहा को कवि वर्डस्वर्थ ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

"those obstinate questionings
Of sense and outward things,
Falling form us, vanishings,
Blank misgivings of a creature
Moving about in worlds not realised."

माक्स म्यूल्लेर ने भारतीय चरित्र की विशेषता यह बतायी है कि वह पारलौकिक होता है: "यदि मुझसे एक शब्द में भारतीय चरित्र की विशेषता बताने को कहा जाय तो मैं यही कहूँगा कि वह पारलौकिक था।"—"भारतीय चरित्र में इस पारलौकिक मनोवृत्ति ने अन्य किसी देश की अपेक्षा अधिक प्राधान्य प्राप्त किया।"—ह्वाट कैन इण्डिया टीच अस, पृ० १०४, १०५।

भारतीय धर्म और दर्शन एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं अपितु एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। यद्यपि इन दोनों में इतना अन्तर अवश्य होता है कि धर्म में विश्वास

और भावना मुख्य होती है जबकि दर्शन में विचार और तर्क प्रमुख होते हैं। भारतीय धर्म का दर्शन एवं नीति से कितना अनोखा सम्बन्ध है इसे हम आचार की महत्ता पर विचार करते समय देखेंगे। धर्म के साथ अर्थ, काम, मोक्ष का समन्वय भारतीय जीवन का उद्देश्य है और इस कारण यह धर्म सन्तुलित रूप में आदर्शवादी है और यथार्थवादी भी, लौकिक है और पारलौकिक भी, आध्यात्मिक है और भौतिक भी। वह आचरण की वस्तु है। आधार उसका मूलाधार है। उसकी नींव गहरी है और उसके कुछ मौलिक तत्त्व हैं जो उसे स्थायित्व प्रदान करते हैं। एक पाश्चात्य आलोचक ने इसी बात का संकेत इन वाक्यों में किया है :—"भारत का आध्यात्मिक इतिहास उसके अत्यन्त मौलिक विचार से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और यह बात सोची भी नहीं जा सकती कि इस प्रकार की संस्कृति जो हजारों वर्षों से भारत में फूलती-फलती रही है, इतनी गहरी जड़ों पर आधारित होती और स्वयं को इतनी दृढ़ता से बनाये रखती अगर इसमें महान् एवं चिरस्थायी मूल्य वाले तत्त्व निहित न होते।"

भारतीय धर्म में मानवीय प्रतिभा के एक विकसित रूप का उपयोग दिखायी देता है, उसमें मानजीवन की अनेक समस्याओं पर भलीभाँति विचार करके व्यवस्था दी गयी है। माक्स म्यूल्लेर ने भारतीय धर्म और संस्कृति की उपलब्धियों का इन शब्दों में उल्लेख किया है :—

"If I were asked under what sky the human mind has fully developed some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions of sone of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I should point to India."

—What Can India Teach Us ?—p.6

आचार इस धर्म का मूल है और धर्म के ज्ञान के साथ उसका अनुष्ठान और व्यवहार ही उसके वास्तविक प्रयोजन को सिद्ध करते हैं। गौतमधर्मसूत्र के शब्दों में—

"धर्मिणां विशेषेण स्वर्गं लोकं धर्मविदाप्नोति ज्ञानाभिनिवेशाभ्याम्"। इस धर्म का शाश्वत सन्देश है :—

"धर्मं चरत मा धर्मं सत्यं वदत मानृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत मापरम्॥ वसिष्ठ ध० सू०

धर्म का आचरण करो, अधर्म का नहीं। सत्य बोलो, झूठ मत बोलो। दूर तक देखो, संकुचित दृष्टि मत रखो, हीन वस्तु देखकर अपना विचार हीन मत बनाओ, श्रेष्ठ वस्तु को देखो और जीवन का लक्ष्य सदा ऊँचा से ऊँचा बनाये रखो।

आचार और नैतिक भावना

भारतीय संस्कृति का मूल आधार है आचार। आचार के आधार पर ही हिन्दू समाज का निर्माण हुआ था और जब तक व्यावहारिक जीवन में इस आधार को

प्राधान्य मिला तबतक समुन्नति तथा समृद्धि का समय बना रहा। धर्म का व्यावहारिक पहलू है आचार और इसी कारण इसे परम धर्म भी कहा गया है, धर्म की आधारशिला कहा गया है :

"आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः।
हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति॥"—वसिष्ठधर्मसूत्र ६।१

आचार से हीन व्यक्ति के लिए लोक में कोई सुख नहीं है और उसे दूसरे लोक में भी सुख की प्राप्ति नहीं होती। कोई व्यक्ति वेद और शास्त्रों के ज्ञान में भले ही पारंगत हो यदि आचार से भ्रष्ट है तो सम्पूर्ण धर्मज्ञान उसे कोई लाभ नहीं पहुँचाते और न आनन्द ही देते हैं जैसे अन्धे के हृदय में उसकी सुन्दर प्रियतमा भी कोई सौन्दर्यानुभूति का सुख उत्पन्न नहीं करती।

आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः॥ वही, ६।४

इस प्रकार धर्मशास्त्रकारों का आग्रह आचार के प्रति बराबर रहा है और वे आचार को सम्मान, दीर्घ जीवन और सुख का कारण मानते हैं।

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम्॥

और आचार की इसी महिमा के कारण ही सदाचार को धर्म का साधन माना गया है, जैसे वेद और स्मृति को। "वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।" सम्पूर्ण ज्ञान का उपयोग है उस ज्ञान को आचार में परिणत करना। इसी कारण भारत का दार्शनिक कोरे चिन्तन में समय नहीं गंवाता। वह अपने जीवन को अपने दर्शन के अनुरूप ढालता है और आदर्श प्रस्तुत करता है। दर्शन और आचारशास्त्र या नीतिशास्त्र का परस्पर अन्योन्याश्रय संबन्ध रहा है और यह संबन्ध वैसा ही रहा है जैसा कि "विज्ञान और प्रयोग का, ज्ञान और योग का।" एक ओर धर्म का मूल आधार है नीति और दूसरी ओर नीति दर्शन का व्यावहारिक पक्ष है, इस प्रकार धर्म, दर्शन और नीति एक दूसरे से अपृथक् हैं, वे एक दूसरे पर निर्भर हैं और एक दूसरे के पूरक भी हैं। इसी बात का उल्लेख जान केअर्ड ने 'एन इण्ट्रोडक्शन टू द फिलासाफी आफ रिलीजन' पुस्तक में किया है :—

"Indian philosophers and thinkers have even declared that the philosophy and ethics both are inter-dependent. There can be no intellectual growth without a morally elevated life. To be a good philosopher a man should be religious, moral and of good conduct."

भारतीय धर्म या दर्शन में केवल नैतिक भावनाओं का प्रतिपादन ही नहीं किया गया है, अपितु वास्तविक जीवन में उनकी अभिव्यक्ति प्रस्तुत की गयी है और इस अभिव्यक्ति का मनोवैज्ञानिक आधार भी प्रतिस्थापित किया गया है।

इन्हीं नैतिक भावनाओं के सन्दर्भ में मेकेंजी जैसे आलोचनात्मक दृष्टि वाले लेखक ने भी यह स्वीकारा है कि इनमें ऐसे तत्त्व निहित हैं जो स्वतः इतने मूल्य के हैं कि वे विश्व के विचार और संस्कृति को समृद्ध कर सकते हैं।

"We may claim for them that they contain elements which are of great value in themselves, and which may serve to enrich the thought and culture of the world."

—Hindu Ethics, p. 241.

वस्तुतः आचार वह कसौटी है जिस पर व्यक्ति की योग्यता और अर्हा का आकलन होता है। चरित्रहीन विद्वान् की विद्वत्ता फीकी होती है और शीलहीना सुन्दरी का सौन्दर्य केवल निम्नकोटि के विचारों को उत्तेजित करता है, आत्मिक सन्तोष का बोध नहीं कराता। ऊँचे पद पर आसीन और परोपदेश में कुशल व्यक्ति का छद्मव्यापार एवं अनैतिक आचरण जब प्रकाश में आता है तो दुनिया की आँखों में धूल झोंकने की उसकी सारी चालों पर पानी फिर जाता है। आचार और ज्ञान का समन्वय तथा परस्पर समायोजन ही हमारी नैतिक भावना का पहला सूत्र है, जिसने महान् दार्शनिकों एवं अलौकिक प्रतिभा और प्रभाव वाले पुरुषों को जन्म दिया है। भारतीय नीतिशास्त्री जब किसी नियम का विधान करता है तब वह उसे मानव के यथार्थ जीवन के सन्दर्भ में परख लेता है और मानव की स्वाभाविक कमजोरियों को भी ध्यान में रखता है। हरेक अवसर पर वह मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य के आचरण में उत्कर्ष लाने की व्यवस्था करता है। वह जानता है कि गलती मनुष्य से होती है, मनुष्य पतनोन्मुख होता है, यह सर्वथा स्वाभाविक है। किन्तु इन प्रवृत्तियों से दूर होने में ही वह मानवकल्याण की संभावना देखता है और इसी लिए धर्म की व्यवस्था करता है, जिसके अभाव में मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं रह जाता। मनु ने इसी का संकेत किया है :—

"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला।"

यही नहीं भारतीय धर्म में न केवल मनुष्यों को अपितु देवताओं तक को अनैतिक आचरण की ओर उन्मुख दिखाया गया है और उनके लिए भी आचार की पवित्रता को सर्वोपरि बताया गया है। भारतीय आख्यानों में इस बात को सर्वत्र प्रमाणित किया गया है कि सारी बातें एक ओर हैं और मनुष्य का आचार एक ओर, इसी आचार के कारण निम्नकोटि का व्यक्ति भी ईश्वर के तत्त्व का दर्शन कर सकता है, उच्चवर्ण के व्यक्ति को शिक्षा दे सकता है। इसी आचार के अभाव में महर्षि की तपस्या भी व्यर्थ हो जाती है और वह सामान्य व्यक्ति की तरह पाप का भागी होता है।

जिस वर्णव्यवस्था की सम्प्रति मुक्तकण्ठ से निन्दा करना हमारा कर्तव्य है और जो निश्चय अच्छी नहीं है, वह भी मूल रूप में आचार के आधार पर ही थी।

जिस समय उसने आचार का विवेक छोड़कर केवल पद और कुल को आधार बनाया तब से वह अपनी अच्छाइयों से वियुक्त हो गयी। जब पद के अनुसार सम्मान प्राप्त होने लगता है, आचरण और योग्यता के अनुसार नहीं तब स्वाभाविक है कि उस पद पर पहुँचने के लिए न तो योग्यता की कोई इच्छा या प्रयत्न करेगा और न उस पद को प्राप्त कर लेने पर अयोग्य या आचारहीन व्यक्ति योग्यता की चर्चा होने देगा, उल्टे वह ऐसी व्यवस्था करेगा कि उसका पद सदैव सुरक्षित रहे। इसके लिए वह धर्म के नाम पर अपने चारों ओर कटीले तारों की दीवार खड़ी करेगा। ऐसी ही व्यवस्था का रूप वर्णव्यवस्था ने ले लिया।

धर्मशास्त्र की दृष्टि में आचार का इतना महत्त्व है कि आचारहीन पिता तक का परित्याग करने का आदेश दिया गया है :

"त्यजेत्पितरं राजघातकं शूद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं वेदविप्लावकं
भ्रूणहनं यश्चान्त्यावसायिभिः सह संवसेदन्त्यावसायिन्यां वा।"

३. २. १. पृ० २०७

ऐसे व्यक्ति के सामाजिक अपमान का विधान भी इसी बात का संकेत करता है कि आचार से च्युत व्यक्ति को समाज में सामाजिक जीवन व्यतीत करने का अधिकार नहीं है। उससे भाषण या संबन्ध करने वाले व्यक्ति को भी दुराचार में प्रोत्साहन देने के लिए दण्ड की व्यवस्था की गयी है, किन्तु उसके प्रायश्चित्त कर लेने पर तथा अपना आचरण सुधार लेने पर पुनः समाज में प्रवेश करने का द्वार खोल दिया गया है।

पाप और प्रायश्चित्त की धारणा के पीछे भी आचार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? समाज में जीने और दूसरों को जीने देने का मन्त्र ही इस लोक में कल्याण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। हमारे धर्मसूत्र में व्यक्ति को पर्याप्त महत्त्व मिला है। किन्तु इस महत्त्व की शर्त है कि वह आचार या धर्म का पालन करे। यदि वह आचार का उल्लङ्घन करता है तो उसे जीने का अधिकार नहीं, उसे पाप से तभी मुक्ति हो सकती है जब वह प्रायश्चित्त करे, अर्थात् पाप गम्भीर हो तो जीवन का अन्त कर दे, क्योंकि ऐसा व्यक्ति समाज के अन्य लोगों के लिए एक बुरा उदाहरण प्रस्तुत करेगा। हमारा धर्मसूत्र कहता है कि इस संसार में मनुष्य बुरे कर्मों से पाप से सन जाता है: "अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा लिप्यते"... ३. १. २.। और तब मनुष्य के ये कर्म स्थायी फल उत्पन्न करते हैं। पाप और प्रायश्चित्त का विचार धर्मसूत्र में नितान्त भौतिक या व्यावहारिक है। इनका सीधा संबन्ध शरीर की यातना से है किन्तु पाप करने वाला साधन भी तो शरीर ही है। साथ ही साथ प्रायश्चित्त की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि यह है कि जप और दान तो साक्षात् उत्तम विचार और परोपकार की प्रेरणा देते हैं। पाप का प्रकाशन और पश्चाताप भी हो जाता है। तप, उपवास और होम धर्म में आस्था उत्पन्न करके पुनः उत्तम आचरण की प्रेरणा देते हैं। किन्तु यह मानना पड़ेगा कि धर्मसूत्रकार का प्रायश्चित्त का विधान करते समय साक्षात् प्रयोजन है लोक और

परलोक की प्राप्ति। वह लोक की अपेक्षा परलोक की अधिक परवाह करता है और सभी लौकिक कर्मों को इस लिए करने का आदेश देता है कि उनसे परलोक मिलने की संभावना है। यह धर्मभीरुता और ईश्वर या परलोक का भय मनुष्य के आचरण को निरन्तर सही दिशा की ओर प्रेरित करता रहा है, किन्तु हम धर्मसूत्र में देखते हैं कि पाप-प्रायश्चित्त और अपराध-दण्ड की नैतिक भावनाओं के ऊपर भी वर्ण का विचार हावी हो जाता है। यदि कोई क्रोध में आकर ब्राह्मण के ऊपर हाथ या हथियार उठाता है तो वह सौ वर्ष तक स्वर्ग नहीं पाता, यदि उस पर प्रहार कर देता है तो वह एक हजार वर्ष तक स्वर्ग पाने से रह जाता है। उसके प्रहार से ब्राह्मण का खून बहे तो उसके खून से जितने रजकण भींगते हैं उतने वर्षों तक वह स्वर्ग नहीं पाता।

"अभिक्रुद्धावगोरणं ब्राह्मणस्य वर्षशतमस्वर्ग्यम्। निघाते सहस्रम्।
लोहितदर्शने यावतस्तत्प्रस्कन्द्य पांसून्संगृह्णीयात्॥ ३. ३. २०–२२

जानबूझकर ब्राह्मण की हत्या करने वाला मृत्यु का भागी होता है। उसे कठोर प्रायश्चित्त करना होता है। किन्तु यदि वह ब्राह्मण की प्राणरक्षा करे या उसके धन की रक्षा करे तो वह पाप से छूट जाता है: "प्राणलाभे वा तन्निमित्ते ब्राह्मणस्य" ३. ४. ७। ब्राहृण की हत्या का असफल प्रयत्न करने पर भी वही पाप और प्रायश्चित्त होता है जो उसके वध का तथा ब्राह्मण की पत्नी के गर्भ का नाश करनेपर भी वही पाप होता है। किन्तु दूसरी ओर अन्य वर्ण के व्यक्तियों के वध पर पाप कम होता है। शूद्र की हत्या का तो यही प्रायश्चित्त है कि साल भर व्रत करके दश गाय और एक सांड़ का दान कर दे बस पाप से छुटकारा मिल जाता है। जितना पाप एक गाय के वध का होता है उससे भी कम पाप शूद्र के वध का होता है। गाय का वध वैश्य के वध के बराबर बताया गया है और इसी प्रकार मेढक, नेवला, कौआ, कृकलास, चूहा, छछून्दर के एक साथ वध का पाप भी शूद्र के वध के पाप से बढ़कर होता है। विना अस्थिवाले एक सहस्र जीवों का वध भी शूद्र के वध से अधिक पापयुक्त होता है। ३. ४. १८–१९।

इसी प्रकार अन्य पापकर्मों और उनके प्रायश्चित के विषय में भी धारणाएँ कुछ असंगतिपूर्ण हैं। कुल मिलाकर पाप से विरक्ति का ध्येय बनाया गया है और निरन्तर इस बात का ध्यान दिया गया है कि प्रायश्चित्त का भय दिखाकर पाप से दूर करने का उपाय किया जाय।

अपराध और दण्ड की नैतिक भावना भी धर्मसूत्र में सर्वत्र व्याप्त है और उसके सन्दर्भ में भी बहुत कुछ वैसी मान्यतायें हैं जैसी पाप और प्रायश्चित्त के विषय में। समाज में राजा इसी लिए होता है कि वह धर्मभ्रष्ट लोगों को दण्ड देकर उन्हें सही मार्ग पर ले आवे: "चलतश्चैतान्स्वधर्मे स्थापयेत्" २. २. १० धर्मसूत्र में प्रायः विवेचित अपराधों में अधिकतर सामान्य व्यवहार, चोरी, दूसरे के साथ छल, और व्यभिचार के अपराधों का उल्लेख है। अपराध के लिए दण्ड की व्यवस्था में भी अपराधी के वर्ण का विचार सर्वोपरि आ जाता है, यद्यपि धर्म या कानून के

सामने सभी बराबर हैं तथा अपराध, अपराधी की शक्ति और अपराध में उसकी प्रवृत्ति का विचार करके दण्ड देना चाहिए, इस बात का उद्घोष सिद्धान्त के रूप में किया गया है : "पुरुषशक्त्यपराधानुबन्धविज्ञानदण्डविनियोगः।" २. ३. ४८। यही नहीं यह भी कहा गया है कि उच्चवर्ण का व्यक्ति यदि अपराध करता है तो उसे अधिक दण्ड देना चाहिए, यह स्वाभाविक भी है। जैसा कि हरदत्त ने अपनी टीका में कहा है, यदि अन्धा व्यक्ति कुएँ में गिरता है तो वह दया का पात्र होता है दण्ड या ताड़ना का भागी नहीं होता। इसी प्रकार धर्म के मर्म को समझने वाला अपराध करता है तो स्वभावतः उसका दोष गुरु होता है। "निषेधदोषं ज्ञात्वाऽपि प्रवर्तमानस्य दोषाधिक्यं भवति। अजानतस्त्वन्धकूपपतनवदनुग्रहोऽस्मिन।"इसी कारण धर्मसूत्रकार गौतम ने यह कहा है कि शूद्र यदि चोरी करे तो उस धन का आठ गुना दण्ड होता है और उससे उच्च वर्ण का व्यक्ति उत्तरोत्तर दुगुना दण्ड का भागी होता है "द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णम्।" किन्तु यह विषय का केवल एक पहलू है। दूसरी ओर वर्ण की विचारणा इतनी प्रमुख हो जाती है कि एक ही अपराध के लिए ब्राह्मण को कोई दण्ड नहीं मिलता जब कि शूद्र को अंगभंग और मृत्यु तक का दण्ड भोगना पड़ता है। उदाहरण के लिये यदि शूद्र वाणी से किसी उच्चवर्ण वाले अर्थात् द्विजाति का अपमान कर लेता है तो उसकी जीभ काट लेने का दण्ड बताया गया है और यदि शरीर के किसी अन्य अंग से प्रहार करता है तो उस अंग को काट लेने का दण्ड है।

"शूद्रो द्विजातीनभिसंधायाभिहत्य च वाग्दण्डपारुष्याभ्यामंगमोच्यो येनोपहन्यात्" २. ३. १.

इसी प्रकार यदि शूद्र किसी उच्चवर्ण वाली स्त्री के साथ व्यभिचार करता है तो उसकी जननेन्द्रिय कटवा लेने का दण्ड है और यदि वह उस स्त्री का रक्षक नियुक्त किया गया हो तो इस अपराध के लिए उसका वध भी हो सकता है। आगे हम देखेंगे कि इसके विपरीत इस प्रकार के दण्ड के लिए उच्चवर्ण के व्यक्ति के लिए कोई दण्ड नहीं था, कुछ मामूली प्रायश्चित्त ही थे। दण्ड के विषय में सबसे बड़ा अन्याय तो वहाँ दिखाई पड़ता है जब शूद्र के कान में वेदमन्त्र पड़ने के अपराध में उसके कान में शीशा और जस्ता भर देने का नियम है और यदि वह वेदमन्त्र का उच्चारण करता है तो उसकी जीभ काटने का दण्ड है। यदि वह मन्त्र धारण करता है तो उसके शरीर को काट लेने का दण्ड बताया गया है। "अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः।" इसके विपरीत यदि ब्राह्मण शूद्र का तिरस्कार करता है तो कोई दण्ड उसे नहीं मिलता। ब्राह्मण के बारे में तो यह घोषणा कर दी गयी है कि, "न शारीरो ब्राह्मणदण्डः" २. ३. ४३ ब्राह्मण को कोई शारीरिक दण्ड नहीं मिलना चाहिए। बड़े से बड़े अपराध, गुरुपत्नीगमन और सुरापान जैसे महा अपराध के लिए भी उसे देश से निष्कासित करने का दण्ड मात्र है। धर्मसूत्र में अपराध और दण्ड-विषयक इन मान्यताओं के सन्दर्भ में मेकेंजी का यह कथन ठीक ही प्रतीत होता

है कि दण्ड का निर्णय अपराध के बाहरी पहलू के आधार पर किया गया है, आन्तरिक पहलू के आधार पर नहीं।

"Closely connected with all this is the fact that the offences enumerated are all overt acts. Judgement is passed not on the inner but on the outer side of the act.

—Hindu Ethics, p. 56

चोरी एक बहुत बड़ा अपराध है और उसके लिये मृत्यु भी दण्ड के रूप में मिलती है। चोर के लिए यह प्रायश्चित्त बताया गया है कि वह मूसल हाथ में लेकर राजा के समीप जाकर अपना अपराध बतावे और राजा उसी मूसल से मारे, यदि उससे उसकी मृत्यु हो जाती है तो वह पाप से छूट जाता है। २. ३. ४० और राजा चाहे तो छोड़ भी सकता है किन्तु ऐसी स्थिति में राजा स्वयं पाप का भागी होता है। अतः यह स्पष्ट कहा गया है कि अपराधी पर दया नहीं करनी चाहिए। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि धर्मसूत्र में अपराध के निर्धारण में संगति और एकरूपता नहीं है जैसे चोरी के लिए दो प्रकार के दण्ड बताये गये हैं एक तो आर्थिक दण्ड है और दूसरा प्रायश्चित्त के रूप में मृत्युदण्ड। चोर को सहायता देने वाला भी चोर के समान अपराधी होता है: "चोरसमः सचिवो मतिपूर्वः" और अधर्म से धन ग्रहण करने वाला बेईमान व्यक्ति भी चोर के समान अपराधी होता है। अपराध और दण्ड के सन्दर्भ में धर्मसूत्रकार कभी तो अपराध से घृणा के सिद्धान्त से चलता है तो वह कभी अपराधी से घृणा को अपने निर्णय का आधार बनाता है। कुल मिलाकर वह नैतिकता के एक सैद्धान्ति और व्यावहारिक विचारभेद के संघर्ष में पड़ा हुआ प्रतीत होता है।

सत्यभाषण और सत्य आचरण का नैतिक नियम भी पाप और प्रायश्चित्त एवं अपराध और दण्ड के समान धर्मसूत्रकार के विवेचन का विषय है। सत्यभाषण के महत्त्व को धर्मसूत्र प्रत्येक अवसर पर जोर देता है। सत्यभाषण ब्रह्मचारी का प्राथमिक नियम है "सत्यवचनम्" १. २. १३। सामान्यतः मनुष्य को सत्यवचन वाला और सत्य स्वभाव वाला अर्थात् ईमानदार होना चाहिए। "सत्यधर्मा" १. ९. ६८। सत्यभाषण से स्वर्ग की प्राप्ति होती है और असत्य बोलने से नरक मिलता है: "स्वर्गः सत्यवचने विपर्यये नरकः" २. ४. ७। सत्यभाषण एक महान् तप है, वैसे ही जैसे ब्रह्मचर्य एक महान् तप है। ३. १. १५। असत्यभाषण से होने वाले पापों के विषय में भी धर्मसूत्र का विवेक विलक्षण है। असत्यभाषण का पाप उस व्यक्ति या वस्तु के अनुसार होता है जिसके सम्बन्ध में झूठ बोला जाता है। यहां भी वस्तु या व्यक्ति की योग्यता के आधार पर या उपयोगिता के आधार पर पाप बताये गये हैं। छोटे पशुओं के विषय में न्यायव्यवहार होने पर झूठ बोलने से पाप नहीं होता। यदि साक्षी के झूठ बोलने पर किसी व्यक्ति का वध होता हो तो साक्षी को उस जाति के एक हजार मनुष्यों के वध का पाप लगता है। २. ४. १५। भूमि के विषय में असत्य बोलने पर तो सम्पूर्ण मानव जाति के वध का पाप होता है। इसी प्रकार जल के और मैथुन के विषय में असत्य बोलने पर भी

पाप लगता है। किन्तु इन सब नियमों के बावजूद यदि असत्यभाषण से किसी प्राणी की रक्षा होती हो तो झूठ बोलने का दोष नहीं होता—"न तु पापीयसो जीवनम्" २. ४. २५। इसी प्रकार विवाह, मैथुन और उपहास में तथा रोगी व्यक्ति को सान्त्वना देने के लिए झूठ बोला जाय तो कोई पाप नहीं होता—"विवाह-मैथुननर्मार्तसंयोगेष्वदोषमेकेऽनृतम्" ३. ५. २९। किन्तु गुरु के विषय में तो कदापि असत्यभाषण नहीं करना चाहिए। असत्यभाषण के लिए तीन दिन-रात के व्रत का भी नियम है ३. ५. २७। इसी प्रकार क्रोधी, अत्यन्त प्रसन्न, भय से आकुल, रोगी, लोभी, बालक, अत्यन्त वृद्ध, मूढ, मत्त और उन्मत्त व्यक्ति के वचन यदि असत्य हों तो भी उनसे कोई पाप नहीं होता। १. ५. २०। संभवतः धर्मसूत्रकार मनोवैज्ञानिक कारणों को दृष्टिगत करके ऐसी स्थिति में असत्य भाषण को अपराध नहीं मानता। सत्यभाषण की यह नैतिक भावना भी सन्तुलित दिखाई पड़ती है, भले ही उसके तुलनात्मक अपराधों के विषय में कुछ असंगति दृष्टिगोचर होती है।

सत्यभाषण के साथ-साथ शुभवचन एवं दूसरों को कष्ट न देने वाले वचन बोलना आचार का एक अनिवार्य अङ्ग है। वाणी का संयम आवश्यक है: वाक्चक्षुः कर्मसंयतः ९. ३. १६। शूद्र के लिए भी सत्यभाषण का आदेश है:
"तस्यापि सत्यमक्रोधो शौचम्" २. १. ५२।

सत्यभाषण की तरह अहिंसा की धारणा भी धर्मसूत्र में कुछ नये रूप में आती है। भारतीय संस्कृति के "जिओ और दूसरों को जीने दो" या "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" की भावना ही अहिंसा की नैतिक व्यवस्था को धर्मशास्त्रीय आचारव्यवस्था में बार-बार दुहराती है, किन्तु साथ ही साथ धर्मसूत्र में अहिंसा के विषय में भी कुछ विलक्षणता पायी जाती है। वैदिक कार्यों के लिए तथा अतिथि के लिए पशु का वध धर्मसंमत है—वध्यारश्च धर्मार्थे २. ८. ३७। इसी प्रकार युद्ध में की गयी हिंसा का कोई पाप नहीं होता: "न दोषो हिंस्यामाहवे" किन्तु युद्ध में भी दुर्बल, भीरु, कमजोरी बताने वाले विपक्षी का वध न करने का आदेश है। युद्ध की हिंसा लोक की रक्षा के लिए होती है अतः वह विहित है, पाप का कारण नहीं है। गौतमधर्मसूत्र १. ९. ७३ में कहा गया है कि मनुष्य को नित्य अहिंसाशील, मृदु, अर्थात् सहिष्णु, या क्षमाशील होना चाहिये, दृढनिश्चयी, संयमी और दानशील होना चाहिये। मनुष्य के ये प्रमुख गुण हैं और उनमें अहिंसा मुख्य है "नित्यमहिंस्रो मृदुदृढकारी दमदानशीलः। ब्रह्मचारी के लिए हिंसा न करने का स्पष्ट आदेश है १. २. २३। अहिंसा के प्रति धर्मसूत्र के विलक्षण दृष्टिकोण का आभास पाप और प्रायश्चित्त के सन्दर्भ में मिलता है। मनुष्यों की हत्या से पाप होता है किन्तु उस पाप का अनुपात हत व्यक्ति के वर्ण के अनुसार होता है। सामान्यतः पशुओं का वध करना पाप का कारण बताया गया है किन्तु वह पाप उनकी उपयोगिता और आकार के अनुसार कहा गया है। सबके लिए प्रायश्चित्त का विधान है। धर्मसूत्र की दृष्टि में वेश्या के वध का कोई पाप या प्रायश्चित्त नहीं होता और इसी प्रकार नपुंसक की हत्या का पाप केवल एक आदमी से चलने लायक पुआल का दान कर देने पर छूट जाता है। मांसभक्षण का भी पूर्णतः निषेध नहीं किया गया है, परन्तु

मांसभक्षण के लिए हिंसा निन्दित बतायी गयी है। अनेकानेक पक्षियों एवं मछलियों के भक्षण को विहित किया गया है (२. ३. ३५) जिनके भक्षण के लिए हिंसा आवश्यक है इसमें सन्देह नहीं। मांसभक्षण तो संन्यासी भी कर सकता था। १. ३. ३०। इस प्रकार धर्मसूत्र में अहिंसा की नैतिक भावना मांसभक्षण के निषेध तक सीमित नहीं है। हिंसा सामान्यतः निन्दित है किन्तु व्यवहार में उसका कठोर पालन नहीं दिखाई पड़ता।

दया, परोपकार, क्षमा आदि उत्तम मानवीय गुणों की प्रशंसा धर्मसूत्र में आचार और आश्रमधर्म के सन्दर्भ में अनेकशः की गयी है। "दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मंगलमकार्पण्यमस्पृहेति"। १.८.२४। ये आठ आत्मगुण बताये गये हैं: दया, क्षमाशीलता, दूसरों की समृद्धि में न जलना, जिस कार्य को करने में अपनी हानि हो वह न करना, मंगल का आचरण करना, दीनता न दिखाना और लालच न करना। इन गुणों को प्राप्त करना लौकिक तथा पारलौकिक दृष्टि से आवश्यक है। इसी प्रकार १. ९. ७३ में सहिष्णुता, क्षमाशीलता, दृढ़ निश्चय एवं संयम को आवश्यक गुण बताया गया है। समर्थ होने पर भी किसी मारे जाते हुए दुर्बल व्यक्ति की रक्षा न करने पर उतना ही दोष होता है, जितना उस व्यक्ति को मारने वाले का होता है। "दुर्बलहिंसायां च विमोचनशक्तश्चेत्" ३. ३. १९। संन्यासी के लिए तो यह अनिवार्य आचार है कि वह लोभ का त्याग कर दे, संयम रखे और कष्ट देने वाले तथा अनुग्रह करने वाले दोनों पर समान दृष्टि रखे "समो भूतेषु हिंसानुग्रहयोः"। यह समदृष्टि भारतीय दर्शन में महत्त्व रखती है और जीवन में इसका व्यवहार दार्शनिक एवं तत्वज्ञ की महान् योग्यता समझी जाती है। इन्द्रियों के प्रवाह में पड़कर उन पर विजय प्राप्त करना और उन्हें ऊँचे आदर्शों और लक्ष्यों की ओर उन्मुख करना ही ब्रह्मचर्य का और सामान्य भारतीय धर्म का मुख्य लक्ष्य है, दर्शन का मूलमन्त्र है। नैष्ठिक ब्रह्मचारी इसी लक्ष्य की प्राप्ति में रत तपस्वी है, जिसके नियम धर्मसूत्र में मिलते हैं। स्वाभाविक मलप्रवृत्तियों को नियन्त्रित करके उन्हें धर्म की सिद्धि में नियोजन ही धर्मग्रन्थ का उपदेश और आदेश है।

परोपकार के साथ-साथ दुःखी और रोगी को दान देने का भी आदेश है। दानविषयक व्यवस्था के मूल में एक उत्तम धार्मिक भावना है, सत्कर्म में अध्ययन में लगे हुए का एवं दुःखी व्यक्ति की सहायता। आगे चलकर दान केवल प्रायश्चित्त का अङ्ग हो जाता है और पाप से मुक्ति पाने का आडम्बरपूर्ण साधन बना लिया जाता है। किन्तु हमारे धर्मसूत्र में १. ५. १८ दानपात्र की योग्यता पर विचार किया गया है और गुरु के लिए, विवाह कर्म के लिये, रोगी को, हीनवृत्ति वाले को और अध्ययन में रत व्यक्ति को दान देने की व्यवस्था की गयी है। अधार्मिक कार्य के लिए कदापि दान नहीं देना चाहिए, यह भी गौतमधर्मसूत्र में स्पष्ट कहा गया है।

स्वाभिमान और व्यक्ति की प्रतिष्ठा पर भी इस धर्मसूत्र में यत्रतत्र प्रकाश पड़ता है, हालांकि सामान्यतः व्यक्ति को उसके आचरण के आधार पर तथा अनेक

प्रसंगों में वर्ण के आधार पर या कुल के आधार पर सम्मान का पात्र ठहराया गया है। विद्याध्ययन करने वाले, सदाचारी एवं धार्मिक व्यक्ति का सर्वोपरि स्थान है और उसे विशेषाधिकार भी दे दिये गये हैं जो दूसरों को नहीं मिल पाते हैं। गुरु की सेवा में व्यक्ति के अपने स्वाभिमान का विचार नहीं किया गया है, उसकी पूजा देवता की तरह करने, उसका जूठा खाने, शरीर दबाने आदि का नियम भी विद्यार्थी के लिए बताया गया है (पृ० २६) किन्तु ये कार्य गुरु के अतिरिक्त अन्य के लिए विहित नहीं हैं। निम्न व्यक्ति की सेवा गर्हित है। अतिथि सत्कार एक मानवीय धर्म है तथा प्रत्येक आश्रम में मनुष्यपूजक होने का आदेश है किन्तु दूसरी ओर वर्ण का विचार इतना प्रबल है कि शूद्र को मनुष्योचित व्यवहार भी नहीं मिलता और उसे दास बनकर सब प्रकार से पददलित जीवन व्यतीत करना पड़ता है। आगे आश्रमों की व्यवस्था एवं वर्ण के विषय में विचार करते समय धर्मसूत्र के समाज में व्यक्ति का क्या स्थान था इस पर और प्रकाश पड़ेगा।

मनुष्य का अपना जीवन महत्त्वपूर्ण है। सभी प्रकार से अपनी रक्षा करना धर्म है। अतः धर्मसूत्र आदेश देता है कि जिस कार्य में हानि हो, प्राणसंकट हो वह कार्य न करो १. ९. ३२. और सभी उपायों से अपनी रक्षा करो "सर्वत एवात्मानं गोपायेत्" १. ९. ३४. । जीवन रक्षा के लिए वर्णाश्रमधर्म का भी उल्लंघन करके कोई भी वृत्ति ग्रहण की जा सकती है और नैतिक नियमों का बन्धन तोड़ा जा सकता है। इस प्रकार धर्मसूत्र की व्यवस्था में धर्मप्रधान होते हुए भी व्यक्ति को भी बहुत कुछ महत्त्व प्राप्त है। उसे जीने का भी अधिकार दिया गया है और इसी कारण यह विचार किया गया है कि पापों के लिए प्रायश्चित्त नहीं भी किया जा सकता है। सामान्य नियम भी बताया गया है कि समर्थ व्यक्ति आश्रितों की, असहायों, दुर्बलों और शारीरिक विकार वाले मनुष्यों की रक्षा करें, उन्हें भोजन, वस्त्र और सुरक्षा प्रदान करें।

यौनविषयक नैतिकता के विषय में धर्मसूत्रकार की दृष्टि बड़ी कड़ी है, किन्तु अन्य नैतिक भावनाओं के समान ही इस विषय में भी सिद्धान्त और व्यवहार के बीच प्रचुर अन्तर दिखाई पड़ता है। धर्मसूत्र में नारी की स्थिति पर विचार करते हुए हमने इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध की स्वेच्छाचारिता हमारे धर्मसूत्रकार को निश्चय ही अभीष्ट नहीं है, किन्तु उसे सबसे बड़ी चिन्ता इस बात की है कि उच्चकुलों की मर्यादा और पवित्रता सुरक्षित बनी रहे और वर्णों में उच्च और निम्न का भेद स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध का नियमन करे। अपने से निम्न वर्ण के पुरुष के साथ सम्बन्ध रखने वाली स्त्री के लिए तो सरेआम कुत्तों से कटवाकर मार डालने का नियम बनाया गया है। "श्वभिरादयेद्राजा निहीनवर्णगमने स्त्रियं प्रकाशम् । २. ५. १४।

किन्तु हमारे धर्मसूत्रकार को यह पता है कि मनुष्यों की स्वाभाविक कमजोरियाँ समय पाकर उसे अभिभूत कर लेती हैं। महापुरुष भी अपने आचरण में चूक जाते हैं।

"दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम् ।"

यही नहीं एक आधुनिक मनोवैज्ञानिक की तरह धर्मसूत्रकार कामभावना के विकारों एवं असामान्य यौनाचारों का उल्लेख भी करता है और यह संकेत करता है कि अप्राकृतिक यौनाचार भी समाज में प्रचलित था। काममनोविज्ञान का वेत्ता इसे दमित भावना की विकृत अभिव्यक्ति की कहेगा। गौतमधर्मसूत्र में ऐसे स्थलों के लिए देखिए : ३. ४. ३६ पृ० २३४, ३. ५. १२ पृ० २४०, ३. ६. ५ पृ० २५५ तथा ३. ३. ७ पृ० २६०।

ब्रह्मचर्य की महत्ता सर्वोपरि है, किन्तु उसके भंग होने पर प्रायश्चित्त द्वारा पाप से मुक्ति हो जाती है। धर्मसूत्र की दृष्टि में काम की मूलभावना का उपयोग केवल सन्तान प्राप्ति के लिये, सदाचारी पुत्र की प्राप्ति के लिए होना चाहिए। इसी लिए इसके नियमन की आवश्यकता है और विवाह की व्यवस्था को अपूर्व महत्ता दी गयी है। गौतमधर्मसूत्र का तो यही सन्देश है कि निरन्तर धर्म, अर्थ और काम को सफल बनाना चाहिए और इसमें धर्म प्रधान है, उसी के अनुकूल अर्थ और काम भी होने चाहिए।

"न पूर्वाह्णमध्यंदिनापराह्णानफलान्कुर्याद्यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः"
१. ९. ५४।

गौतमधर्मसूत्र में वर्णाश्रमधर्म

भारतीय धर्म में मानवजीवन सुव्यवस्थित है और उसके उद्देश्य निर्धारित हैं, जीवन का मार्ग स्पष्टतः अनुरेखित है। इस धर्म में जीवन जी लेने का ही नाम नहीं है, अपितु उसका आकलन तो व्यक्ति के धर्म से है, कर्म से है। केवल यथा-संभव सुख के साधन जुटाकर पार्थिव जीवन को और वर्तमान को सुखी बना लेना उसका उद्देश्य नहीं। इस धर्म में जीवन कर्म का जीवन माना गया है, एक पार-लौकिक जीवन की प्राप्ति के लिए दीक्षा का काल माना गया है। सम्पूर्ण भौतिक जीवन आध्यात्मिक जीवन की तैयारी है। इसी कारण तो जीवन को धर्ममय, दर्शनमय कहा गया है। आध्यात्मिक जीवन की तैयारी तो इस जीवन के आरम्भ से ही चलती है, परन्तु उसके लिए विशेष समय भी निर्धारित किया गया है।

हिन्दू धर्म में प्रत्येक व्यक्ति के, प्रत्येक अवस्था के और प्रत्येक अवसर के कर्तव्य निर्धारित हैं जिससे उनके विषय में भ्रम या स्वेच्छाचारिता की गुञ्जाइश नहीं, हालां कि साथ ही साथ मनुष्य के हित "स्वस्य च प्रियमात्मनः" को भी महत्त्व दिया गया है। अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि के लिए हिन्दू धर्म में जीवन की जो "प्लैनिंग" की गयी है उसी का नाम आश्रम है। उचित समय पर उचित कर्म करना और दत्तचित्त होकर कर्म करना लक्ष्य की प्राप्ति का मूलमन्त्र है। सम्पूर्ण जीवन कर्तव्यमय है, श्रममय है। आश्रम शब्द का ही अर्थ है : श्रम का जीवन। आश्रम्यन्ति अस्मिन् आश्रमः। व्यक्ति के प्रतिदिन के कार्य का मानो एक "टाइमटेबुल" ही आश्रम की व्यवस्था के अन्तर्गत बना दिया गया है जिसके अन्तर्गत एक निश्चित समय तक एक निश्चित कार्य किया और फिर दूसरे कार्य में लग गये। एक कालावधि में भौतिक जीवन का रसास्वादन किया तो दूसरे में

भौतिक सुखों का त्यागकर अक्षय शान्ति की खोज में निकल पड़े। एक पीढ़ी ने अपना एक कार्य पूरा किया, उसके आनन्दों और फलों का भोग किया और वह आगे बढ़ गयी। उसने दूसरी पीढ़ी को स्थान दिया। इस विभाजन और व्यवस्था से न तो कहीं असन्तोष उत्पन्न हुआ, न तो उनमें कोई संघर्ष हुआ। इस व्यवस्था के अभाव ने वर्तमान समाज में कितनी बुराइयाँ उत्पन्न की हैं सर्वविदित है। जीवन के अन्त तक पद का लोभ और उस पद को बनाये रखने के लिए होनहार लोगों का दमन एवं शोषण पुराने लोगों का एक खास हथकंडा बन गया है। ऐसे लोग जितने पुराने हैं, इस चाल में उतने ही कुशल हैं और वे उतने ही दीर्घकाल तक पद के साथ चिपटे रहने में सफल होते हैं। अधिकार और पद के लोभी बुजुर्ग एक लंगड़ी और असन्तुष्ट पीढ़ी का निर्माण करेंगे, जिसे योग्यता के विकास का अवसर नहीं मिल पायगा और जो उन पुराने ठेकेदारों के हाथ में खिलौना होगी, जिस पर वे मनमानी कर सकते हैं, प्रलोभन देकर अपना अधिक से अधिक काम निकाल सकते हैं। धर्मशास्त्रों की मौलिक आश्रमव्यवस्था में इन बुराइयों के लिए जगह नहीं थी। आश्रमव्यवस्था के पीछे जो उदात्त भावना है वह सार्वभौम है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता अद्वितीय है और धर्मशास्त्रकारों की दूरदर्शिता, व्यावो हारिकता, बोध और चिन्तन की स्पष्टता का प्रमाण है।

इस आश्रमव्यवस्था को धर्मसूत्रकारों ने स्पष्टतः गौरव प्रदान किया है। वर्णाश्रमधर्म से हीन व्यक्ति पतित होता है और ऐसे पतित के साथ बोलना भी निषिद्ध है। वर्णाश्रमधर्म से हीन व्यक्ति का समाज में कोई स्थान नहीं है, वह किसी प्रकार का सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी भी नहीं होता। १. ९. १७। कर्मों के विभाजन का अनुशीलन न किया जाय तो आर्य और अनार्य में कोई भेद नहीं रह जाता। सभी वर्ण समान हो जाते हैं और सबके समान होने पर लोकव्यवस्था नहीं चल पाती, अस्तव्यस्तता उत्पन्न हो जाती है। "आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपकर्मणः साम्यम्"। गौतमधर्मसूत्र २ १. ६९। इस आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत विहित कर्म को करना कर्तव्य है और जो व्यक्ति उस आचरण का पालन नहीं करता वह राजा द्वारा दण्ड का भागी होता है। उसे किसी प्रकार की सम्पत्ति का अधिकार नहीं रह जाता और वह केवल जीवन चलाने योग्य भोजन ही राजा के यहाँ से प्राप्त करता है। "शिष्टाचरणे प्रतिषिद्धसेवायां च नित्यं चैलपिण्डादूर्ध्वं स्वहरणम्"। २. ३. २४।

धर्मशास्त्रों में मनुष्यजीवन चार आश्रमों में विभक्त किया गया है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। गौतमधर्मसूत्र में इन आश्रमों को इस क्रम में और इन नामों से गिनाया गया है—ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु, वैखानस। आश्रमों का इतिहास देखकर यह ज्ञात होता है कि आश्रम के विषय में धर्मशास्त्रकारों के विचार एक से नहीं हैं। इसे अलग-अलग नाम दिया गया है और इन आश्रमों का आपेक्षिक महत्त्व भी भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से किया गया है। उदाहरण के लिए कुछ आचार्यों ने एक ही आश्रम-गृहस्थाश्रम को वास्तविक बताया है। बौधायन की दृष्टि में भी अन्य सब आश्रम काल्पनिक हैं २. ६. १७। हमारे धर्मसूत्रकार गौतम ने भी गृहस्थाश्रम को ही महत्त्व दिया है और उसे ही प्रथम स्थान दिया

है। धर्मशास्त्रों के पूर्व उपनिषदों में यह बात स्पष्ट की गई है कि मोक्ष प्राप्त करने के लिए वैराग्य या निर्वेद धारण करना चाहिये। बृहदारण्यक ५।१ और मुण्डक० १।२।१२ इस प्रकार ये आश्रम स्वाभाविक रूप में थे इसमें सन्देह नहीं। इन्हें व्यवस्थित रूप धर्मशास्त्रकारों ने दिया और प्रत्येक आश्रम के दैनिक कर्मों क विस्तार से गिनाया। सारे समाज के लिए वर्णाश्रमधर्म के नाम से संविधान तैयार किया।

सभी आश्रमों में गृहस्थाश्रम को स्वाभाविक रूप में अधिक महत्त्व प्राप्त है। यह आश्रम वास्तविक लौकिक कर्म और श्रम का जीवन है और अन्य आश्रम इसी पर आश्रित होते हैं। ब्रह्मचर्य इसी जीवन की विशेष तैयारी है जिसमें ज्ञान के साथ संयम और आचार की शिक्षा दी जाती है। ब्रह्मचर्य अनुशासन और ज्ञानार्जन का जीवन है। गृहस्थाश्रम की उपक्रमणिका है। गौतमधर्मसूत्र में १. ३. १ और १. ३. ३५ में इस आश्रम की प्रधानता को स्वीकारा गया है। किन्तु साथ ही साथ यह भी कहा गया है कि जीवन की शिक्षा पाकर ब्रह्मचारी कोई भी आश्रम ग्रहण कर सकता है। ब्रह्मचर्य जीवन से वास्तविक आचार और धर्म का जीवन प्रारम्भ होता है। उसके पूर्व के जीवन में कोई आचार का नियम नहीं है और छूट है। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थजीवन स्वीकारने का कारण यह है कि यह आश्रम ही सन्तानउत्पत्ति का आश्रम है और सन्तान का महत्त्व धर्मसूत्र में सर्वोपरि है। इस कारण गृहस्थाश्रम का वरण करना धर्म की दृष्टि से आवश्यक है किन्तु ब्रह्मचारी इस आश्रम का त्याग कर नैष्ठिक ब्रह्मचारी का जीवन भी व्यतीत कर सकता और सारा जीवन ज्ञानार्जन तथा तत्त्वचिन्तन में लगा सकता है। ब्रह्मचारी को भोग-विलास की वस्तुओं की और बाह्य अलंकरणों से दूर रहने का आदेश है, यहां तक कि स्वच्छता के नियमों में भी अनेक को वर्जित किया गया है। संभवतः इस कारण कि इस जीवन का मुख्य लक्ष्य है भोगविलास और भौतिक आनन्द की कल्पना न करना, केवल विद्यार्जन में ही तल्लीन रहना। मन को अपने लक्ष्य में लगाने के लिये मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि जीवन के प्रत्येक कार्य से बनती है। इन्हीं भोगविलास और सुखदायी उपकरणों को, वस्त्रादि के अलंकरण को गृहस्थ के लिए विहित किया गया है, क्योंकि वहां यह आवश्यक मनोवैज्ञानिक वातावरण प्रस्तुत करने में सहायक है। इस प्रकार के ब्रह्मचारी को समाज में सम्मान का स्थान मिला है और वैसे ब्रह्मचारी की राजा प्रत्येक तरह से रक्षा करता है। उसकी सहायता और भरणपोषण समाज के सभी अंग करते हैं।

ऊपर कहा जा चुका है कि गौतमधर्मसूत्र में गृहास्थाश्रम को अन्य आश्रमों से अधिक महत्त्व दिया गया है। यह स्पष्टतः कहा गया है कि "ऐक्याश्रम्यं त्वाचार्याः। प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्यैव"। १. ३. ३५.। प्रायः सभी संस्कार इसी आश्रम में सम्पादित होते हैं और यही आश्रम मानवजाति के विकास के लिए उसकी प्रजनन की प्रवृत्ति को सन्तुलित और संयमित करने का आश्रम है। गृहस्थ का धर्म है: "देवपितृमनुष्यर्षिपूजकः" हो अर्थात् सभी उस पर आश्रित होते हैं। गृहस्थाश्रम समाज की पहली इकाई है और समाज का सही निर्माण इसी जीवन में

होता है। इसमें आचार के नियम बहुत व्यापक हैं। दान देना और अतिथि सत्कार करना तो गृहस्थाश्रम का मुख्य धर्म है। दुःखी, रोगी, निर्धन और विद्याध्ययन में रत व्यक्ति की सहायता करना इस आश्रम का परम मानवीय कर्तव्य है। गृहस्थ अपने आश्रितों का भरणपोषण करता है। वह अतिथि, बालक, रोगी, गर्भवती स्त्री, घर में रहने वाली पुत्रियों और बहनों तथा वृद्धों और सेवकों को भोजन देकर स्वयं भोजन करता है १. ५. २३ और इस प्रकार वह एक महान् पारोपकारमय जीवन जीता है। धर्मसूत्र में गृहस्थ के लिए शुद्धता के अनेक नियम दिये गये हैं। उसे स्नान और सुगन्धि के लेप से स्वयं को पवित्र रखने का आदेश दिया गया है। उसे दूसरों के वस्त्र आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए। अभावग्रस्त होने पर वह शुद्ध करके उपयोग कर सकता है। सामान्यतः उसे संयम का जीवन बिताना चाहिए और धर्म के अनुकूल अर्थ और काम का सेवन करना चाहिए। मानसिक पवित्रता रखनी चाहिए।

आश्रमव्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति का एक सामान्यधर्म है अतिथि का सत्कार और गुरु आदि श्रेष्ठ जनों का आदर। अतिथि की सेवा संन्यासी को भी करनी चाहिए १.३.२८ श्रोत्रिय अतिथि को अपने समान शय्या और आसन देना चाहिए। अपने से हीन अतिथि का भी अपने समान आदर करना सामान्य धर्म है। केवल अपने लिए पकाया हुआ भोजन धर्मसूत्र की दृष्टि में अभोज्य है। एक रात्रि रुकने वाला और मध्याह्नकाल में विश्राम के लिए आनेवाला व्यक्ति अतिथि होता है। श्रेष्ठजनों को आदर देना भी सामान्यधर्म है। माता-पिता का तो किसी भी दशा में अपमान नहीं करना चाहिए "न कर्हिचिन्माता-पित्रोरवृत्ति" ३. ३. १५। गुरुजनों के निकट किसी प्रकार की चपलता नहीं करनी चाहिए १. २. २२ इसके अतिरिक्त गुरु की सेवा का भी नियम बताया गया है। अभिवादन, संभाषण और शिष्टाचार के छोटे-छोटे दैनिक नियम भी धर्मसूत्रों ने बताये हैं। वृद्ध जनों का आदर उनके आचार के आधार पर करने का आदेश है और उनके अनुकूल आचरण करने को बताया गया है। "यत्त्वात्मवन्तो वृद्धाः सम्यग्विनीता दम्भ-लोभमोहवियुक्ता वेदविद आचक्षते तत्समाचरेत्।"

आत्मसम्मान को बनाये रखना और आत्मकल्याण के लिए उद्योग करना गृहस्थाश्रम में अनिवार्य कर्तव्य है। इसी लिए गृहस्थ को हमारे धर्मसूत्र में यह सलाह दी गयी है कि वह उत्तम और उद्यमी व्यक्तियों के साथ निवास करें, जहां जीवनोपयोगी वस्तुएं उपलब्ध हों वहां निवास करे १. ९. ६५। आत्मसम्मान की दृष्टि से बराबर दूसरे का अन्न न ग्रहण करे "नित्यमभोज्यम्" २. ८. ८ और न ही तिरस्कारपूर्वक या बिना मांगे दिया हुआ अन्न ग्रहण करे "भावदुष्टम् अयाचितम् च।" २. ८. १२। अपने को पीडित न करे और अपनी प्रतिष्ठा का निरन्तर ध्यान रखे। यह धर्मसूत्र का गृहस्थ के लिए सामान्य आदेश है।

अन्य आश्रमों के अन्तर्गत संन्यास या भिक्षु को गौतमधर्मसूत्र में महत्त्वपूर्ण माना गया है। वानप्रस्थ या वैखानस को केवल गृहस्थ और संन्यास आश्रमों के बीच की कड़ी कहा जा सकता है। जिस प्रकार गृहस्थाश्रम के लिए ब्रह्मचर्याश्रम विशेष तैयारी का समय है उसी प्रकार संन्यास के लिए तैयारी और

दीक्षा का समय है वानप्रस्थ। संन्यास नितान्त आध्यात्मिक उद्देश्य का आश्रम है। जिसका लक्ष्य है भौतिक जगत् के ऐन्द्रिक सुखों से विमुख होकर इन्द्रियों और मन को वश में करके निर्वेद की प्राप्ति। जीवन में भौतिकता और इन्द्रियसुख की प्रधानता का कहीं तो विराम होना चाहिए कहीं सीमा होनी चाहिए क्योंकि ये चिरस्थायी सन्तोष नहीं देते और तब यथार्थ तथ्य का बोधकर परम शान्ति की प्राप्ति ही जीवन की सार्थकता है। अतः इस आश्रमव्यवस्था में संन्यासी जीवन का आध्यात्मिक महत्व है, दार्शनिक महत्व है।

इस सुन्दर व्यवस्था के होते हुए भी धर्मशास्त्रियों के समय में इनका सही रूप से पालन होता था, इसमें सन्देह है, क्योंकि इन आश्रमों के विषय में धर्मशास्त्रकारों में मतभेद है, जो निश्चय ही व्यावहारिक कारणों से है। किसी भी स्थिति में संन्यास आश्रम सामान्यतः सभी व्यक्ति अपनाते होंगे, ऐसा भी नहीं माना जा सकता। वह तो दार्शनिकों का आश्रम है, तपस्वियों का आश्रम है। संन्यास के नाम पर अकर्मण्यता का जीवन धर्मशास्त्र को अभीष्ट नहीं है।

वर्णव्यवस्था—

भारतीय धर्म या संस्कृति की एक अद्वितीय विशेषता है वर्णव्यवस्था, इसके विषय में बहुत कुछ कहा गया है। कुछ विद्वानों ने तो इसकी प्रशंसा की है और कुछ ने इसके दोषों के ऊपर दृष्टिपात किया है। यह सभी मानते हैं कि मूलतः यह व्यवस्था बुरी नहीं थी। उसके पीछे मनुष्य के आचार और कर्म का विवेक था। इस प्रकार की सामाजिक विभाजन की व्यवस्था किसी न किसी रूप में सभी संस्कृतियों और देशों में मिल सकती है। समाज में भिन्न वर्गों का होना आवश्यक है किन्तु सभी मनुष्य समान उत्पन्न नहीं होते, सभी समान प्रतिभा और समान आदतों के साथ पैदा नहीं होते और समान कार्य नहीं करते। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में मानव समाज भिन्न प्रकार की श्रेणियों से बना है और उनमें सबका अपना महत्व है। वे सभी एक सामान्य लक्ष्य को सिद्ध करने में लगे हुए हैं।

"Society is an organism of different grades, and human activities differ in kind and significance. But each of them is of value so long as it serves the common end. Every type has its own nature which should be followed. No one can be at the same time a perfect saint, a perfect artist and a perfect philosopher. Every definite type is limited by boundaries which deprives it of other possibilities."

—Hindu View of Life, p. 127

किन्तु भारतीय धर्म के इतिहास में समाज के विभाजन का यह स्वाभाविक आधार शीघ्र ही लुप्त हो जाता है और यज्ञिय विधानों के विकास के साथ ही साथ एक वर्ग को जो मुख्यतः यज्ञ के सम्पादन और विद्याध्ययन में रत है बहुत अधिक प्रधानता मिल जाती है और देवों का स्थान मिल जाता है। परिणामतः

समाज में एक असन्तुलन का जन्म होता है और यह उच्च वर्ण अपने अधिकारों तथा उच्चस्थान के प्रति लोभी हो जाता है। वर्ण का आधार जन्म हो जाता है। जिस विशाल भव्य संस्कृति के प्रासाद की नींव सुदृढ सिद्धान्तों के ऊपर पड़ी थी उसमें शीघ्र ही दरारें पड़ जाती हैं और आगे चलकर उसपर जो भवन बनता है उसमें कुल मिलाकर परस्पर विरोधी बातें सर्वत्र ही भरी पड़ी दिखाई पड़ती हैं, एकरूपता नहीं हो पाती। शायद समाज के अग्रणी बुद्धिजीवी लोगों का सबसे बड़ा अपराध यह था कि मानव के व्यक्तित्व को न पहचानकर उसके किसी एक वर्ग के व्यक्तित्व का विकास न होने देना। और अपने पद का नाजायज फायदा उठाकर किसी दूसरे के व्यक्तित्व को पंगु बनाकर अपने अधिकार को कायम रखने से बढ़कर कोई सामाजिक पाप नहीं। हिन्दू समाज की बुराइयों का कारण मानव के भाग्य के साथ मानव का यह खिलवाड़ ही है। सभी अपने अपने कर्तव्य का ही ध्यान रखते तो शायद कोई बुराई न होती परन्तु यहाँ तो अधिकारों पर ही दृष्टि जम गयी और उन अधिकारों के लिए अपनी योग्यता को बनाये रखना जरूरी नहीं रह गया। "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः" की शुभकामना को व्यवहार में कम स्थान मिला। वर्णव्यवस्था की बुराइयाँ यहीं से आरम्भ होती हैं। यह सही है कि मनुष्य अपने वंशपरम्परा और वातावरण का गुणनफल होता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उसे वातावरण का परिवर्तन करके अपने व्यक्तित्व का विकास करने का अधिकार ही न रहे। एक विशेष कुल में जन्म लेने के कारण उसे पशु से भी निन्दित समझा जाय। अपने कुल या वंशपरम्परा की शुद्धता के लिए अपने योग्य व्यक्तियों से संबन्ध करना अच्छी और लाभदायक बात है किन्तु व्यक्ति को एक घेरे के भीतर कैद करना, उसमें हीनता की भावना भरकर उसे आश्रित और परतन्त्र बनाकर मानवीय अधिकारों से वंचित कर देना ईश्वर की सृष्टि के प्रति अन्याय है, घोर अपराध है, सामूहिक नरसंहार जैसा पाप है। भारतीयधर्म के अन्तर्गत वर्णव्यवस्था की कुछ बुराइयाँ ऐसी हैं जिन पर पर्दा नहीं डाला जा सकता और जिनके विषय में निश्चित रूप से कतिपय सुधार और परिवर्तन वांछनीय हैं। समय के साथ-साथ ये परिवर्तन हो भी रहे हैं और सामाजिक जीवन की समानता का बोध उत्तरोत्तर बढ़ रहा है।

वैदिक काल में वर्णव्यवस्था अपनी आरम्भिक अवस्था से चलकर पूर्णावस्था पर पहुँच जाती है। यजुर्वेद के काल तक यह पूरा रूप पा लेती है और धर्मसूत्रों में इसी व्यवस्था का अन्तिम रूप दिखाई पड़ता है। कुलों की पवित्रता के ध्यान से धर्मशास्त्रीय ग्रंथों में इस वर्णव्यवस्था के कठोर पालन करने का आदेश दिया गया है और प्रत्येक वर्ण के कर्म निश्चित कर दिये गये हैं जिनसे भ्रष्ट होना सामाजिक पतन का कारण होता है और ऐसा व्यक्ति सम्पत्ति आदि के अधिकार से वंचित हो जाता है। पिछले पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि इस वर्णव्यवस्था का कितना व्यापक प्रभाव है। छोटे-छोटे कर्मों में भी वर्णव्यवस्था के आधार पर पार्थक्य स्थापित किया गया है, जिसका कोई औचित्य नहीं दिखायी पड़ता है।

उदाहरण के लिए यज्ञोपवीत के समय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को आयु, दण्ड, आदि के अलावा भिक्षाचरण के लिए संबोधन का भी अलग-अलग नियम बताया गया है। और प्रायश्चित्त, अपराध और दण्ड, मृत्यु या जन्मविषयक अशौच भी वर्णानुसार निर्धारित किया गया है। वर्ण का विचार नैतिक भावना के ऊपर भी हावी होता दिखाई पड़ता है। भोजन और संभाषण के शिष्टाचार आदि में भी वर्ण के विचार को प्राथमिकता दी गयी है। वर्णव्यवस्था की इस कठोरता के बावजूद प्राणरक्षा और जीविका निर्वाह के लिए इसके उलङ्घन की भी अनुमति दी गयी है, किन्तु इस बात की चेतावनी दी गयी है कि दूसरे वर्ण के कर्म करते हुए भी उस वर्ण के निन्दित आचरण न अपनाये जायँ। साथ ही वर्ण के उत्कर्ष का भी सिद्धान्त बना दिया गया है जिसके अनुसार असवर्ण यौनसंबन्धों या विवाहों से उत्पन्न वर्णसंकर सन्तानें निरन्तर कई पीढियों तक उत्कृष्ट वर्ण के कर्म करते हुए उस उत्कृष्ट वर्ण की हो जाती हैं। यह तथ्य जीवविज्ञान और प्राणिशास्त्र के सिद्धान्तों से सिद्ध किया जा चुका है कि किस प्रकार कुछ पीढियों में, विशेषतः सात पीढियों में रक्त में परिवर्तन आ जाता है और मनुष्यजाति नयी हो जाती है, जिसमें अपने विशिष्ट लक्षण भी होते हैं। वर्ण के उत्कर्ष के पीछे कुछ इसी प्रकार का सिद्धान्त कितना वैज्ञानिक प्रतीत होता है। इस प्रकार यह भी देखने को मिलता है कि वर्णव्यवस्था का मूल आधार अब भी विचार में रखा जाता था और कर्म या आचार के अनुसार वर्ण के उत्कर्ष या अपकर्ष का नियम भी प्रचलित था, परन्तु इसे उतना महत्व नहीं था, जितना वर्णविषयक रूढियों का।

इसी प्रकार वर्णविषयक सहिष्णुता जीवनोपयोगी वस्तुओं के आदान के संबन्ध में भी है। आत्मपोषण के लिए आवश्यक वस्तुएँ किसी भी वर्ण से भी ग्रहण की जा सकती थीं। संन्यासी सभी वर्णों के यहाँ से भिक्षा ग्रहण कर सकता था। इसी प्रकार ब्रह्मचारी भी भिक्षा सभी वर्ण के गृहस्थों से ले सकता था। किन्तु इससे यह भी लगता है कि ऐसे उल्लेखों में शूद्र वर्ण धर्मशास्त्रों में अभिप्रेत नहीं है। दूध, दही, फल, मधु, मृगमांस, शाक, भुना हुआ अन्न, आदि किसी भी वर्ण के व्यक्ति से लिया जा सकता है, शूद्र से भी ये वस्तुएं ली जा सकती हैं। गौ० ध० सू० २. ८. ३. यदि किसी अन्य प्रकार से वृत्ति न चले तो शूद्र से जीवननिर्वाह की वस्तु ली जा सकती है: "वृत्तिश्चेन्नान्तरेण शूद्रम्"। में भी कुछ दैनिक जीवन में संबन्धित रहने वाले शूद्र के घर भोजन किया जा सकता है: जैसे नाई, चरवाहा, कुलपरम्परा के मित्र, हलवाहा, परिचारक, आदि: "पशुपालक्षेत्रकर्षककुलसंगतकारयितृपरिचारका भोज्यान्नाः।" २. ८. ६। यज्ञ के समय अब्राह्मण को भी अतिथि के समान सत्कार का अधिकारी माना गया है। इन उल्लेखों से धर्मसूत्र के समय में भी थोड़ी वर्ण विषयक सहिष्णुता के दर्शन होते हैं।

शूद्र की स्थिति—

धर्मशास्त्रों का अवलोकन करते समय वर्णव्यवस्था के संबन्ध में जो बात सबसे अधिक खटकने वाली है वह है शूद्र के प्रति उनका अन्याय और भर्त्सना

से भरा हुआ दृष्टिकोण। वैदिक काल में धर्मसूत्रों से पूर्व ही शूद्र इच्छानुसार पीटा और मारा जाने वाला तथा केवल सेवावृत्ति में नियुक्त किया जाने वाला (यथाकामवध्यः, कामोत्ताप्यः, अन्यस्य प्रेष्यः)। बताया गया है। उसके जीवन की यह नगण्य स्थिति धर्मशस्त्रों में और भी अधिक तुच्छ बन जाती है और वह अपने समूचे अधिकारों से वंचित होकर दास मात्र बन कर रह जाता है। पिछले पृष्ठों में इस बात पर प्रकाश डाला जुका है कि पाप और प्रायश्चित्त, दण्ड और अपराध, अशौच तथा यौनविषयक नैतिकता के संबन्ध में शूद्र के प्रति कितना अन्याय बरता जाता था। गौतमधर्मसूत्र २. १. ६४ में शूद्र का यही धर्म बताया गया है कि वह उच्चवर्णों के लोगों की सेवा करे, द्विजातियों का जूठा भोजन करे और उन्हीं के लिए धन का संचय करे। "तदर्थोऽस्य निचयः स्यात्।" वह कभी भी उच्चवर्ण के समकक्ष होने का साहस न करे। उनके समान मार्ग पर न चले और उनसे बात भी न करे। उनके समान आसन पर बैठने के लिए उसे कठोर दण्ड मिलने का विधान है। इसी प्रकार वह यदि ब्राह्मण का अपमान करता है तो उसकी जीभ, या प्रहार करता है तो शरीर का अंग ही काट देने का दण्ड है। जब कि इन्हीं अपराधों के लिए ब्राह्मण को कोई दण्ड नहीं। शूद्र की पत्नी के साथ उच्चवर्ण के लोग व्यभिचार करें तो उससे केवल कुछ प्रायश्चित्त करना था किन्तु शूद्र को ऐसा व्यभिचार उच्चवर्ण की स्त्री के साथ करने पर जीवन से हाथ धोना पड़ता था। इसी प्रकार वेद का अध्ययन तो दूर रहा, उसका श्रवण भी निषिद्ध था और सुन लेने पर उसका कान सीसें और जस्ते से भर दिया जाता था। शूद्र के वध के प्रायश्चित्त पर दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि धर्मसूत्र की दृष्टि में शूद्र का महत्त्व पशु से भी कम है। उच्चवर्ण के व्यक्तियों के साथ किसी भी प्रकार समानता प्राप्त करने की इच्छा करने पर वह दण्ड का ही भागी होता था : "आसनशयनवाक्पथिषु समप्रेप्सुर्दण्ड्यः।"

अस्पृश्यता का बहुत कुछ विकास धर्मग्रन्थों में मिल जाता है, यद्यपि उसका अपवाद भी यत्रतत्र मिलता है। गौतमधर्मसूत्र के अनुसार शूद्र का लाया हुआ जल दूषित हो जाता है और आचमन आदि के योग्य नहीं रह जाता। १. ९. १२। किन्तु ऊपर के कुछ उदाहरणों से वर्णविषयक सहिष्णुता का निर्देश भी किया जा चुका है। अन्य कतिपय आचार्यों ने सामान्यतः शूद्र का भोजन ग्रहण करने को बुरा नहीं माना है मनु ४।२११। प्रायः अस्पृश्यता का कारण पतित होना या महापातक कर्म करना होता था। चाण्डाल जाति के अस्पृश्य होने का उल्लेख है। इसी प्रकार शूद्रा से उत्पन्न पुत्र अस्पृश्य माना गया है। उनका दर्शन, स्पर्श और प्रतिग्रह वर्जित है। १. ४. २२–२३ इसी प्रकार प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न निम्नवर्ण के पुरुष और उच्चवर्ण की स्त्री से उत्पन्न पुत्र धर्महीन और पतित एवंअस्पृश्य कहे गये हैं : "प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः।"

प्रायः शूद्र के लिए धार्मिक संस्कार विहित नहीं है, और केवल एक आश्रम गृहस्थाश्रम ही विहित है। अतः कुछ आचार्यों ने उसके लिए पञ्चमहायज्ञ का विधान किया है। "पाकयज्ञैः स्वयं यजेत्" गौ० ध० सू० २. १. ६७। किन्तु शूद्र

के लिए भी आचार का विधान है। वह भी आश्रित जनों का भरण-पोषण करे। सत्यभाषण करे और क्रोध न करे पवित्रता के नियम का पालन करे। "तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचम्"। २. १. ५२। इसी प्रकार शूद्र श्राद्धकर्म भी करे। "श्राद्धकर्म" २. १. ५४। अपनी ही पत्नियों में अनुरक्त हो और एक पत्नीव्रत का पालन करे। "स्वदारवृत्तिः" २. १. ५६। शूद्र, की स्थिति में दासप्रथा का पूरा संकेत मिलता है। शूद्र परतन्त्र है, उसे स्वामी की हर हालत में सेवा करनी है। उसके छोटे वस्त्र आदि का ही उपयोग करना है। वैश्वदेव आदि पूजाकर्म में देवता का नाम लेकर नमोनमः कहना ही मन्त्र है। उसे अनार्य कहा गया है, जब कि उससे उच्चवर्ण को आर्य नाम से अभिहित किया गया है, इनके कार्यों में किसी प्रकार की उलटफेर नहीं होनी चाहिए। २. १. ६९।

ब्राह्मण के विशेषाधिकार—

राजा और विद्वान् ब्राह्मण ही व्रतों के कर्म को धारण करने वाले हैं। लोककल्याण और अनुचित कर्म का दण्ड देने के लिए सबको इनके अधीन कर दिया गया है। ब्राह्मण का स्थान राजा से भी बढ़कर है और वह सभी द्वारा पूज्य है। अन्य व्यक्तियों के समान उसे दण्ड नहीं मिलते। वही शारीरिक दण्ड से मुक्त है। राजा उसे छः प्रकार के दण्डों से मुक्त रखता है। वह पीटा नहीं जा सकता, वह हथकड़ी-बेड़ी से बाँधा नहीं जा सकता, उसे धन-दण्ड नहीं मिलना चाहिए, ग्राम या देश से निकाला नहीं जाना चाहिए, उसकी भर्त्सना नहीं होनी चाहिए और उसका त्याग नहीं किया जाना चाहिए "अवध्यश्चाब-न्ध्यश्चादण्ड्यश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्चेति।" गौतमधर्मसूत्र १. ८. १३। किन्तु यह सब छूट या विशेषाधिकार क्यों? इसे प्राप्त करने के लिए उस ब्राह्मण की योग्यतायें विचारणीय हैं। ये सारी सुविधायें और विशेषाधिकार नियमतः उस ब्राह्मण को मिलनी चाहिए जो अपने कर्म में रत हो और सभी संस्कारों से संस्कृत, हो उत्तम एवं आदर्श आचरण वाला हो, केवल धर्म का ज्ञान ही न रखता हो, उसका आचरण करता हो "तदपेक्षस्तद्वृत्तिः" १. ८. ७। जिस ब्राह्मण को राजा अपने से श्रेष्ठ आसन पर बैठाता है वह वस्तुतः अपने आचरण और विद्या आदि से उसके योग्य होना चाहिए। अपने मन्त्री या पुरोहित के रूप में वह कैसे ब्राह्मण का चयन करता है: "विद्याभिजनवाग्रूपवयः शीलसंपन्नं न्यायवृत्तं तपस्विनम्। विद्या में निष्णात, धर्म के ज्ञाता, शीलवान्, न्यायप्रिय और तपस्वी। यदि ऐसे ब्राह्मण को विशेषाधिकार मिलते हैं तो किसी को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। समाज की व्यवस्था करने वाले और सबको सही मार्ग पर प्रेरित करने वाले चिन्तक और विचारक को सबसे बढ़कर सम्मान मिलना ही चाहिए, मिलता ही है। ऐसे ब्राह्मण को किसी के अधीन रखना लोककल्याण की दृष्टि से बुरा होगा और वह उसका पूरा उपयोग नहीं हो पायगा, क्यों कि उसे धर्मकार्य करने कराने की सुविधा नहीं होगी। इसी लिए ब्राह्मण, उपर्युक्त प्रकार का ब्राह्मण राजा के अधीन नहीं होता और करों

आदि से मुक्त होता है, क्यों कि वह जो भी पुण्यकर्म करता है उसका लाभ राजा को भी मिलता है।

वास्तविक ब्राह्मण की योग्यता पर श्राद्धकालीन भोजन के प्रसंग में भी विचार किया गया है। उन योग्यताओं और अयोग्यताओं की विस्तृत सूची देखने से यह स्पष्ट हो जायगा कि ब्राह्मण वही है जो उत्तम आचरण करता है। आचरण से च्युत होने पर वह ब्राह्मण भोजन का अधिकारी भी नहीं है। सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला और सदाचार का पालन करने वाला ही ब्राह्मण समझा जाना चाहिए। यदि हम धर्मशास्त्रों की या भारतीय संस्कृति की ब्राह्मण की इस परिभाषा और अर्हता पर विचार करें तो ब्राह्मण से, विद्वान् और सदाचारी, संयमी और गुणवान् से कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। श्रोत्रिय ब्राह्मण को तो सबसे उच्च स्थान दिया गया है जो स्पष्टतः उसकी योग्यता और सामाजिक जीवन में महत्ता के कारण है।

किन्तु मौलिक रूप से ब्राह्मण को जिन कारणों से सर्वोच्च स्थान और अनेक विशेषाधिकार दिये गये थे, वे कालान्तर में वर्णव्यवस्था के रूढ़ और कठोर होने के साथ ही कम विचारणीय होते गये और ब्राह्मण केवल ब्राह्मण कुल में जन्म के आधार पर सम्मान और विशेषाधिकार के लोभी हो गये जिससे समाज में अन्याय और विषमता को स्थान मिला। बड़े से बड़े अपराध के लिए केवल देशनिष्कासन और प्रायश्चित ही उसके लिए दण्ड था, जब कि उसके विद्वान् होने के कारण अधिक दण्ड मिलना ही उचित ठहराया गया है। महापातक कर्मों के लिए केवल शरीर पर चिह्न लगाकर उसे बहिष्कृत किया जाता था। समान ही अपराध के लिए उससे निम्न वर्ण वालों को उससे अधिक दण्ड मिलता था। उसके वध का पाप सबसे बड़ा पाप था। उसे मिला हुआ धन उसकी सन्तान का हो जाता था। उसके बिना उत्तराधिकारी के मरने पर उसका धन श्रोत्रिय ब्राह्मणों को मिलता था ३, १०, ३९ और उसे कोई अब्राह्मण साक्षी के रूप में नहीं बुला सकता था। इनके अतिरिक्त भी ब्राह्मण को नैतिकता के नियमों की अवहेलना करके भी अनेक विशेषाधिकार केवल ब्राह्मण होने के नाम पर मिलने का संकेत भी धर्मसूत्र में दिखाई पड़ते हैं।

राजा और लोकव्यवस्था—

धर्मसूत्र के अनुसार राजा का कार्य है न्यायपूर्वक दण्ड देना २. १. ८ और दण्ड देकर पथ से विचलित लोगों को पुनः पथ पर लाना। वह विपरीत आचरण वाले को संभालता है। और गुरु भी धर्म के विपरीत कार्य करे तो वह उसे मार्ग पर चलने का आदेश दे सकता है। किन्तु राजा ब्राह्मण के ऊपर शासन नहीं करता वह उसकी सहायता से शासन करता है और उससे परामर्श लेकर धर्म का विधान जानकर न्याय करता है। राजा ब्राह्मण के अतिरिक्त सबका स्वामी होता है "राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्।" २. २. १। ब्राह्मण की प्रेरणा से कार्य करने वाला राजा समृद्धिशाली होता है।

"ब्रह्मप्रसूतं हि क्षत्रमृध्यते न व्यथत इति च विज्ञायते।" २. २. १४। राजा सबका रक्षक होता है और सबकी रक्षा के लिए वह युद्ध करता है। ब्राह्मण यदि धर्म का विधान करने वाला है तो राजा उसका पालन कराने वाला है। इन दोनों के समन्वय से ही लोक की रक्षा होती है और सभी अपने उचित मार्ग पर चलते हैं। यदि राजा अपने कर्म में अयोग्य है और धर्म का पालन नहीं करता तो वह पाप का भागी होता है। दण्ड न देने पर राजा ही पापी होता है। इसी प्रकार यदि व्यवहार में राजा अन्याय करता है तो धर्म की हानि होने से सभी को पाप लगता है--साक्षियों को, न्यायकर्ता को, सभासदों को और राजा को भी। साक्षिसभ्यराजकर्तृषु दोषो धर्मतन्त्रपीडायाम्। २. ४. ११। राजा को समाज में बहुत सम्मान प्राप्त है और वह मधुपर्क द्वारा पूज्य होता है। ब्राह्मण भी उसे उचित सम्मान प्रदान करता है।

धर्मशास्त्रों की लोकव्यवस्था जनतांत्रिक प्रतीत होती है। राजा निरंकुश नहीं है, अपितु वह धर्म के लिए ब्राह्मण पर या योग्य विधिवेत्ताओं पर निर्भर है। न्याय व्यवहार की व्यवस्था और प्रक्रिया तो बहुत ही जनतांत्रिक है और दण्ड देने के पूर्व अपराध के प्रत्येक पहलू पर विचार किया जाता है। न्याय हो, अन्याय न हो यही दण्डव्यवहार का मुख्य लक्ष्य बारबार दुहराया गया लगता है। साक्षी के सत्य भाषण पर बहुत महत्व दिया गया है और उसके असत्यभाषण का पाप और बहुत अधिक बताया गया है। इसी प्रकार परिषद् के निर्णय मान्य ठहराये गये हैं जो एक की प्रकार पंचायत थी। अपने-अपने कर्म में उस कार्य के करने वाले सदाचारी व्यक्तियों के निर्णय को मान्य ठहराया गया है :

"कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे।" २. २. २१। इसी प्रकार राजा को परामर्श दिया गया है कि पेचीदे मामलों में वह अनुभवी और जानकार लोगों की राय लेकर निर्णय करे : "विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत्" २. २. २५।

इस प्रकार कुल मिलाकर धर्मसूत्र की लोकव्यवस्था बहुत ही समन्वयपूर्ण है। समाज के विभिन्न वर्गों में जिस सहयोग का विधान किया गया है वह एक उत्तम उद्देश्य की सिद्धि में सहायक है। ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य वर्ण के लोग क्षत्रिय और वैश्य अपने-अपने कर्म में लगकर धर्म, अर्थ, काम की साधना करें यही सबके लिए धर्मशास्त्र को अभीष्ट है। सभी अपने कर्म में रत हों और सभी अपने योग्य कार्य करें। समाज में सामंजस्य हो और सब मिलकर एक पूर्ण समाज का निर्माण, विकास करें और यही धर्म के अन्तर्गत की गयी वर्णव्यवस्था का मूल उद्देश्य है। परस्पर सहिष्णुता, समन्वय और सहयोग की तथा मानवता की भावनायें ही समाज का उद्धार कर सकती हैं। भारतीय धर्म के इन कल्याणकारी सन्देशों को ग्रहण करके बुराइयों को दूर करके उन्हें भूल जाना ही धर्म का वर्त्तमान लक्ष्य होना चाहिए।

गौतमधर्मसूत्र में नारी

"अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री"। २.९.१ अर्थात् पति का अनुसरण करना ही स्त्री का धर्म है, वह धर्म में स्वतन्त्र नहीं होती। धर्मसूत्र में नारी के धर्म का मूलमन्त्र यह सूत्र ही है। स्त्री पति पर आश्रित रहे और उसका अनुसरण करे इस कथन में धर्मसूत्र कोई नवीनता नहीं प्रस्तुत करते। बार-बार और विशेष बल उसके पुरुषसंबन्ध-विषयक आचरण पर दिया गया है। गृह्यकर्म में और धार्मिक क्रियाओं में गृहिणी की हैसियत से, सहधर्मिणी की हैसियत से, वह गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित है, किन्तु उसके इस रूप के विषय में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं है। जहाँ तक पारिवारिक या सामाजिक जीवन में नारी के स्थान का प्रश्न है उसके जीवन का लक्ष्य है पुत्र या सन्तान की उत्पत्ति। पुत्र और सुयोग्य पुत्र की कामना और उसकी अनिवार्यता धर्मशास्त्र की दृष्टि में केवल लौकिक या व्यावहारिक दृष्टि से ही नहीं व्यक्त की गयी है अपितु एक पारमार्थिक या पारलौकिक दृष्टि से भी पुत्रप्राप्ति गृहस्थाश्रम का लक्ष्य बतायी गयी है, क्योंकि सुयोग्यपुत्र वंश की कई पढ़ियों के पाप धो डालता है और अपने पूर्वजों को भी स्वर्ग की प्राप्ति कराता है। "पुनन्ति साधवः पुत्राः" आदि गौ० ध० सू० १. ४. २४-२७। यह धर्मसूत्र की अपनी कथनशैली है। वस्तुतः इसे यही कहना है कि कुल की पवित्रता और मर्यादा सर्वोपरि है।

धर्मसूत्र की दृष्टि में स्त्री का महत्व इसलिए है कि वह माँ है, सन्तान की जननी है और तभी तो धर्मसूत्र इस का स्पष्ट संकेत करता है कि सभी श्रेष्ठ जनों में माता सबसे बढ़कर है। "आचार्यश्रेष्ठो गुरूणां मातेत्येके" १. २. ५६।

पवित्र सन्तान के लिए स्त्री की पवित्रता अनिवार्य है और इस पवित्रता का संबन्ध कुल की शुद्धता, वैवाहिक संबन्ध की धर्मसम्मतता, और आचरण की श्रेष्ठता से है। सन्तान के जीवन विकास में माता का प्रभाव और योगदान सबसे अधिक होता है और इसी कारण धर्मसूत्र नारी की पवित्रता पर बहुतः गौरव देते हैं। गृहस्थ के लिए, धर्म की रक्षा के लिए तथा जीवन एवं समाज के सन्तुलन के लिए विवाह एक अनिवार्य और श्रेष्ठ व्यवस्था है, अतः धर्मसूत्र विवाह के प्रकार, योग्यता, और वैधता पर विस्तार से विचार करता है। गौतमधर्मसूत्र में भी पत्नी की योग्यता, उसके भिन्न प्रवर के होने, मातृ एवं पितृपक्ष से रक्तसंबध से दूर होने का विचार करके विवाह के भिन्न भेदों पर दृष्टिपात किया गया है और ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष और दैव विवाहों को धर्मसंमत ठहराया गया है। चत्वारो धर्म्याः प्रथमाः। १. ४. १२। अर्थात् वेद के विद्वान्, उत्तम आचरण वाले और एकपत्नीव्रत का पालन करने वाले, अभिभावक द्वारा चुने गये या ऋत्विज वर के साथ कन्या का विवाह श्रेष्ठ है। किन्तु अन्य प्रकार के भी विवाह प्रचलित थे और उनमें या तो युवक और युवती के पारस्परिक प्रेम संबन्ध को या वर एवं कन्या पक्षों के बीच धन का आदान-प्रदान को अथवा पुरुष द्वारा कन्या प्राप्ति के लिए बलप्रयोग को निमित्त बताया गया है। धर्मसूत्र विवाह में इस प्रकार की

स्वच्छन्दता की अनुमति नहीं देते। हां, कुछ धर्मशास्त्रों में प्रेम या धनदान के निमित्त द्वारा कन्या प्राप्त करके किये गये विवाह को उचित ठहराया गया है इसका संकेत गौतमधर्मसूत्र में किया गया है १. ४. १३।

विवाह की अनिवार्यता पर धर्मसूत्रकार ने इतना बल दिया है कि वह अपनी सभी वर्णविषयक कठोरता को भी भूल जाता है, वह व्यवहार और सिद्धान्त के बीच उलझा सा दिखाई पड़ता है और विवाह के लिए काफी स्वतन्त्रता दे देता है। सवर्णविवाह को श्रेष्ठ बताने के साथ ही वह अनुलोम विवाहों अर्थात् वर से निम्न वर्ण की कन्या के विवाहों को धर्मसंमत करता है, जिससे स्पष्ट है कि वैवाहिक संबन्ध में वर्ण अभी उतना अवरोध नहीं बना था। ब्राह्मण का शूद्र वर्ण की कन्या को पत्नी के रूप में ग्रहण करना धर्मसूत्र को स्वीकार है। १. ४. १४। प्रतिलोम विवाह भी समाज में चलते दिखाई पड़ते हैं, धर्मसूत्र को केवल इस प्रकार के विवाहों से उत्पन्न पुत्रों के ही प्रति सहानुभूति नहीं है। वह उन्हें कोई धार्मिक स्थान समाज में नहीं देता, किन्तु इस बात का मार्ग खुला रखता है कि धर्माचरण से वे अपनी उन्नति करें, उनके वर्ण का उत्कर्ष भी हो सकता है। गौतमधर्मसूत्र प्रतिलोम विवाह पर आघात करने के विचार से ही इस प्रकार से उत्पन्न पुत्र के विषय में कहता है : "प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः" और यह भी कहता है कि शूद्रा स्त्री से उत्पन्न पुत्र धर्महीन होता है और शूद्र से उत्पन्न पुत्र पतित होते हैं। उनका दर्शन, स्पर्श और प्रतिग्रह वर्जित है। १.४.२२–२३। किन्तु सम्पत्ति में ऐसे पुत्र को भी अंश मिलता था ३. १० ३७। तथा ब्राह्मण के चारों वर्णों की पत्नियों से उत्पन्न पुत्रों में वर्णानुसार सम्पत्ति का विभाजन होता था। ये बातें इस तथ्य की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं कि विवाह के लिए वर्ण के अवरोध की कठोरता में भी नरमी आ सकती थी।

इस विवाह की अनिवार्यता के कारण ही हमारा धर्मसूत्र विवाह योग्य लड़की को यह सुझाव देता है कि यदि उसके माता-पिता उसका विवाह यथासमय नहीं कर देते तो वह स्वयं पिता से प्राप्त अलंकारों का परित्याग करके अपने अनुकूल युवक से विवाह कर ले।

"त्रीन्कुमार्यृतूनतीत्य स्वयं युज्येतानिन्दितेनोत्सृज्य पित्र्यानलंकारान्" २. ९. २० विवाह कर्म के लिए समाज के निम्नतम वर्ण से भी, शूद्र वर्ण से व्यक्ति के भी और अपने वर्ण के अनुरूप कार्य न करने वाले से भी धन लिया जा सकता है : "द्रव्यादानं विवाहसिद्ध्यर्थं धर्मतन्त्रसंयोगे च शूद्रात्" २. ९. २४।

गौतमधर्मसूत्र की दृष्टि में स्त्री के लिए विवाह इतना अनिवार्य है कि सूत्रकार का तो यह मत है कि लड़की जब लज्जा का अनुभव करके वस्त्र पहनने की ओर ध्यान देने लगे तभी उसका विवाह कर देना चाहिए।

विवाह के प्रमुख लक्ष्य सन्तानप्राप्ति के लिए जिस स्त्री को धर्मसूत्र यह आदेश देता है कि वह अपने पति के अतिरिक्त किसी दूसरे के विषय में सोचे भी नहीं। "नातिचरेद्भर्तारम्" गौ० धर्म० सू० २. ९. २। और वाणी, नेत्र और कर्म का संयम

रखे, उसे पति की मृत्यु पर, उसके सन्तानोत्पत्ति के लिए अयोग्य होने पर दूसरे पुरुष से यौवनसंबन्ध से पुत्र उत्पन्न करने का विधान करता है। अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात्। २. ९. ४। सन्तानोत्पत्ति एक पुण्य कर्म है, धर्म है और धर्मसूत्र की दृष्टि में नैतिकता की भावना इस धर्म के अधीन है। धर्मसूत्र की दृष्टि में स्त्री और पुरुष के संबन्धों का मुख्य प्रेरक धर्म होना चाहिए काम नहीं। इस धर्म की छाया में नारी को धर्मसूत्र ने यथोचित गौरव दिया है, परिवार और समाज में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। आचार्य की पत्नी आचार्य के समान पूज्य है और उसका नाम न लेने का आदेश दिया गया है :

"आचार्यतत्पुत्रदीक्षितनामानि" १. २. २५। एवं उसका चरणस्पर्श शिष्य के लिए विहित है। विप्रोष्योपसंग्रहणं गुरुभार्याणाम्" १. २. ३९।

किन्तु हमारे धर्मसूत्र में नारी का एक और भी रूप आता है, जब वह किसी भी प्रकार के सम्मान की अधिकारिणी न होकर केवल मनुष्य की एक सम्पत्ति बना दी गयी है। विवाह के पवित्र बन्धन के अलावा उसका एक और भी रूप है, जिस रूप में वह सामान्य मानवोचित न्याय भी पाने की अधिकारिणी नहीं रह गयी है। उदाहरण के लिए सेवावृत्ति करने वाली निम्नवर्ण की दासी एक चल सम्पत्ति दिखाई देती है, उसे खरीदा और बेचा जा सकता है, बन्धक रखा जा सकता है. और उत्तराधिकार में प्राप्त किया जा सकता है। इन बातों का संकेत गौतमधर्मसूत्र १. ७. १४ 'पुरुषवशाकुमारीवेहतश्च नित्यम्' तथा १. ७. १६ 'नियमस्तु' में मिलता है। दासी के विषय में विवाद का प्रश्न शीघ्र हल होना चाहिए २. ४. २९ इससे ऐसा पता चलता है कि दासी को लेकर उस समय झगड़े खड़े हो जाते थे और उसका न्यायालय द्वारा निर्णय होता था। बन्धक रखी हुई दासी के विषय में तो बड़ी रोचक बात यह है कि वह जिसके पास बन्धक रखी गयी हो उसके द्वारा भोगी जा सकती है—'पशुभूमिस्त्रीणामनतिभोगः' पृ० २. ३. ३६। इस सूत्र की टीका में हरदत्त ने इसका औचित्य यह कह कर ठहराया है कि अपने घर में रखी हुई काम आने योग्य वस्तु रोज-रोज दिखाई पड़े तो कोई कब तक परहेज और संयम करेगा :

"कथमनन्तरगृहे दृश्यमानां गां स्वयं तक्रादि क्रीत्वोपयुञ्जान उपेक्षेत,
कथं वा बहुफलमारामं, कथं वा दासीं यौवनस्थामन्वहं परिचारिकाम्।"

दूसरा उदाहरण है वेश्या और व्यभिचारिणी स्त्री का, जिनका उल्लेख भी धर्मसूत्र में मिलता है। धर्मसूत्रकार की दृष्टि में ऐसी स्त्री के जीवन का कोई मूल्य नहीं। उसका वध कर देने पर भी कोई प्रायश्चित्त करने की जरूरत नहीं पड़ती, अधिक से अधिक एक नीलवृष का दान दे दिया और उसके वध के पाप से छुट्टी मिल गयी। ब्रह्मबन्ध्वां चलनायां नीलः। वैशिकेन किंचित्। ३. ४. २६, २७।

धर्मसूत्र की दृष्टि में नारी को जो कुछ संमान प्राप्त है उसके दो आधार हैं—वर्ण और आचरण। निम्नवर्ण की स्त्री के साथ संवन्ध की मनमानी बरती जा सकती है किन्तु उच्चवर्ण की स्त्री के साथ संबन्ध रखने पर उसके भीषण और

रोमांचकारी परिणाम बताये गये हैं। और कठोर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। जिस बात पर धर्मसूत्र बार-बार जोर देता है वह है स्त्री का आचरण और आचरणहीन स्त्री की प्रत्येक अवसर पर निन्दा की गयी है। ऐसी स्त्री का अन्न अभक्ष्य होता है २. ८. १७ पृ० १८३। पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष से संबन्ध रखने वाली स्त्री को एक वर्ष तक कठोर व्रत का जीवन बिताने का नियम है, जिस समय में उसे निन्दित और बहिष्कृत सी होकर अपने पाप का प्रायश्चित करना होता है। जानबूझकर गर्भपात करना भी एक ऐसा कर्म है जो स्त्री को पतित बना देता है और ऐसी स्त्री की दृष्टि यदि भोजन पर पड़े तो भोजन खाने योग्य नहीं रह जाता २. ८. ११। और भ्रूणहत्या करने वाली एवं अपने वर्ण से निम्नवर्ण के पुरुष के साथ संबन्ध वाली स्त्री घोर पातकी होती है : "भ्रूणहनि हीनवर्णसेवायां च स्त्री पतति" ३. ३. ९।

किन्तु धर्मसूत्रकरों की भ्रूभंगपूर्ण कठोर दृष्टि के बावजूद भी समाज में स्त्री पुरुष संबन्ध की स्वच्छन्दता चलती रहती हैं, इसे भी स्वीकारा गया है और नाजायज संबन्ध से उत्पन्न पुत्रों का उल्लेख अनेक स्थलों पर किया गया है। सम्पत्ति के उत्तराधिकार के सन्दर्भ में गूढोत्पन्न पुत्र, जो स्पष्टतः चोरी-छिपे अनुचित संबन्ध से उत्पन्न होता था तथा अविवाहिता स्त्री के पुत्र कानीन को भी सम्पत्ति में अधिकारी बताया गया है। इसी प्रकार विवाह व्यवस्था की कोठरता और पवित्रता के नियमों के बावजूद भी विवाह में स्वच्छन्दता थी, एक पति का परित्याग कर स्त्री दूसरा विवाह कर सकती थी ३. १० ३१। पृ० २८५। पर दो बार और गर्भवती के भी दूसरे पुरुष से विवाह करने का उल्लेख है। कुल मिलाकर यह स्पष्टतः प्रतीत होता है कि धर्मसूत्र एक पुरुष का एक स्त्री के साथ ही और एक स्त्री का एक ही पुरुष के साथ संबन्ध को सीमित करने पर महत्व देता है, हलां कि समाज में उसके मान्य विचारों के विपरीत स्थिति भी व्याप्त है।

नारी पर सर्वाधिक दृष्टिपात यौनविषयक नैतिकता के सन्दर्भ में किया गया है। स्त्री-पुरुष के यौनसंबन्धों के विषय में नैतिक-अनैतिक का विचार तो इतना किया गया है कि कहीं-कहीं धर्म का एक यही नारा सुनाई पड़ता है "स्त्री से बचो"। धर्मसूत्रकार की मनोवैज्ञानिक दृष्टि कभी-कभी तो फ्रायड जैसी लगती है और वह पुरुष के असामान्य यौनाचारों पर भी नियम बनाने की आवश्यकता अनुभव करता है। ३. ४. ३६ पृ० २३४। यह ठीक है कि धर्माचरण के लिए कामभावना को संयमित करना आवश्यक है, परन्तु प्रत्येक अवसर पर कामुकता का भय उस प्रवृत्ति की ओर संकेत करता है जिससे समाज में दूसरी ओर धर्म की अपेक्षा काम को ही प्रश्रय मिलता है और कामसूत्र जैसे ग्रंथों की रचना की पृष्ठभूमि बनती है। धर्मसूत्र ब्रह्मचर्य को बड़ा तप मानता है पृ० २०४। और ब्रह्मचर्य धर्माचरण का आवश्यक अंग है। विद्यार्थी जीवन में इस व्रत का बड़ी कठोरता से पालन करने का आदेश बार-बार दिया गया है। हमारे धर्मसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचारी को किसी स्त्री पर दृष्टिपात नहीं करना चाहिए, इससे कामभावना के उत्तेजन की आशंका रहती है—

"स्त्रीप्रेक्षणोलम्भने मैथुनशंकायाम्" १. २. २२ यहां तक कि यदि गुरुपत्नी भी युवती हो तो उसका चरण नहीं छूना चाहिए "नैके युवतीनां व्यवहारप्राप्तेन" १. २. ४० । ब्रह्मचर्य में स्त्रीसंबन्ध के त्याग पर इतना बल दिया गया है कि ब्रह्मचर्य मैथुनत्याग का पर्यायवाची हो जाता है और उसके अन्य आचरण गौण हो जाते हैं। सामान्यतः कुमारी लड़की पर दृष्टिपात करना निषिद्ध बताया गया है और उनके आलिंगन का स्पष्ट निषेध किया गया है।

स्त्री के साथ अनुचित संबन्ध के लिए प्रायश्चित्त एवं दण्ड का विधान भी उस स्त्री के उच्च वर्ण के होने के आधार पर किया गया है। शूद्र की स्त्री के साथ कोई अनुचित यौनसंबन्ध रखे तो वह कोई बड़ा पाप नहीं है, किन्तु साथ ही साथ सामान्य रूप में परस्त्रीगमन के लिए दो वर्ष के प्रायश्चित्त का विधान है तथा श्रोत्रिय ब्राह्मण की पत्नी के साथ व्यभिचार के लिए तीन वर्ष का ब्रह्मचर्य बताया गया है। ३. २. २९, ३०। समाज में सबसे ऊंचा स्थान गुरु का है और गुरुपत्नीगमन सबसे बड़ा पातक है। उसके लिए घोर प्रायश्चित्त करने का नियम बताया गया है। और ऐसे पातकी के पाप तभी दूर होते हैं जब वह लोहे की अग्नि में तपने से लाल बनी हुई स्त्रीप्रतिमा का आलिंगन करके या अपनी जनेन्द्रिय आदि का उच्छेद कर नैऋर्त्य दिशा में चलते-चलते मृत्यु प्राप्त करते हैं। निकटसंबन्धवाली स्त्री के साथ व्यभिचार के लिए भी इसी प्रकार का प्रायश्चित्त बताया गया है। किन्तु दूसरी ओर कुछ आचार्यों के इस मत का उल्लेख भी किया गया है कि गुरुपत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्रियों के साथ अनुचित संबन्ध होने पर महापातक नहीं होता। न स्त्रीष्वगुरुतल्पं पततीत्येके। वर्ण के अतिरिक्त रक्तसंबन्ध स्त्री के प्रति यौनाचार के पाप का निर्णायक आधार है। ब्रह्मचर्य भंग करने वाले अवकीर्णी के लिए भी कठोर प्रायश्चित्त बताया गया है। इन सब उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि स्त्री की पवित्रता, धर्मसूत्र के समाज में सर्वोपरि थी, किन्तु साथ ही साथ अनैतिकता स्वाभाविक रूप में थी। नारी मां के रूप में पूज्य भी थी, किन्तु किसी वस्तु के समान केवल भोग की सामग्री भी थी। समाज और परिवार के भीतर उसे कुछ महत्व तो प्राप्त अवश्य था, किन्तु उसके व्यक्तित्व को कोई विकास की स्वतन्त्रता नहीं थी। स्त्रीसंबन्ध विषयक नैतिकता के विचाराधिक्य ने अवश्य ही नारी की प्रतिष्ठा को धक्का पहुंचाया और कुल मिलाकर उसका वह स्थान नहीं था, जो उसे वेदों और उपनिषदों की परम्परा में प्राप्त था। सूत्र के समय में नारी की इस हीन दशा का मुख्य कारण था उन्हें निन्दित, अपवित्र, मानने की प्रवृत्ति तथा ब्रह्मचर्य की रक्षा में उन्हें शत्रु समझने की धारणा। साथ ही साथ पुत्रप्राप्ति मात्र को मुख्य आध्यात्मिक लक्ष्य मानकर विवाह एवं पति पर आश्रित होने को ही नारी का अन्तिम प्रयोजन ठहराने से धर्मसूत्रकाल की नारी मानवीय अधिकारों से वंचित और पददलित भी दिखाई देती है, परन्तु सारा दोष धर्मसूत्रों का नहीं है। धर्मसूत्र की मौलिक व्यवस्था में अच्छाइयां भी हैं किन्तु उसकी दृष्टि न तो भविष्य पर है और न अतीत पर, एक के विषय में उसकी दृष्टि संकुचित है और दूसरे को वह बहुत-कुछ भूला सा लगता है। यौन विषयक नैतिकता के सन्दर्भ में धर्मसूत्र-

कार भी वही कहता हुआ प्रतीत होता है जो शेक्सपियर ने कहा है- "हे नैतिक दुर्बलते, तुम्हारा ही नाम नारी है।" अथवा महाभारत की तरह वह भी यही कहना चाहता है कि नारी दोषों की खान है, उसको कोई स्वतन्त्रता नहीं मिलनी चाहिए :

न स्त्रीभ्यः किंचिदन्यत् पापीयस्तरमस्ति वै।...
क्षुरधारा विषं सर्पो वह्निरित्येकतः स्त्रियः॥

धर्मशास्त्रकारों से लेकर आगे के समूचे साहित्य में भी यह प्रवृत्ति हमेशा के लिए आ जाती है कि नारी झूठ बोलने वाली, अविश्वसनीय, अविवेकी, धूर्त, मूर्ख, लोभी, अपवित्र और निर्दय होती है, पथभ्रष्ट करने वाली होती है।

नारी के प्रति यह अन्याय की दृष्टि और नैतिकता का आडम्बरभरा आग्रह समाज के एक महत्त्वपूर्ण, अधिक प्रभावशाली और अधिक मानवीय अंग को चिरकाल के लिए पंगु बना देता है और वह अपनी सही दिशा भूल जाती है। धर्म के साथ काम को समन्वय और असद् के सद् की ओर प्रयाण का भारतीय सन्देश समाज की वर्तमान मोहनिशा के लिए सुमतिदायी सविता है, भावी जीवन की आशा है।

—उमेशचन्द्र पाण्डेय

विषयानुक्रम

(भूमिका)

विषयानुक्रम

प्रथम प्रश्न

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

द्वितीय प्रश्न

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

तृतीय प्रश्न

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

॥ ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॥

गौतमधर्मसूत्राणि

सानुवाद'मिताक्षरावृत्ति'सहितानि

अथ प्रथमप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः

ॐ वेदो धर्ममूलम् ॥ १ ॥

नमो रुद्राय यद्धर्मशास्त्रं गौतमनिर्मितम् ।
क्रियते हरदत्तेन तस्य वृत्तिर्मिताक्षरा ॥

कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुरपूर्वाख्य आत्मगुणो धर्मः । तस्य मूलं प्रमाणम् । वेदो मन्त्रब्राह्मणात्मकः । जातावेकवचनम् । चत्वारो वेदा ऋग्यजुःसामात्मकास्त एव धर्मे प्रमाणम् । न योगिप्रत्यक्षं नानुमानं नार्थापत्तिर्न शाक्याद्यागमः । तेन तन्मूला एवोपनयनादयो धर्मा वक्ष्यन्ते न चैत्यवन्दनकेशोल्लुञ्चनादय इति । धर्मग्रहणमुपलक्षणम् । अधर्मस्यापि प्रतिषेधात्मको वेद एव मूलम् । निषेधविधयो हि ब्रह्म-हत्यादौ विषये प्रवृत्तं निवर्तयन्ति । न च रागद्वेषादिना विषये प्रवृत्त-स्तता निवर्तयितुं शक्यः । यद्यसौ विषयोऽनुष्ठितः प्रत्यवायहेतुर्न स्यादिति निषेधविधिरेव प्रत्यवायहेतुतां गमयति ॥ १ ॥

(चारों) वेद धर्म के मूल (प्रमाण) हैं ॥ १ ॥

अथ यत्र प्रत्यक्षो वेदो मूलभूतो नोपपद्यते तत्र कथम्—

तद्विदां च स्मृतिशीले ॥ २ ॥

तद्विदां वेदविदां मन्वादीनां या स्मृतिस्तत्प्रणीतं धर्मशास्त्रं यच्च तेषां शीलमनुष्ठानं ते स्मृतिशीले अस्मदादीनां प्रमाणम् । न च तेषा-मनुष्ठानं निर्मूलं सम्भवति । सम्भवति च वैदिकानामुत्सन्नपाठे वेदानु-भव इति । तेषां तु तदानीं विद्यमानत्वेन सम्प्रदायाविच्छेदाच्च वैदिका-नुष्ठानं वेदमूलमेव । यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—

तेषामुत्सन्नाः पाठाः प्रयोगादनुमीयन्त इति ॥ २ ॥

उन (वेदों) के ज्ञाताओं (मनु आदि) की स्मृति तथा (उनके) (धर्मानुकूल) आचरण (भी प्रमाण हैं) ॥ २ ॥

यदि शीलं प्रमाणम्, अतिप्रसङ्गः स्यात्। कथम्, कतकभरद्वाजौ व्यत्यस्य भार्ये जग्मतुः। वसिष्ठश्चण्डालीमक्षमालाम्। प्रजापतिः स्वां दुहितरम्। रामेण पितृवचनादविचारेण मातुः शिरश्छिन्नमित्यादि साहसमपि प्रमाणं स्यात्। नेत्याह—

दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च महताम् ॥ ३ ॥

महतामेतादृशं साहसमपि धर्मव्यतिक्रम एव दृष्टो न तु धर्मः। रागद्वेषनिबन्धनत्वात् ॥ ३ ॥

महान् पुरुषों के साहस कर्म भी (जैसे प्रजापति द्वारा अपनी पुत्री का भोग या परशुराम द्वारा पिता की आज्ञा से माता का शिर काटना आदि) धर्म के व्यतिक्रम के रूप में देखा जाता है ॥ ३ ॥

न च तेषामेवंविधं दृष्टमित्येतावताऽस्मदादीनामपि प्रसङ्गः। कुतः—

अवरदौर्बल्यात् ॥ ४ ॥

अवरेषामस्मदादीनां दुर्बलत्वात्। तथा च श्रूयते—

तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते।
तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरको जनः ॥ इति ॥ ४ ॥

(इन महापुरुषों की अपेक्षा तेज आदि की दृष्टि से हम) अवर कोटि के लोगों के दुर्बल होने के कारण (महापुरुषों के धर्मविरुद्ध आचरण को प्रमाण मानकर उसका अनुशीलन करना हमारे लिये कष्टप्रद होगा) ॥ ४ ॥

अथ यत्र द्वे विरुद्धे तुल्यबले प्रमाणे उपनिपततः। यथाऽतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति। उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोतीति श्रुतिः। नित्यमभोज्यं केशकीटावपन्नमिति गौतमः—

पक्षिजग्धं गवाघ्रातमवधूतमवक्षुतम्।
केशकीटावपन्नं च मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥ इति मनुः।

तत्र किं कर्तव्यम्—

तुल्यबलविरोधे विकल्पः ॥ ५ ॥

तुल्यप्रमाणप्रापितयोरेवंजातीयकयोरर्थयोर्विकल्पः। तद्वेदं वेत्यन्यतरस्वीकारः। न समुच्चयोऽसम्भवात्। प्रकर्षबोधने तु श्रुतिस्मृतिविरोधे स्मृत्यर्थो नाऽऽदरणीयः। अतुल्यबलत्वात्। अत एव जाबालिराह—

श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी ।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सदा ॥ इति ॥ ५ ॥

दो समान कोटि के प्रमाणों में विरोध उपस्थित होने पर विकल्प होता है (अर्थात् उनमें से किसी एक का अनुसरण किया जा सकता है। श्रुति और स्मृति के प्रमाण समान कोटि के नहीं होते; अतः इनमें परस्पर विरोध होने पर स्मृति मान्य नहीं होती ॥ ५ ॥)

अथेदानीं धर्मान् वक्ष्यन्नुपनयनपूर्वकत्वात्तेषामुपनयनं तावदाह—

उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे ॥ ६ ॥

उपनयनानन्तरभाविनि ब्राह्मणत्वेऽत्र [ब्राह्मणग्रहणम्]। ब्राह्मणग्रहणं तु ब्राह्मणस्य सत एवोपनयनं न तूपनयनादिसंस्कारजन्मब्राह्मण्यमिति ज्ञापनार्थम्। किंच ब्राह्मणो न हन्तव्यः। ब्राह्मणो न सुरां पिबेदिति निषेधश्रुतिरनुपनीतविषये (या) न स्यात्। ब्राह्मणस्याष्टमं वर्षं मुख्यमुपनयनकालः। प्रथमभाविनो गर्भाधानादीन्संस्कारानुल्लङ्घ्योपनयनं व्याचक्षाणस्तस्य प्राधान्यं दर्शयति। तेन दैवानुपपत्त्या गर्भाधानादेरकरणेऽप्युपनयनं भवति। तस्याकरणे तु विवाहादिष्वनधिकार इति सिद्धम् ॥ ६ ॥

ब्राह्मण का उपनयन संस्कार आठवें वर्ष में होना चाहिये ॥ ६ ॥

नवमे पञ्चमे वा काम्यम् ॥ ७ ॥

कामनिमित्तं काम्यम्। तन्नवमे पञ्चमे वा भवति। नवमे तेजस्काममित्यापस्तम्बः।

ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यो विप्रस्य पञ्चमे। इति मनुः ॥ ७ ॥

(तेज की कामना से) नवें या (ब्रह्मवर्चस् की इच्छा से) पाँचवें वर्ष में इच्छानुकूल (ब्राह्मण का उपनयन संस्कार करना चाहिए) ॥ ७ ॥

गर्भादिः संख्या वर्षाणाम् ॥ ८ ॥

वर्षाणां संख्या गर्भादिरेव भवति। न जननादिः ॥ ८ ॥

(उपनयन काल के) वर्षों की गिनती गर्भकाल से करनी चाहिए (जन्म के समय से नहीं) ॥ ८ ॥

तद्द्वितीयं जन्म ॥ ९ ॥

तदुपनयनं द्वितीयं जन्म। अत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्यः। तेन द्विजन्मत्वसिद्धिः ॥ ९ ॥

वह (उपनयन संस्कार) दूसरा जन्म होता है। (इसके द्वारा उपनीत व्यक्ति द्विज कहा जाता है) ॥ ९ ॥

तद्यस्मात्स आचार्यः ॥ १० ॥

तदुपनयनं पितुरभावे यस्मात्पुरुषाद्भवति स आचार्यः ॥ १० ॥

वह (उपनयन संस्कार के समय का दूसरा जन्म) जिस पुरुष द्वारा होता है वह आचार्य कहलाता है ॥ १० ॥

न तु केवलादुपनयनात्। कस्मात्तर्हि—

वेदानुवचनाच्च ॥ ११ ॥

अनुवचनमध्यापनम्। अत्र मनुः—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ इति ॥ ११ ॥

(उपनयन के उपरान्त बालक को) वेद का अध्यापन करने से भी (अध्यापन करने वाला आचार्य कहलाता है) ॥ ११ ॥

एकादशद्वादशयोः क्षत्रियवैश्ययोः ॥ १२ ॥

नित्योऽयमनयोः कल्पः। काम्यस्तु मनुना दर्शितः—

राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्यार्थार्थिनोऽष्टमे ॥ इति ॥ १२ ॥

(गर्भकाल से) ग्यारहवें और सोलहवें वर्ष में (क्रमशः) क्षत्रिय और वैश्य का (उपनयन संस्कार करना चाहिए) ॥ १२ ॥

अथाऽऽपत्कल्पानाह—

आ षोडशाद् ब्राह्मणस्यापतिता सावित्री ॥ १३ ॥

अभिविधावाकारः। आ षोडशाद्वर्षाद् ब्राह्मणस्य सावित्र्यपतिताऽप्रच्युता। सावित्रीशब्देन तदुपदेशनिमित्तमुपनयनं लक्ष्यते। तदुपनयनस्य काल इत्यर्थः ॥ १३ ॥

सोलहवें वर्ष तक ब्राह्मण के लिए सावित्री च्युत नहीं होती (उस समय तक सावित्री मंत्र के उपदेश का अर्थात् उपनयन की अवधि रहती है) ॥ १३ ॥

द्वाविंशते राजन्यस्य द्व्यधिकाया वैश्यस्य ॥ १४ ॥

उभयत्राप्याङनुवर्तते। पूरणप्रत्ययस्य लोपो द्रष्टव्यः। आ द्वाविंशाद्वर्षाद्राजन्यस्याऽऽचतुर्विंशाद्वैश्यस्यापतिता सावित्री ॥ १४ ॥

बाइसवें वर्ष तक क्षत्रिय की और उससे दो वर्ष अधिक अर्थात् चौबीसवें वर्ष तक वैश्य की (सावित्री च्युत नहीं होती) ॥ १४ ॥

मौञ्जीज्यामौर्वीसौत्र्यो मेखलाः क्रमेण ॥ १५ ॥

मुञ्जो दर्भविशेषस्तद्विकारो मौञ्जी। मूर्वाऽरण्यौषधिविशेषः। (सरलीति द्रविडभाषायाम्)। तद्विकारा मौर्वा। ज्या चासौ मौर्वा चेति कर्मधारयः। ज्याशब्देन धनुषो ग्राह्येति यावत्। सौत्री सूत्रविकारः। एता वर्णक्रमेण मेखला भवन्ति ॥ १५ ॥

(ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए) क्रमशः मूँज, मौर्वा घास की बनी हुई धनुष की डोरी और सूत की मेखला (होती है) ॥ १५ ॥

कृष्णरुरुबस्ताजिनानि ॥ १६ ॥

कृष्णः कृष्णसारः। रुरुर्बिन्दुमान्मृगः। बस्तश्छागः। एतेषामजिनान्युत्तरीयाणि क्रमेण। अजिनं त्वेवोत्तरं धारयेदित्यापस्तम्बीये दर्शनात् ॥ १६ ॥

(इन तीनों वर्णों के क्रमशः) काले मृग के चर्म का, धब्बे वाले रुरु मृग के चर्म का और बकरे के चर्म का अजिन (उत्तरीय) होता है ॥ १६ ॥

वासांसि शाणक्षौमचीरकुतपाः सर्वेषाम् ॥ १७ ॥

शणविकारः शाणः। क्षुमाऽतसी,तद्विकारः क्षौमम्। श्वेतपट्ट इत्यन्ये। दर्भादिनिर्मितं चीरम्। ऊर्णानिर्मितः कम्बलः कुतपः। चत्वार्येतानि वासांसि सर्वेषाम् ॥ १७ ॥

सन के, अतसी के, दर्भ आदि द्वारा निर्मित एवं ऊन के बने हुए कम्बल (कुतप)—ये (चारो) वस्त्र सभी के (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य सभी वर्णों के ब्रह्मचारियों के) होते हैं ॥ १७ ॥

कार्पासं वाऽविकृतम् ॥ १८ ॥

अविकृतं कार्पासं वासः सर्वेषाम्। कुसुम्भादिरागद्रव्यैर्वर्णान्तरकल्पनं विकृतिस्तद्रहितम् ॥ १८ ॥

अथवा विना रंगा हुआ रुई का वस्त्र (सभी द्विजाति ब्रह्मचारियों के लिये होना चाहिए) ॥ १८ ॥

अनुमतान्याह—

काषायमप्येके ॥ १९ ॥

एके त्वाचार्याः कषायेण रक्तमपि धार्यं मन्यन्ते ॥ १९ ॥

कुछ आचार्यों का विचार है कि गेरुआ रंग का वस्त्र भी (ब्रह्मचारी पहन सकता है) ॥ १९ ॥

तत्रापि नियमः—

वार्क्षं ब्राह्मणस्य माञ्जिष्ठहारिद्रे इतरयोः ॥ २० ॥

वृक्षकषायेण रक्तं वार्क्षम् । तद्ब्राह्मणस्य । मञ्जिष्ठया रक्तं माञ्जिष्ठम् । हरिद्रया रक्तं हारिद्रम् । ते इतरयोः । क्षत्रियवैश्ययोरिति यावत् ॥ २० ॥

ब्राह्मण (वर्ण के ब्रह्मचारी) का वस्त्र वृक्ष के कषाय से रंगा हुआ (होना चाहिए) और शेष दोनों वर्णों (क्षत्रिय और वैश्य वर्णों के ब्रह्मचारियों) का मंजीठी और हल्दी से रंगा हुआ (होना चाहिए) ॥ २० ॥

बैल्वपालाशौ ब्राह्मणदण्डौ ॥ २१ ॥

बैल्वः पालाशो वा ब्राह्मणस्य दण्डो न पुनः समुच्चितौ ॥ २१ ॥

ब्राह्मण (वर्ण के ब्रह्मचारी) का दण्ड बिल्व या पलाश का होना चाहिए ॥ २१ ॥

अश्वत्थपैलवौ शेषे ॥ २२ ॥

पीलुर्वृक्षविशेषः । उता (?) उता इति प्रसिद्धः । शेषे क्षत्रियवैश्यविषये ॥ २२ ॥

शेष (क्षत्रिय और वैश्य ब्रह्मचारियों) के दण्ड पीपल या पीलु का होना चाहिए ॥ २२ ॥

यज्ञियो वा सर्वेषाम् ॥ २३ ॥

सर्वेषामुक्तालाभे यज्ञियो यज्ञियवृक्षो वा दण्डः स्यात् ॥ २३ ॥

अथवा (उल्लिखित वृक्षों के दण्ड न मिलने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) सभी ब्रह्मचारियों के दण्ड किसी यज्ञिय (यज्ञ में प्रयुज्य) वृक्ष के हो सकते हैं ॥ २३ ॥

अपीडिता यूपवक्राः सशल्काः ॥ २४ ॥

अपीडिताः कीटादिभिरदूषिताः । यूपवक्रा यूपवदग्रे वक्राः । सशल्काः सत्वचः । एवंविधा दण्डाः सर्वेषाम् ॥ २४ ॥

(दण्ड) कीड़ों आदि से अक्षत, यूप (यज्ञ के खूँटे) की तरह ऊपर वक्र और छाल से युक्त होना चाहिए ॥ २४ ॥

मूर्धललाटनासाग्रप्रमाणाः ॥ २५ ॥

यथासंख्यमत्रेष्यते । मूर्धप्रमाणो ब्राह्मणस्य दण्डः । ललाटावधिः क्षत्रियस्य । नासावधिर्वैश्यस्येति ॥ २५ ॥

(ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के दण्ड लम्बाई में) वर्णक्रमानुसार सिर

तक, ललाट तक और नासिका के अग्रभाग तक के होने चाहिए॥ २५ ॥

मुण्डजटिलशिखाजटाश्च ॥ २६ ॥

अत्र न यथासंख्यम्। मुण्डा लुप्तसर्वकेशाः। जटिलाः केशधारिणः। जटा केशसंहतिः। शिखामात्रैव जटा येषां ते शिखाजटाः। सर्वेषामयं सामान्यधर्मः। छन्दोगापेक्षया मुण्डशब्दग्रहणम्॥ २६ ॥

(ब्रह्मचारी) सभी केश मुडाये रखे, या जटा धारण करे अथवा केवल शिखा को ही जटा के रूप में रखे ॥ २६ ॥

द्रव्यहस्तश्चेदुच्छिष्टोऽनिधायाऽऽचामेत् ॥ २७ ॥

मूत्रपुरीषयोः कर्म, भोजनादि चोच्छिष्टत्वनिमित्तम्। द्रव्यहस्तः सन्नुच्छिष्टश्चेत्तद्द्रव्यमनिधायाऽऽचामेत्। उच्छिष्टः सन् द्रव्यहस्तश्चेद् द्रव्यं निधायाऽऽचामेत्। तथा च मनुः—

उच्छिष्टेन तु संस्पृष्टो द्रव्यहस्तः कथंचन।
अनिधायैव तद्द्रव्यमाचान्तः शुचितामियात्॥ इति।

किंच भक्ष्यभोज्यादिद्रव्यविषये तद्द्रव्यं निधायैव मूत्रपुरीषयोः कर्म कृत्वा पुनस्तत्पात्रं निधायाऽऽचामेत्। वस्त्रदण्डादिविषये त्वनिधायैवाऽऽचामेत्॥ २७ ॥

यदि हाथ में (कोई) वस्तु लिये हुए ही मूत्र, पुरीष करे या भोजन करने के उपरान्त जूठा हुआ हो तो उस (हाथ में ली हुई वस्तु) को अलग रखे विना (अनिधाय) आचमन करे। ॥ २७ ॥

दूसरा अर्थ—यदि (पूर्वोक्त प्रकार से) उच्छिष्ट (अपवित्र या जूठा) होते हुए किसी वस्तु को हाथ में ले तो उसे अलग रखकर (निधाय) आचमन करे।

तीसरा अर्थ—यदि कोई खाने योग्य वस्तु हाथ में हो तो उसे अलग रखकर मूत्र, पुरीष कर्म करे और तब आचमन करे।

अथ द्रव्यशुद्धिरुच्यते—

द्रव्यशुद्धिः परिमार्जनप्रदाहतक्षणनिर्णेजनानि तैजसमार्तिकदारवतान्तवानाम् ॥ २८ ॥

तैजसादीनां द्रव्याणां यथाक्रमं परिमार्जनादिशुद्धयः। तैजसं कांस्यादि। मार्तिकं मृन्मयादि। दारवं दारुमयादि। तान्तवं तन्तुमयादि। तेषां क्रमेण परिमार्जनम्। तत्र भस्मना कांस्यस्य। शकृता सौवर्णराज-

तयोः। आम्लेन ताम्रस्य। इदमुच्छिष्टलिप्तानाम्। तैजसानामेवंभूतानां भस्मादिभिरिति कण्वः। रजस्वलाचण्डालादिस्पृष्टानामेकदिनं पञ्चगव्यं निक्षिप्यैकविंशतिकृत्वो मार्जनाच्छुद्धिः। मार्तिकानां प्रदाहः। प्रकृष्टो दाहो वर्णान्तरापत्तिर्यथा स्यात्तथाविधो दाहः शोधनम्। इदं स्पर्शोपहतानाम्। अत्र वसिष्ठः—

> मद्यमूत्रपुरीषैस्तु श्लेष्मपूयाश्रुशोणितैः।
> संस्पृष्टं नैव शुध्येत पुनर्दाहेन मृन्मयम्॥ इति।

दारवाणां तक्षणाच्छुद्धिः। इदममेध्यादिवासितानाम्। अन्यत्र प्रोक्षणप्रक्षालनादि। तान्तवानां निर्णेजनाच्छुद्धिः। इदं स्पर्शदूषितानाम्। मलादिदूषितानां धावनं तन्मात्रच्छेदनं वा। स्पर्शदूषितानां बहूनां प्रोक्षणाच्छुद्धिरिति॥ २८॥

क्रमशः माँजने से, आग में तपाने, काटने और धोने से (काँसे आदि) धातु के, मिट्टी के, लकड़ी के और सूत से निर्मित वस्तुओं की (जो उच्छिष्ट से दूषित हुई हों) शुद्धि होती है॥२८॥

तैजसवदुपलमणिशङ्खमुक्तानाम्॥ २९॥

उपलादीनां तैजसवच्छुद्धिः परिमार्जनमिति॥ २९॥

धातु के पदार्थों की शुद्धि के समान ही उपल (पत्थर) के पदार्थों, मणि, शङ्ख और मुक्ता की भी (शुद्धि परिमार्जन द्वारा होती है)॥ २९॥

दारुवदस्थिभूम्योः॥ ३०॥

अस्थि हस्तिदन्तादि। भूमिर्गृहादि। तयोर्दारुवच्छुद्धिस्तक्षणमिति। दारववदिति वक्तव्ये दारुवदिति निर्देशाद्विकारस्य या शुद्धिर्विकारिणोऽपि सैव शुद्धिरित्युक्तम्॥ ३०॥

काठ से बनी हुई वस्तुओं की शुद्धि के समान ही हाथीदाँत से बनी वस्तुओं और (घर के भीतर की) भूमि की भी शुद्धि काटने या खोदने से होती है॥ ३०॥

आवपनं च भूमेः॥ ३१॥

आवपनमन्यत आनीय परणमधिका शुद्धिर्भूमेः।

अत्र वसिष्ठः—

> खननाद्दहनादद्भिर्गोभिराक्रमणेन च।
> चतुर्भिः शुध्यते भूमिः पञ्चमात्तूपलेपनात्॥ इति॥ ३१॥

और दूसरे स्थान से मिट्टी लाकर (पहले शुद्धि के लिए खोदी गई भूमि को) भरने से भूमि की और भी अधिक शुद्धि होती है ।। ३१ ।।

चैलवद्रज्जुविदलचर्मणाम् ।। ३२ ।।

विदलं वेत्रवेणुविदलादिनिर्मितम् । पिच्छनिर्मितमप्यन्ये । रज्ज्वादीनां त्रयाणां चैलवद्वस्त्रवच्छुद्धिर्निर्णेजनमिति । पैठीनसिस्तु—

रज्जुविदलचर्मणामस्पृश्यस्पृष्टानां प्रोक्षणाच्छुद्धिरिति ।। ३२ ।।

वस्त्र की शुद्धि के समान ही रस्सी की, बेंत से बने हुए (और पिच्छ से निर्मित) पदार्थ की (शुद्धि धोने से होती है) ।। ३२ ।।

उत्सर्गो वाऽत्यन्तोपहतानाम् ।। ३३ ।।

इदं वासिष्ठेन समानविषयं मद्यमूत्रपुरीषैरित्यादिना । वाशब्दः पक्षव्यावृत्तौ ।। ३३ ।।

अथवा (मूत्र, पुरीष आदि से) अत्यन्त दूषित हो गये हों तो (उन पदार्थों का त्याग कर देना चाहिए) ।। ३३ ।।

प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा शौचमारभेत ।। ३४ ।।

इच्छातो विकल्प आरभेतेति वचनात्पादप्रक्षालनप्रभृतिदिङ्नियमः । आपस्तम्बस्तु प्रत्यक्पादावनेजनमित्याह । शौचग्रहणमाचमन एव मा भून्मूत्रपुरीषादिशौचेऽपि दिङ्नियमज्ञापनार्थम् ।। ३४ ।।

(पादप्रक्षालन आदि आचमन जैसे) शौच कर्म पूर्व की ओर मुख करके अथवा उत्तर की ओर मुख करके करना चाहिए ।। ३४ ।।

शुचौ देश आसीनो दक्षिणं बाहुं जान्वन्तरा कृत्वा यज्ञोपवीत्यामणिबन्धनात्पाणी प्रक्षाल्य वाग्यतो हृदयस्पृशस्त्रिश्चतुर्वाऽप आचामेत् ।। ३५ ।।

इदमेकं वाक्यम । आचमनकाले शुचौ देशेऽनुपहत आसीन इत्युपलक्षणमासीनस्तिष्ठन् प्रह्वो वेति । जान्वन्तरा जानुनोर्मध्ये दक्षिणबाहुं कृत्वा । दक्षिणं बाहुमित्युक्तत्वाद्वामहस्तस्य नावश्यंभावः । यज्ञोपवीतीति पूर्वं स्वस्थानस्थमपि यथास्थाननिवेशनार्थम् । अथवोत्तरीयविन्यासार्थम । तथा चाऽऽपस्तम्बः—'उपासने गुरूणां वृद्धानामतिथीनां होमे जप्यकर्मणि भोजन आचमने स्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यादपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थः' इति । आमणिबन्धादेमन्शेद्यरि मणिर्बध्यत आ तस्मात्पाणी प्रक्षाल्य ।

वाग्यतः शब्दमकुर्वन् । हृदयस्पृशः परिमाणार्थमिदं यावत्यः पीता हृदयं स्पृशन्ति यासु माषो मज्जति तावतीरप आचामेत्त्रिश्चतुर्वा । यत्र मन्त्रवदाचमनं विहितं तत्र तेन सह चतुः । अन्यत्र त्रिरिति विकल्पः ॥ ३५ ॥

(आचमन करते समय) पवित्र स्थान पर बैठकर, दाहिनी बाँह को दोनों घुटनों के बीच में करके, यज्ञोपवीत को यथास्थान रखकर, कलाई तक हाथों को धोकर और मौन होकर तीन चार बार इतने जल से आचमन करे, जितना जल (पीने पर) हृदय तक पहुँच सके ॥ ३५ ॥

द्विः परिमृज्यते ॥ ३६ ॥

प्रतियोगं सोदकेन पाणिनौष्ठयोः परिमार्जनम् ॥ ३६ ॥

प्रत्येक वार दोनों ओठों को हाथ में जल लेकर पोंछे ॥ ३६ ॥

पादौ चाभ्युक्षेत् ॥ ३७ ॥

चकाराच्छिरश्च ॥ ३७ ॥

दोनों पैरों (और शिर) पर जल छिड़के ॥ ३७ ॥

खानि चोपस्पृशेच्छीर्षण्यानि ॥ ३८ ॥

शीर्षे भवानि शीर्षण्यानि । शिरोभवानीति यावत् । खानीन्द्रियाणि । तान्युपस्पृशेत् । अत्र चकारः प्रतीन्द्रियोपस्पर्शनार्थः ॥ ३८ ॥

शिर की इन्द्रियों (नेत्र, कान, मुख, नासिका-छिद्रों) में प्रत्येक का स्पर्श करे ॥ ३८ ॥

मूर्धनि च दद्यात् ॥ ३९ ॥

चकारान्नाभौ मूर्धनि च सर्वाभिरङ्गुलीभिरुपस्पृशेदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

(नाभि और) सिर का सभी अंगुलियों से स्पर्श करे ॥ ३९ ॥

सुप्त्वा भुक्त्वा क्षुत्वा च पुनः ॥ ४० ॥

स्वापादिनिमित्ते पुनर्द्विराचामेदिति यावत् ॥ ४० ॥

सोने, भोजन करने और छींकने के बाद दो बार आचमन करना चाहिए ॥ ४० ॥

दन्तश्लिष्टेषु दन्तवदन्यत्र जिह्वाभिमर्शनात् ॥ ४१ ॥

दन्तश्लिष्टेषूच्छिष्टलेपेषु जिह्वाभिमर्शनादन्यत्र दन्तवन्नाशुचित्वम् ॥ ४१ ॥

दाँतों के बीच अटके हुए भोजन के उच्छिष्ट कणों में जीभ से न छू जा सकने वाले उच्छिष्टकण दाँतों के समान ही अपवित्र नहीं होते ॥ ४१ ॥

तत्रापि—

प्राक्च्युतेरित्येके ॥ ४२ ॥

सत्यपि जिह्वाभिमर्शने यावल्लेपाः स्वस्थानान्न च्यवन्ते तावन्नाशुचित्वमिति ॥ ४२ ॥

कुछ विद्वानों के मत से दाँतों में अटके हुए उच्छिष्ट कण जीभ से छुए जाने योग्य होने पर भी दाँतों से गिरने के पूर्व तक अपवित्र नहीं होते ॥ ४२ ॥

च्युतेष्वास्रावविद्यान्निगिरन्नेव तच्छुचिः ॥ ४३ ॥

आस्राव आस्यजलम् । निगरणमन्तःप्रवेशनम् । च्युतेषु निगिरन्नेवतच्छुचिरिति वक्तव्य आस्रावविद्यादिति वचनमास्रावे च निगरणादेव शुचिरिति सूचनार्थम् ॥ ४३ ॥

(दांतों में अटके हुए उच्छिष्ट कण के) दांतों से निकलने पर उन्हें लार के समान समझना चाहिए, और उनको निगलने से ही शुद्धि होती है ॥ ४३ ॥

न मुख्या विप्रुष उच्छिष्टं कुर्वन्ति । न चेदङ्गे निपतन्ति ॥४४॥

मुखे भवा मुख्याः । विप्रुष आस्रावबिन्दवः । भूम्यादिषु पतिता नोच्छिष्टतां नयन्ति ॥ ४४ ॥

मुख के लार की बूँदें (गिरने पर किसी पदार्थ को, जूठा या अशुद्ध नहीं बनातीं । शरीर के किसी अंग पर गिरती हैं तो भी उसे उच्छिष्ट नहीं करती हैं ॥ ४४ ॥

लेपगन्धापकर्षणं शौचममेध्यस्य ॥ ४५ ॥

वसा शुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रविटकर्णविण्नखाः ।
श्लेष्माश्रु दूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ॥ इति मनुः ।

एतत्सर्वममेध्यशब्देन विवक्षितम् । अस्य यावता गन्धो लेपश्चापकृष्यतेऽपनीयते तावता शौचमिति । तत्र यस्य मलस्य गन्धमात्रं तस्य तदपकर्षणम् । यस्य गन्धो लेपश्च तस्य तदुभयापकर्षणम् ॥ ४५ ॥

शरीर के मलों (से दूषित पदार्थ) की शुद्धि उनके लेप और गन्ध को दूर करने से होती है ॥ ४५ ॥

तदद्भिः पूर्वं मृदा च ॥ ४६ ॥

तत्पूर्वं गन्धवन्मलापकर्षणमद्भिर्लेपगन्धवन्मलापकर्षणं मृदा चाद्भिश्चेति । इदं हस्तपादादेरमेध्यलिप्तस्य शौचम् । तैजसादिषु विशेषस्य पूर्वमुक्तत्वात् ॥ ४६ ॥

तब पहले (गन्धवाले मल को) जल से और (गन्ध तथा लेप वाले मल को) मिट्टी एवं जल से दूर किया जाता है ॥ ४६ ॥

मूत्रपुरीषस्नेहविस्रंसनाभ्यवहारसंयोगेषु च ॥ ४७ ॥

चकारः पूर्वोक्तसमुच्चये। स्नेहो रेतः। मूत्रपुरीषस्नेहानां विस्रंसनं निरसनम्। अभ्यवहारमभ्यवहार्यद्रव्यं तेन संयोगः। एषु निमित्तेषु पूर्ववन्मृदा चाद्भिः शौचमिति ॥ ४७ ॥

मूत्र, पुरीष और वीर्य के त्याग से तथा व्यवहार में न लाई जानेवाली दूषित वस्तुओं के संयोग से होनेवाली अशुद्धि पूर्वोक्त विधि से अर्थात् मिट्टी और जल से दूर होती है ॥ ४७ ॥

यत्र चाऽऽम्नायो विदध्यात् ॥ ४८ ॥

यत्र विषये यच्छौचमाम्नाये विदध्यात्तत्र तदेव भवति। यथा चमसानामुच्छिष्टलिप्तानां मार्जालीयाद्भिः प्रक्षालनमिति ॥ ४८ ॥

वेद में जिस विषय में जैसी शुद्धि का विधान किया गया है उसी विधि से शुद्धि करनी चाहिए ॥ ४८ ॥

अथ गुरूपसदनविधिः—

पाणिना सव्यमुपसंगृह्यानङ्गुष्ठमधीहि भो इत्यामन्त्रयेद् गुरुं तत्र चक्षुर्मनः-प्राणोपस्पर्शनं दर्भैः ॥ ४९ ॥

पाणिना स्वेन दक्षिणेन। सव्यमिति विशेषग्रहणाद्दक्षिणेनेति गम्यते। गुरोः सव्यं पादमनङ्गुष्ठमङ्गुष्ठवर्जं गृहीत्वाऽधीहि भो इति गुरुमामन्त्रयेत्। तत्र गुरौ मनश्चक्षुषी च निधायावहितः स्यादिति। प्राणाः शीर्षण्यानीन्द्रियाणि। तेषामात्मीयानामाचमनोक्तक्रमेण दर्भैरुपस्पर्शनं कर्तव्यं माणवकेन ॥ ४९ ॥

ब्रह्मचारी अपने दाहिने हाथ से (गुरु के) बायें पैर को अंगूठा छोड़ते हुए पकड़े और 'अधीहि भोः (श्रीमन्, मुझे पढ़ावें) ऐसा कहकर गुरु को आमन्त्रित करे। वहां गुरु की ओर अपने नेत्र एवं मन लगाकर प्राणों (सिर की इन्द्रियों) का कुश से स्पर्श करे ॥ ४९ ॥

प्राणायामास्त्रयः पञ्चदशमात्राः ॥ ५० ॥

कार्या इति शेषः। जानुपार्श्वतः परिमृज्य त्रुटिमेकां कुर्यात्सैका मात्रा। ताः पञ्चदश पूर्यन्ते यावता कालेन तावन्तं कालं प्राणवायुं धारयेत्स एकः प्राणायामः। ते त्रयः कार्याः।

मनुः—सव्याहृतिकां सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥ इति ॥ ५० ॥

पन्द्रह मात्रा (समय तक) का प्राणायाम करना चाहिए । (घुटनों की बगल से सटाकर एक बार चुटकी बजाने में जो समय लगता है वह एक मात्रा का काल होता है ॥ ५० ॥

प्राक्कूलेष्वासनं च ॥ ५१ ॥

प्रागग्रेषु दर्भेष्वासनं चकारात्कर्तव्यमिति शेषः ॥ ५१ ॥

जिनके अग्रभाग पूर्व की ओर हों ऐसे कुशों को आसन बनाना चाहिए ॥ ५१ ॥

ॐपूर्वा व्याहृतयः पञ्च सत्यान्ताः ॥ ५२ ॥

व्याहृतिसाम भूर्भुवः स्वः सत्यं पुरुष इति पञ्च । अत्र तु पुरुषव्याहृतिश्चतुर्थी सत्यव्याहृतिः पञ्चमी वक्तव्या । ताश्च प्रत्येकं प्रणवपूर्वा वक्तव्याः ॥ ५२ ॥

(प्रत्येक के) पहले ॐ जोड़कर सत्यम् तक (भूः, भुवः, स्वः, पुरुष और सत्यम्) पाँच व्याहृतियाँ होती हैं ॥ ५२ ॥

गुरोः पादोपसंग्रहणं प्रातः ॥ ५३ ॥

अहरहः प्रातर्गुरोः पादोपसंग्रहणं कार्यम् ।
मनुः—व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन तु दक्षिणः ॥ इति ॥ ५३ ॥

प्रतिदिन प्रातःकाल गुरु का चरण छूना चाहिए ॥ ५३ ॥

ब्रह्मानुवचने चाऽऽद्यन्तयोः ॥ ५४ ॥

ब्रह्म वेदः । अनुवचनमध्यापनम् । तत्राऽऽद्यन्तयोश्च गुरुपादोपसंग्रहणं कार्यम् ॥ ५४ ॥

वेद का पाठ होने पर (पाठ आरम्भ होने के) पहले और अन्त में गुरु का चरण छुये ॥ ५४ ॥

अनुज्ञात उपविशेत् प्राङ्मुखो दक्षिणतः शिष्य उदङ्मुखो वा ॥ ५५ ॥

आचार्येणानुज्ञातस्तद्दक्षिणतः प्राङ्मुख उदङ्मुखो वोपविशेत् । कार्यानुगुणो विकल्पः ॥ ५५ ॥

आचार्य की आज्ञा पाकर (ब्रह्मचारी) उनकी दाहिनी ओर पूर्व की ओर मुख करके अथवा उत्तर की ओर मुख करके बैठे ॥ ५५ ॥

सावित्री चानुवचनम् ॥ ५६ ॥

तत्सवितुर्वरेण्यमित्येषा नत्वन्या सवितृदेवत्या । सा वाऽनुवचनं प्रत्यध्ययनं पठनीयेति ॥ ५६ ॥

प्रतिदिन के अध्ययन के समय सावित्री मन्त्र का ('ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात्' सवितृ देवता के इसी मन्त्र का किसी दूसरे मन्त्र का नहीं) उच्चारण करे ॥ ५६ ॥

आदितो ब्रह्मण आदाने ॥ ५७ ॥

पाणिना सव्यमुपसंगृह्येत्यादि सावित्र्यनुवचनान्तं यदुक्तं तदिदं ब्रह्मणो वेदस्य गुरोः सकाशादादित आदानकाले कर्तव्यम् । उपनयनादनन्तरं सावित्र्युपदेशकाले च, प्रत्यहं तु तत्र चक्षुर्मनस्त्वम् । प्रातरध्ययनाद्यन्तयोश्च गुरोः पादोपसंग्रहणमनुज्ञातोपवेशनं च कर्तव्यम् ॥ ५७ ॥

गुरु से वेद का ज्ञान ग्रहण करते समय (गुरु के बायें पैर को दाहिने हाथ से छूने से लेकर सावित्री मन्त्र के उच्चारण तक के पूर्वोक्त कार्य) आरम्भ से करना चाहिए ॥ ५७ ॥

ॐकारोऽन्यत्रापि ॥ ५८ ॥

सावित्र्यनुवचनादन्यत्राप्योंकारो वक्तव्यः । प्रत्यहमध्ययनकाल इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

(सावित्री मन्त्र के उच्चारण के साथ ॐ का उच्चारण करने के अतिरिक्त) अन्यत्र (प्रतिदिन अध्ययन के समय) ॐ का उच्चारण करना चाहिए ॥ ५८ ॥

अन्तरागमने पुनरुपसदनम् ॥ ५९ ॥

गुरोः शिष्यस्य च मध्ये गमनमन्तरागमनम् । यस्य कस्याप्यन्तरागमने पुनरुपसदनं कर्तव्यम् । पाणिना सव्यमित्याद्योंकारेऽन्यत्रापीत्यन्तमुपसदनम् ॥ ५९ ॥

(गुरु और शिष्य के) बीच में किसी भी प्राणी के आ जाने पर पुनः गुरु के चरण स्पर्श (आदि पूर्वोक्त कर्म) करने होते हैं ॥ ५९ ॥

श्वनकुलसर्पमण्डूकमार्जाराणां त्र्यहमुपवासो विप्रवासश्च ॥ ६० ॥

श्वादीनामन्तरागमने त्र्यहमुपवासो विप्रवासश्च कर्तव्यः । विप्रवास आचार्यकुलादन्यत्र वासः । मनुस्तु—

पशुमण्डूकमार्जारश्वसर्पनकुलेषु ।च ।
अन्तरागमने विद्यादनध्यायमहर्निशम् ।। इति ।
तद्धारणाध्ययनविषयम् । गौतमोयं तु ग्रहणाध्ययनविषयम् ।। ६० ।।

कुत्ता, नेवला साँप, मेढक और बिल्ली के (गुरु और शिष्य के बीच में) आ जाने पर शिष्य तीन दिन उपवास करे और गुरुकुल से पृथक् निवास करे ।। ६० ।।

प्राणायामा घृतप्राशनं चेतरेषाम् ।। ६१ ।।

इतरेषां श्वादिव्यतिरिक्तानां पश्वादीनामन्तरागमने प्राणायामास्त्रयः कार्या घृतप्राशनं च कार्यम् । एतत्सर्वं शिष्यस्य प्रायश्चित्तं न गुरोः, उभयोरित्यपरे ।। ६१ ।।

(उपर्युक्त प्राणियों के अतिरिक्त) अन्य पशुओं के गुरु और शिष्य के बीच में आने पर शिष्य (तीन) प्राणयाम करे और घी खावे । (कुछ शास्त्रकारों के मतानुसार यह प्रायश्चित्त गुरु और शिष्य दोनों को ही करना चाहिए) ।। ६१ ।।

श्मशानाभ्यध्ययने चैवम् ।। ६२ ।।

अभिरूपरिभावे श्मशानस्योपर्यध्ययने चैवं प्रायश्चित्तम् । प्राणायामा घृतप्राशनं चेति । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ।। ६२ ।।

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
प्रथमप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः ।।

श्मशान के समीप अध्ययन करने पर भी यही प्रायश्चित्त (प्राणायाम और घृतप्राशन) करे ।। ६२ ।।

गौतमधर्मसूत्र का प्रथम अध्याय समाप्त

अथ द्वितीयोऽध्यायः

उपनीतप्रसङ्गेनानुपनीतधर्मा उच्यन्ते—

प्रागुपनयनात्कामचारः कामवादः कामभक्षः ॥ १ ॥

आषोडशाद् ब्राह्मणस्येत्यापत्कल्पोपनयनविषयम् । कामचार इच्छाचरणम् । अपण्यान्यपि विक्रीणीयाच्छ्ववृत्त्याऽपि जीवेदिति । कामवादोऽश्लीलानृतादिवचनम् । कामभक्षो लशुनपर्युषितान्नादिभक्षणं चतुःपञ्चकृत्वो वा भोजनमित्येतावद्यस्य स तथोक्तः । न तु ब्रह्महत्यासुरापानाद्यतिप्रसङ्गः ॥ १ ॥

उपनयन होने के पूर्व (बालक) इच्छानुसार कार्य (न बेचने योग्य वस्तुओं का विक्रय आदि कर्म) कर सकता है; जैसा चाहे वैसा (अर्थात् अश्लील या असत्य) बोल सकता है और इच्छानुसार (जैसे लहसुन, बासी, या चार-पाँच बार) भोजन कर सकता है ॥ १ ॥

अहुतात् ॥ २ ॥

हुतशेषं पुरोडाशादि । तदत्तीति हुतात् । तद्विपरीतोऽहुतात् । अनुपनीतो हुतं नाद्यादिति ॥ २ ॥

जिसका यज्ञोपवीत न हुआ हो वह हवन के उपरान्त अवशिष्ट (पुरोडाश आदि) का भोजन न करे ॥ २ ॥

ब्रह्मचारी ॥ ३ ॥

कामचारादेरयमपवादः । आषोडशादित्युक्तत्वात्स्त्रीषु प्रसङ्गयोग्यताऽस्त्यतो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः स्यादिति । तथा च स्मृत्यन्तरे—

प्रायश्चित्तं विलुप्तमवकीर्णिव्रतेन शुद्धमुपनयेन्न सप्तदशमत ऊर्ध्वं व्रात्यावकीर्णिव्रताभ्यामिति ॥ ३ ॥

(यज्ञोपवीत के पूर्व भी बालक) ब्रह्मचारी रहे (अर्थात् इन्द्रियों पर संयम रखे, स्त्रीप्रसंग न करे) ॥ ३ ॥

यथोपपादितमूत्रपुरीषो भवति ॥ ४ ॥

मूत्रपुरीषे यथोपपद्येते यस्य स तथोक्तः प्राङ्मुखादिरपि कुर्यात् । न भूमावनन्तर्धायेत्यादिस्थाननियमोऽपि नास्ति ॥ ४ ॥

जिस ढंग से सुविधा हो उस ढंग से मूत्र और पुरीष का त्याग कर सकता है ॥ ४ ॥

नास्याऽऽचमनकल्पो विद्यते ॥ ५ ॥

कल्पनिषेधादाचमनमनुज्ञातं स्त्रीशूद्रवत् ॥ ५ ॥

उस (अनुपनीत बालक) के लिए आचमन का विधान नहीं है ॥ ५ ॥

अन्यत्रापमार्जनप्रधावनावोक्षणेभ्यः ॥ ६ ॥

अपमार्जनादीनि वर्जयित्वाऽऽचमनकल्पो नास्ति । अपमार्जनादिकमस्तीति यावत् । यद्यप्यपमार्जनादीन्याचमनकल्पे नान्तर्भवन्ति तथापि पर्युदासमुखेन तानि विधीयन्ते । अत्र(त्राप)मार्जनं सोदकेन पाणिना परिमार्जनमुच्छिष्टादिलिप्तस्य । प्रधावनममेध्यादिलिप्तस्याद्भिर्मृदा च क्षालनम् । अवोक्षणं रजस्वलादिस्पृष्टस्य । इदमत्यन्तबालविषयम् षड्वर्षादूर्ध्वं स्नानमिच्छन्ति । अस्यानुपनीतस्यैतावदुक्तमात्रकामचारादिव्यतिक्रमे प्रायश्चित्तमस्ति । तत्र स्मृत्यन्तरे—

अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाऽप्यूनषोडशः ।
प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो व्याधित एव च ॥
ऊनैकादशवर्षस्य पञ्चवर्षात्परस्य च ।
चरेद्गुरुः सुहृच्चैव प्रायश्चित्तं विशुद्धये ॥
अतो बालतरस्यास्य नापराधो न पातकम् ।
राजदण्डश्च तस्यातः प्रायश्चित्तं च नेष्यते ॥ इति ॥ ६ ॥

भोजनोपरान्त उच्छिष्ट को धोने, मल आदि दूषित पदार्थों के लेप और गन्ध को दूर करने और रजस्वला आदि के स्पर्श से शुद्धि करने के अतिरिक्त अन्य किसी आचमन का विधान अनुपनीत बालक के लिए नहीं है ॥ ६ ॥

न तदुपस्पर्शनादशौचम् ॥ ७ ॥

तदुपस्पर्शनात्तस्याकृतोपनयनस्योदक्यादिस्पृष्टस्याप्युपस्पर्शनादशौचं न स्यात् । स्पृष्टास्पृष्टिरुपस्पर्शनम् । तेन स्नानं न कर्तव्यम् । भुक्तोच्छिष्टस्य कृतमूत्रपुरीष[स्य] स्पर्शनादपि नाऽऽचमनम् । इदमपि षड्वर्षात्प्रागेव । किमर्थं तर्हि तस्य शौचं विहितम् । न तावदनुष्ठानार्थं नापि स्पर्शयोग्यतार्थम् । अकृतशौचस्यापि स्पर्शयोग्यत्वात् । रक्षणार्थमिति श्रमः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—

बालस्य पञ्चमाद्वर्षाद्रक्षार्थं शौचमाचरेत् । इति ॥ ७ ॥

उसके (अनुपनीत बालक के छः वर्ष की अवस्था से पहले) रजस्वला

स्त्री द्वारा छूए जाने, भोजन के उपरान्त जूठे हाथ होने या मूत्र और मलत्याग करने से अशुद्ध होने पर भी) स्पर्श से अशौच नहीं होता ॥ ७ ॥

नत्वेवैनमग्निहवनबलिहरणयोर्नियुञ्ज्यात् ॥ ८ ॥

एनमनुपनीतमग्निहवन औपासनहोमादौ बलिहरणे वैश्वदेवादौ न नियुञ्ज्यान्न नियुञ्जीतेति यावत् । तुशब्दादुक्तादन्यत्रापि समन्त्रके कर्मणि न नियुञ्जीतेति । एवकारोऽवधारणे । अथाऽऽश्वलायनः—"पाणिग्रहणादि गृह्यं परिचरेत्स्वयं पत्न्यपि वा पुत्रः कुमार्यन्तेवासी वा" इति । छन्दोगाश्च पत्नी जुहुयादिति पत्नीकमार्याद्यनुज्ञातेऽस्मिन्पक्षे नत्वेवैनमित्यर्थः ॥ ८ ॥

इस (अनुपनीत बालक) को औपासन होम आदि में और वैश्वदेव आदि बलिकर्म में न लगावे ॥ ८ ॥

न ब्रह्माभिव्याहारयेदन्यत्र स्वधानिनयनात् ॥ ९ ॥

ब्रह्म वेदः । एनमनुपनीतं ब्रह्म नाभिव्याहारयेन्नोच्चारयेत् । किमविशेषणेति नेत्याह । अन्यत्र स्वधानिनयनात् । पित्र्यस्य सर्वस्य कर्मण उपलक्षणम् । अन्यत्रोदककर्मस्वधापितृसंयुक्तेभ्य इति वासिष्ठे दर्शनात् । अगृहीताक्षरः पुत्रः पित्रोः संस्कारमर्हतीत्यादि च । अन्यस्यासंभवे सर्वं पित्र्यं कर्म तदानीं मन्त्रान्ग्राहयित्वाऽसौ कारयितव्यः ॥ ९ ॥

स्वधा (उदकदान आदि श्राद्ध) कर्म को छोड़कर इस अनुपनीत बालक से वेदमंत्रों का उच्चारण नहीं कराना चाहिए ॥ ९ ॥

उपनयनादर्नियमः ॥ १० ॥

अग्नीन्धनादिर्यो नियमो वक्ष्यते स उपनयनादिरेव । अनुपनीताधिकारेण विच्छिन्नत्वादुपनीताधिकारार्थमिदम् ॥ १० ॥

आगे (अग्नीन्धन आदि जो) नियम बताये जाँयगे वे उपनयन से आरम्भ होते हैं ॥ १० ॥

उक्तं ब्रह्मचर्यम् ॥ ११ ॥

अनुपनीतस्य यदुक्तं ब्रह्मचर्यं तदुपनीतस्यापि समानम् । ननु च स्त्रीप्रेक्षणालम्भने इति निषेधो वक्ष्यते । तथाऽपि स्मरणकीर्तनादिनिषेधार्थमिदम् ॥ ११ ॥

अनुपनीत बालक के लिए जिस ब्रह्मचर्य का नियम बताया गया है वह उपनीत बालक के लिये भी समझना चाहिए ॥ ११ ॥

अग्नीन्धनभैक्षचरणे ॥ १२ ॥

अग्नीन्धनं समिद्धोम। भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। तदर्थं प्रतिगृहं चरणं भैक्षचरणम्। ते प्रत्यहं कर्तव्ये। तत्र मनुः—

दूरादाहृत्य समिधः संनिदध्याद्विहायसि।
सायं प्रातश्च जुहुयात्ताभिरग्निमतन्द्रितः॥
अकृत्वा भैक्षचरणमसमिध्य च पावकम्।
अनातुरः सप्तरात्रमवकीर्णिव्रतं चरेत्॥ इति।

आपस्तम्बस्तु—सायमेवाग्निपूजेत्येक इति ॥ १२ ॥

(प्रतिदिन) अग्निकर्म अर्थात् समिधाओं से होम और भिक्षाचरण करे ॥ १२ ॥

सत्यवचनम् ॥ १३ ॥

उपनीतेन सत्यमेव वक्तव्यम् ॥ १३ ॥

उपनीत को सत्य ही बोलना चाहिए ॥ १३ ॥

अपामुपस्पर्शनम् ॥ १४ ॥

उपस्पर्शनं स्नानम्। तदप्यहरहः कर्तव्यम् ॥ १४ ॥

जल से प्रतिदिन स्नान करे ॥ १४ ॥

एके गोदानादि ॥ १५ ॥

गोदानं नाम षोडशे वर्षे कर्तव्यं व्रतम्। तद्व्रतेषु द्वितीयम्। छन्दोगानामेक आचार्या गोदानादि स्नानमिच्छन्ति न ततः प्राग्दीक्षितवदस्यापि ब्रह्मचर्यदीक्षानियुक्तत्वात्। नित्यस्नानस्यायं प्रतिषेधः। नैमित्तिकं तु कर्तव्यं, तत्र दण्डवदाप्लवनम्। नाप्सु श्लाघमानः स्नायादित्यापस्तम्बस्मरणात् ॥ १५ ॥

छन्दोगों के कुछ आचार्य गोदान (सोलहवें वर्ष में किये जाने वाले केश और श्मश्रु के काटने के संस्कार) के बाद से उपनीत व्यक्ति के लिये स्नान कर्म विहित करते हैं ॥ १५ ॥

बहिःसंध्यत्वं च ॥ १६ ॥

सायंप्रातर्द्वे संध्ये यस्य ग्रामाद्बहिर्भवतः स बहिःसंध्यस्तस्य भावः ग्रामाद्बहिरेव संध्योपासनं कर्तव्यमिति ॥ १६ ॥

गांव से बाहर ही (उपनीत व्यक्ति) सायं एवं प्रातः की सन्ध्याएँ करे ॥ १६ ॥

तत्कदा कथं चेत्याह—

तिष्ठेत्पूर्वामासीतोत्तरां सज्योतिष्याज्योतिषो दर्शनाद्वाग्यतः ॥ १७ ॥

प्रातःसंध्यां तिष्ठेत्सायंसंध्यामासीत । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। स्थानासनयोरुपक्रमोपसंहारौ कथयति—सज्योतिषि काले समारभ्याऽऽज्योतिरन्तरदर्शनात् । प्रातर्नक्षत्रज्योतिरारभ्याऽऽसूर्यज्योतिर्दर्शनात्सायमादित्यज्योतिरारभ्याऽऽनक्षत्रदर्शनादिति । तावन्तं कालं वाग्यतश्च स्यात् । तथा च मनुः—

पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमाऽर्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीत सम्यगृक्षविभावनात् ॥ इति ॥ १७ ॥

प्रातः सन्ध्या में नक्षत्रों के दिखाई पड़ते रहने के समय से लेकर सूर्योदय के समय तक खड़ा होवे और सायं सन्ध्या में सूर्य की ज्योति दिखाई पड़ते रहने के समय से लेकर नक्षत्रों के दिखाई पड़ने के समय तक बैठे और मौन होकर (सन्ध्योपासन) करे ॥ १७ ॥

नाऽऽदित्यमीक्षेत ॥ १८ ॥

ब्रह्मचारिणोऽयं सदाऽऽदित्यदर्शने प्रतिषेधः । स्नातकस्य तु—

मानवी०—नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन ।
नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम् ॥ इति ॥१८॥

ब्रह्मचारी कदापि सूर्य को न देखे ॥ १८ ॥

वर्जयेन्मधुमांसगन्धमाल्यदिवास्वप्नाञ्जनाभ्यञ्जनयानोपानच्छत्रकामक्रोधलोभमोहवादवादनस्नानदन्तधावनहर्षनृत्यगीतपरिवादभयानि ॥ १९ ॥

मध्वादीनि वर्जयेत् । मधु माक्षिकम् । मांसं मृगादेः । गन्धश्चन्दनादिः । माल्यानि पुष्पाणि । दिवास्वप्नो दिवानिद्रा । अञ्जनमक्ष्णोः । अभ्यञ्जनं तैलाभ्यङ्गः । यानं शकटादि । उपानच्छत्रे प्रसिद्धे । कामः स्त्रीसङ्गः । क्रोधः कोपः । लोभो द्रव्याभिलाषः । मोहो विवेकशून्यता । वादो बहुजल्पः । वादनं वीणादीनाम् । स्नानं सुखार्थमुष्णतोयादिना कण्ठादधः प्रक्षालनम् । दन्तधावनं दन्तमलापकर्षणम् । हर्षोऽभिमतलाभाच्चित्तोद्रेकः । नृत्यगीते प्रसिद्धे । परिवादः परदोषकथनम् । भयं भयहेतुः कान्तारप्रवेशादिः । इदं हर्षेऽपि द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

(ब्रह्मचारी को) मधु, (मृग आदि का) मांस, (चन्दन आदि) गन्ध, पुष्प, दिन में शयन, आंखों में अञ्जन लगाना, शरीर के अंगों में तेल या सुगन्धित लेप लगाना, रथ या गाड़ी की सवारी, जूता, छाता, काम, क्रोध, लोभ (द्रव्य आदि की इच्छा), मोह (विवेकशून्यता), अधिक भाषण, वीणा आदि का वादन, आनन्द के लिये स्नान, दन्तधावन, हर्ष प्रकट करना, नृत्य, गीत, परनिन्दा और भय के कर्म (जैसे घोर वन में प्रवेश)—इन सबका परित्याग करना चाहिए ॥ १९ ॥

गुरुदर्शने कण्ठप्रावृतावसक्थिकापाश्रयणपादप्रसारणानि ॥

गुरवः पित्राचार्यादयः । तेषां दर्शनयोग्ये देशे कण्ठप्रावृतादीनि वर्जयेत् । कण्ठप्रावृतं कण्ठप्रावरणं वस्त्रादिना । अवसक्थिका, गु(ऊ)रौ पादमारोप्यावस्थानम् । अपाश्रयणं कुड्यस्तम्भाद्याश्रित्याऽऽसनम् । पादप्रसारणं प्रसिद्धम् । गुरुजनसकाशे विनयसंकोचेन तिष्ठेदित्यर्थः ॥ २० ॥

गुरु (पिता, आचार्य आदि श्रेष्ठ जनों) के सम्मुख कण्ठ ढकना, गुरु की ओर पैर करके बैठना (या जाँघ पर पैर रखकर बैठना), दीवाल या खम्भे आदि का सहारा लेकर बैठना तथा पैर फैलाना (वर्जित है) ॥ २० ॥

निष्ठीवितहसितविष्क(जृ)म्भितावस्फोटनानि ॥ २१ ॥

वर्जयेदिति । निष्ठीवितं कण्ठाच्छ्लेष्मणः सशब्दं बहिर्निरसनम् । हसितं हासः । विजृम्भितं जृम्भिका । अवस्फोटनमङ्गुलीनां सशब्दमुपमर्दनम् ॥ २१ ॥

खखारना, हँसना, जम्हाई लेना और अंगुलियों को चटखाना ये कार्य भी गुरु के समक्ष न करे ॥ २१ ॥

स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशङ्कायाम् ॥ २२ ॥

स्त्रीणां प्रेक्षणमवयवशो निरूपणं न यादृच्छिकं दर्शनम् । आलम्भनं स्पर्शनं ते अपि वर्जयेत् । मैथुनशङ्कायामिति वचनाद्बालवृद्धातुरासु स्वयं च तथाविधस्य न दोषः ॥ २२ ॥

मैथुन की शंका हो तो स्त्री (के अङ्गों) की ओर (कामुकतापूर्वक) दृष्टिपात और उनका स्पर्श न करे अर्थात् सहसा दृष्टि पड़ जाने और मैथुन की शंका न होने पर छोटी बच्ची, वृद्धा या रोगिणी को देखने एवं स्पर्श करने में दोष नहीं है ॥ २२ ॥

द्यूतं हीनसेवामदत्तादानं हिंसाम् ॥ २३ ॥

द्यूतं वर्जयेदिति । द्विविधं [द्यूतम्] प्राण्यप्राणिभेदात् । प्राणिद्यूतं मेषयुद्धाद्यप्राणिद्यूतमक्षक्रीडादि । हीनसेवां हीनस्य सेवामधोजातिप्रभृतेः । हीना चासौ सेवा च शौचादिजलाहरणम् । अदत्तादानं केनाप्यदत्तस्योत्सृष्टस्याप्यस्वामिकस्याऽऽदानम् । हिंसा प्राणिपीडा ॥ २३ ॥

जुआ, निम्नजाति के व्यक्ति की सेवा (अथवा निम्नकोटि की सेवावृत्ति), विना दी हुई वस्तु का ग्रहण और प्राणियों की हिंसा न करे ॥ २३ ॥

आचार्यतत्पुत्रस्त्रीदीक्षितनामानि ॥ २४ ॥

आचार्यस्य तत्पुत्रस्य तत्स्त्रिया दीक्षितस्य नामानि वर्जयेत् । परोक्षेऽप्यौपाधिकनामग्रहणं कर्तव्यमिति ॥ २४ ॥

आचार्य, उनके पुत्र, उनकी पत्नी तथा (यज्ञ में दीक्षणीया इष्टि करके) दीक्षा लेने वाले के नाम नहीं लेने चाहिए ॥ २४ ॥

मधुमांसाद्येतत्पर्यन्तं वर्जयेदिति क्रियान्वयोऽस्यापि सूत्रस्य—

शुक्लवाचो मद्यं नित्यं ब्राह्मणः ॥ २५ ॥

ब्राह्मणः शुक्ला अश्लीलाः परोद्वेगकारिण्यः । मद्यं मदकरं द्रव्यम् । ताश्च तच्च नित्यं वर्जयेत् । नित्यं ब्राह्मण इति वचनात् क्षत्त्रियवैश्ययोर्गृहस्थयोः पैष्टीव्यतिरिक्तमद्योपयोगे न प्रत्यवाय इति ॥ २५ ॥

ब्राह्मण अश्लील या दूसरे को कष्ट देने वाले वचन एवं मादक द्रव्यों के सेवन का नित्य ही (अर्थात् सर्वदा) परित्याग करे ॥ २५ ॥

अधःशय्यासनो पूर्वोत्थायी जघन्यसंवेशी ॥ २६ ॥

अस्यार्थो मानवे स्पष्टः—

नीचं शय्यासनं चास्य नित्यं स्याद्गुरुसंनिधौ ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥ इति ॥ २६ ॥

ब्रह्मचारी गुरु की शय्या की अपेक्षा नीची शय्या पर सोवे, गुरु के आसन की अपेक्षा नीचे आसन पर बैठे, गुरु के जागने से पहले ही उठे और उनके सोने के बाद सोवे ॥ २६ ॥

वाग्बाहूदरसंयतः ॥ २७ ॥

वाक्संयमो बहुप्रलापविरहः । बाहुसंयमो लोष्टमर्दनाद्यभावः । उदरसंयमो मितभोजनम् ॥ २७ ॥

वाणी, बाहुओं और पेट का संयम रखे (अर्थात् अधिक न बोले, ढेला आदि न चलावे और परिमित भोजन करे) ॥ २७ ॥

नामगोत्रे गुरोः समानतो निर्दिशेत् ॥ २८ ॥

आत्मनो नामगोत्रे गुरोः समानतो निर्दिशेत् । समानतो यथावदपलापरहितमित्यर्थः । अपर आह—गुरोर्नामगोत्रे समानतः सम्यगानतः प्रह्वो भूत्वा निर्दिशेदिति ॥ २८ ॥

गुरु को अपना नाम और गोत्र उचित रूप में शुद्धता के साथ (अथवा भली भाँति नम्रता के साथ) बतावे ॥ २८ ॥

अर्चिते श्रेयसि चैवम् ॥ २९ ॥

अर्चितो लोके पूजितः । श्रेयान्विद्यादिभिरधिकः । तयोरप्येवमेव सम्यगानत इति । अत्र स्मृत्यन्तरम्—

आचार्यं चैव तत्पुत्रं तद्भार्यां दीक्षितं गुरुम् ।
पितरं वा पितृव्यं च मातुलं मातरं तथा ॥
हितैषिणं च विद्वांसं श्वशुरं पतिमेव च ।
न ब्रूयान्नामतो विद्वान्मातुश्च भगिनीं तथा ॥

अर्चिते श्रेयसि चेत्येवंशब्दो यच्च यावच्च गुरावुक्तं तत्सर्वमतिदिशति । तेन शय्यासनादिकमपि तयोः संनिधौ नोच्चं भवतीति ॥ २९ ॥

पूज्य और (विद्या आदि में) श्रेष्ठ जनों को भी (इसी प्रकार अपना नाम और गोत्र बतावे) ॥ २९ ॥

शय्यासनस्थानानि विहाय प्रतिश्रवणम् ॥ ३० ॥

गुरावाज्ञापयति सति प्रतिश्रवणं प्रतिवचनं कुर्वञ्शय्यासनस्थानानि विहायाभिगच्छन्कुर्यात् ॥ ३० ॥

गुरु के आज्ञा देने पर (या कुछ कहने पर) शय्या, आसन और स्थान से उठकर उत्तर देना चाहिए ॥ ३० ॥

अभिक्रमणं वचनाददृष्टेन ॥ ३१ ॥

यदि बहिःस्थितो गुरुरपश्यन्नेव शिष्यं ब्रवीति तदा शिष्येणाभिक्रमणमुपसर्पणं कर्तव्यं न पुनरदृष्टोऽस्मीत्यनादरः कर्तव्यः ॥ ३१ ॥

(यदि गुरु अन्यत्र से कुछ कहें तो उनके) दिखलाई न पड़ते रहने पर शिष्य को उनके समीप जाना चाहिए ॥ ३१ ॥

अधःस्थानासनस्तिर्यग्वातसेवायां गुरुदर्शने चोत्तिष्ठेत् ॥ ३२ ॥

यदा गुरुर्नीचैः स्थानमासनं चाधितिष्ठति स्वयमुच्चैःस्थानासनस्थस्तदा गुरुं दृष्ट्वोत्तिष्ठेत्। तिर्यग्वातसेवायां मूत्रपुरीषोत्सर्गादौ च गुरुं दृष्ट्वोत्तिष्ठेत्। चकारः पूर्वापेक्षया समुच्चयार्थः ॥ ३२ ॥

गुरु को (अपनी अपेक्षा) नीचे स्थान या आसन पर स्थित और मूत्र या मलत्याग के समय गुरु को देखकर खड़े हो जाना चाहिए ॥ ३२ ॥

गच्छन्तमनुव्रजेत् ॥ ३३ ॥

गच्छन्तं गुरुमनुगच्छेत् ॥ ३३ ॥

(गुरु के) चलने पर उनके पीछे-पीछे चले ॥ ३३ ॥

कर्म विज्ञाप्याऽऽख्याय ॥ ३४ ॥

यत्किंचिदस्य शिष्यस्य कर्तव्यं तस्य निष्कृतिरिदं करिष्यामीत्याचार्याय विज्ञाप्य यच्चाऽऽचार्यो(र्यो)पयिकमुदकुम्भहरणादि तत्स्वयमेव ज्ञात्वा कृत्वा च तस्मै कृतमित्याख्याय वर्तितव्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

जो कर्म करना हो उसे तथा जो कुछ कार्य कर चुका हो उसे गुरु को बतलावे ॥ ३४ ॥

आहूतोऽध्यायी ॥ ३५ ॥

गुरुणाऽऽहूतः सन्नधीयीत न तु स्वयं चोदयेदिति ॥ ३५ ॥

गुरु के बुलाने पर अध्ययन के लिये जाये (उन्हें स्वयं प्रेरित न करे) ॥ ३५ ॥

युक्तः प्रियहितयोः ॥ ३६ ॥

आचार्यस्य यत्प्रियं हितं च तत्र युक्तस्तत्परः स्यात् । प्रियं तत्कालप्रीतिकरम् । हितं कालान्तरे* तत्करम् ॥ ३६ ॥

आचार्य को प्रसन्न करने वाले एवं उनका हित करने वाले कर्मों में तत्पर रहे ॥ ३६ ॥

तद्भार्यापुत्रेषु चैवम् ॥ ३७ ॥

तस्याऽऽचार्यस्य भार्यापुत्राश्च तेषु चैवमाचार्यवद्वर्तितव्यम् ॥ ३७ ॥

आचार्य की पत्नी एवं उनके पुत्रों से (आचार्य के) समान ही व्यवहार करे ॥ ३७ ॥

अस्यापवाद :—

नोच्छिष्टाशनस्नापनप्रसाधनपादप्रक्षालनोन्मर्दनोपसंग्रहणानि ॥ ३८ ॥

उच्छिष्टाशनं भुक्तशेषाशनम्। स्नापनं स्नानीयादिभिः शिरोऽङ्गमर्दनपूर्वकमभिषेकः। प्रसाधनमलंकरणम्। पादप्रक्षालनं प्रसिद्धम्। उन्मर्दनमभ्यङ्गशरीरसंवाहनादि। उपसंग्रहणं व्यत्यस्तपाणिनेत्यादि पूर्वोक्तम्। एतानि गुरोर्भार्यापुत्रेषु च न कर्तव्यानि। अत एवाऽऽचार्ये कर्तव्यानीति सिद्धम् ॥ ३८ ॥

(किन्तु गुरु की पत्नी एवं उनके पुत्रों के विषय में) उनका जूठा भोजन करना, उन्हें (जल से शिर आदि को मलते हुए) स्नान कराना, अलंकृत करना, पैर धोना, शरीर दबाना और (पूर्वोक्त उपसंग्रहण की विधि से) दाहिने हाथ से दाहिने और बाएँ हाथ से बायें पैर को छूकर प्रणाम करना—ये कार्य न करे ॥ ३८ ॥

अथोपसंग्रहणस्य प्रतिप्रसवः—

विप्रोष्योपसंग्रहणं गुरुभार्याणाम् ॥ ३९ ॥

विप्रोष्य प्रवासं गत्वा प्रत्यागतेन गुरुभार्याणामुपसंग्रहणं कार्यम् ॥ ३९ ॥

यात्रा से लौटकर आने पर (पूर्वोक्त उपसंग्रहण के नियमानुसार) गुरु की पत्नियों के चरण का स्पर्श करे ॥ ३९ ॥

तत्रापि—

नैके युवतीनां व्यवहारप्राप्तेन ॥ ४० ॥

एके त्वाचार्या युवतीनां गुरुभार्याणां व्यवहारप्राप्तेन षोडशवर्षप्रायेण शिष्येण विप्रोष्याप्युपसंग्रहणं न कार्यमिति मन्यन्ते ॥ ४० ॥

कतिपय आचार्यों का मत है कि (यात्रा से लौटकर आने पर भी) युवक (प्रायः सोलह वर्ष की आयु वाले) शिष्य को युवती गुरुपत्नियों का चरण नहीं छूना चाहिए ॥ ४० ॥

अग्नीन्धनभैक्षचरण इत्युक्तम्। तत्राग्नीन्धनस्य प्रतिग्राह्यं व्यवस्थितत्वात्साधारणभैक्षचरणे विधिमाह—

सार्ववर्णिकभैक्ष्यचरणमभिशस्तपतितवर्जम् ॥ ४१ ॥

सर्वेषु वर्णेषु भवं सार्ववर्णिकम्। अभिशस्तान्पतितांश्च वर्जयित्वा सर्वेषु वर्णेषु भैक्ष्यं चरितव्यम्। अभिशस्ता उपपातकिनः ॥ ४१ ॥

पातकी और पतित (अपने कर्म से च्युत) व्यक्तियों को छोड़कर सभी वर्णों (के गृहस्थों के घर) से भिक्षा मांगकर लाये ॥ ४१ ॥

आदिमध्यान्तेषु भवच्छब्दः प्रयोज्यो वर्णानुक्रमेण ॥४२॥

भिक्षां देहीति पदद्वयस्याऽऽदिमध्यान्तेषु वर्णक्रमेण भवच्छब्दः संबुद्ध्यन्तः प्रयोक्तव्यः । स्त्रीषु स्त्रीलिङ्गः । ब्राह्मणस्य भवन्भिक्षां देहि । ब्राह्मण्यां भवति भिक्षां देहि । क्षत्रियस्य भिक्षां भवन्देहि । भिक्षां भवति देहि । वैश्यस्य भिक्षां देहि भवन् । भिक्षां देहि भवति ॥ ४२ ॥

(भिक्षा माँगते समय भिक्षा देने वाले के ब्राह्मण क्षत्रिय या वैश्य) वर्ण के अनुसार 'भिक्षां देहि' इन पदों के आदि, मध्य, या अन्त में 'भवत्' (स्त्री हो तो 'भवति') शब्द का प्रयोग करे ॥ ४२ ॥

आचार्यज्ञातिगुरु [स्वे] ष्वलाभेऽन्यत्र ॥ ४३ ॥

आचार्य उक्तः । ज्ञातिः पितृव्यादिः सपिण्डः । गुरुर्मातुलादिः । स्वमात्मीयग्रहणम् । अन्यत्र भिक्षाया अभावे, आचार्यादिगृहेषु भैक्ष्यं चरितव्यम् ॥ ४३ ॥

अन्यत्र भिक्षा न मिलने पर आचार्य, अपने सपिण्ड जनों, गुरुजनों (मामा आदि) के या अपने घर से भिक्षा मांगे ॥ ४३ ॥

तेषां पूर्वं पूर्वं परिहरेत् ॥ ४४ ॥

तेषामाचार्यादीनां यो यः प्रथमनिर्दिष्टस्तं तं परिहरेत् । अन्यत्रालाभे स्वगृहे, तत्रालाभे गुरुषु, तत्रालाभे ज्ञातिषु, तत्रालाभ आचार्यगृह इति ॥ ४४ ॥

इनमें क्रमशः पहले-पहले वाले को बचावे (अर्थात् अन्यत्र भिक्षा न मिलने पर अपने घर से माँगे; वहाँ न मिलने पर गुरुजनों के यहाँ माँगे; वहाँ भी न मिलने पर सपिण्डजनों के यहाँ माँगे और कहीं न मिले तब गुरु के घर से भिक्षा माँगे ॥ ४४ ॥

निवेद्य गुरवेऽनुज्ञातो भुञ्जीत ॥ ४५ ॥

इदमानीतं भैक्ष्यमिति गुरवे निवेद्य तदनुज्ञातो भुञ्जीत । यदि गुरुः स्वयं गृह्णीयात्ततोऽन्यदाहरेत् ॥ ४५ ॥

मिली हुई भिक्षा को गुरु के सम्मुख प्रस्तुत करे और उनकी आज्ञा मिलने पर ही उसका भोजन करे । (यदि गुरु उसे स्वयं ग्रहण करें तो दूसरी भिक्षा माँगकर लानी चाहिए—मिताक्षरा) ॥ ४५ ॥

असंनिधौ तद्भार्यापुत्रसब्रह्मचारिभ्यः ॥ ४६ ॥

आचार्यासंनिधाने तद्भार्यादिभ्यो यथासंभवं निवेद्य तैरनुज्ञातो भुञ्जीत ॥ ४६ ॥

गुरु के कहीं दूर होने पर उनकी पत्नी, उनके पुत्र या अपने साथ के ब्रह्मचारियों के समक्ष रखकर (उनकी अनुमति मिलने पर भिक्षान्न का भोजन करे) ॥ ४६ ॥

वाग्यतस्तृप्यन्नलोलुप्यमानः संनिधायोदकम् ॥ ४७ ॥

यावद्भुक्ति वाचंयमः। तृप्यन्नन्नदर्शनेन हृष्यन्। अलोलुप्यमानोऽतिस्पृहामकुर्वन्। संनिधायान्तर्भावितण्यर्थः। संनिधाप्येति। उदकमुदकभाजनमिति ॥ ४७ ॥

(भोजन करते समय) मौन रहे, प्रसन्न रहे, लालच न करे और जल का पात्र अपने निकट रखे ॥ ४७ ॥

शिष्यशासनप्रकारमाह—

शिष्यशिष्टिरवधेन ॥ ४८ ॥

वधस्ताडनम्। अताडयता गुरुणा भर्त्सनादिभिः शिष्यः शास्यः ॥४८॥

गुरु शिष्य को बिना मारे-पीटे केवल उसकी भर्त्सना करके अनुशासित रखे ॥ ४८ ॥

अशक्तौ रज्जुवेणुविदलाभ्यां तनुभ्याम् ॥ ४९ ॥

यदि भर्त्सनादिभिः शासितुमशक्यस्ततो रज्ज्वा तन्वा, तनुना वेणुविदलेन वेति। द्वंद्वनिर्दिष्टयोरपि विकल्पो रज्ज्वा वेणुदलेन वेति मानवे दर्शनात्। ताभ्यां दुर्बलाभ्यां ताडयित्वाऽपि शासनीयः ॥ ४९ ॥

यदि भर्त्सना से (उद्दण्ड शिष्य) वश में न रहे तो पतली रस्सी या बाँस की पतली छड़ी से मारकर (अनुशासित रखे) ॥ ४९ ॥

अन्येन घ्नन् राज्ञा शास्यः ॥ ५० ॥

हस्तादिना क्रोधवशेन ताडयन्राज्ञा शास्य आचार्यः। एवं शिष्यस्य गुरुकुले वास उक्तः ॥ ५० ॥

अन्य किसी प्रकार से (क्रोधवश होकर हाथ आदि से शिष्य को) मारने पर (आचार्य) राजा द्वारा दण्डनीय होता है ॥ ५० ॥

कियन्तं कालमित्यत आह—

द्वादश वर्षाण्येकवेदे ब्रह्मचर्यं चरेत् ॥ ५१ ॥

यद्यप्येकैकस्य वेदस्य बह्व्यः शाखाः । एकविंशतिधा बह्वृच एकशतं यजुः शाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदो नवधाऽऽथर्वणो वेद इति । तथाऽपि तत्र तत्र वेदे पूर्वैरध्ययनानुष्ठानाभ्यां परिगृहीता यावती शाखा तावत्यत्र वेदशब्देन विवक्षिता । य एकं वेदमधीते स द्वादश वर्षाणि गुरुकुले ब्रह्मचर्यं चरेत् ॥ ५१ ॥

एक वेद के अध्ययन के लिए बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य का आचरण करे ॥ ५१ ॥

प्रतिद्वादश वा सर्वेषु ॥ ५२ ॥

यस्तु चतुरो वेदानध्येतुं शक्तः स प्रतिद्वादश प्रतिवेदे द्वादश वर्षाणीत्यर्थः । यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—

उपेतस्याऽऽचार्यकुले ब्रह्मचारिवासोऽष्टाचत्वारिंशद्वत्सराणीति ॥५२॥

अथवा यदि चारों वेदों का अध्ययन करने में समर्थ हो तो प्रत्येक वेद के लिये बारह वर्ष तक गुरुकुल में निवास करे ॥ ५२ ॥

ग्रहणान्तं वा ॥ ५३ ॥

यावता कालेनैको वेदो द्वौ त्रयश्चतुरो वा ग्रहीतुं शक्यास्तावन्तं कालमिति ॥ ५३ ॥

अथवा जितने समय में (एक, दो, तीन या चारों वेद का) ग्रहण कर सके उतने समय तक ब्रह्मचर्याश्रम में रहे ॥ ५३ ॥

विद्यान्ते गुरुरर्थेन निमन्त्र्यः ॥ ५४ ॥

विद्यासमाप्तौ गुरुरर्थेन प्रयोजनेन निमन्त्र्यः प्रष्टव्यः । गुरो, इदं धनमाहराणीति ॥ ५४ ॥

विद्याध्ययन समाप्त कर लेने पर गुरु से (गुरुदक्षिणा) धन के विषय में पूछे ॥ ५४ ॥

कृत्वाऽनुज्ञातस्य वा स्नानम् ॥ ५५ ॥

तत आहरेत्याचार्योक्तं कृत्वा स्नानं कर्तव्यम् । वत्स त्वद्गुणैरेवाहमस्मि तोषितो धनेनालमिति तेनानुज्ञातस्य वा, स्नानं समावर्तनं कर्तव्यमिति ॥ ५५ ॥

(गुरु की आज्ञानुसार गुरुदक्षिणा प्रदान) करके अथवा उनके द्वार प्रसन्नतापूर्वक (बिना दक्षिणा लिये ही) आज्ञा दी जाने पर समावर्तन स्नान करे ॥ ५५ ॥

आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणां मातेत्येके [मातेत्येके] ॥ ५६ ॥

गुरूणां पित्रादीनां मध्य उक्तलक्षण आचार्यः श्रेष्ठः । स हि विद्यातस्तं जनयति तच्छ्रेष्ठं जन्म । तेनानेकगुरुसमवाये स एव प्रथमं पूज्यः । एके त्वाचार्या माता श्रेष्ठेति मन्यन्ते । तथा च वसिष्ठः—

उपाध्यायाद्दशाऽऽचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
पितुर्दशगुणं माता गौरवेणातिरिच्यते ॥

आपस्तम्बोऽपि—

माता पुत्रत्वस्य भूयाँसि कर्माण्यारभते तस्याँ शुश्रूषा नित्या पतितायामपि । द्विरुक्तिरध्यायपरिसमाप्त्यर्था ॥ ५६ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
प्रथमप्रश्ने द्वितीयोऽध्यायः ॥

पिता आदि पूज्य जनों में आचार्य श्रेष्ठ होता है; किन्तु कतिपय आचार्यों का मत है कि माता (सभी पूज्य जनों में) श्रेष्ठ होती है ॥ ५६ ॥

गौतमधर्मसूत्र के प्रथम प्रश्न में द्वितीय अध्याय समाप्त ॥

अथ प्रथमप्रश्ने तृतीयोऽध्यायः

तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवते ॥ १ ॥

तस्यैवमधीतवेदस्य ब्रह्मचारिणो वक्ष्यमाणाश्चत्वार आश्रमा विकल्प्यन्त इत्येक आचार्या ब्रुवते। अन्ये तु समुच्चीयन्त इति। तत्राऽऽपस्तम्बः—

तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छतीति। बुद्ध्वा कर्माणि यत्कामयेत तदारभेतेति च। तथा च ब्रह्मचर्याश्रममुक्त्वा "अत एव ब्रह्मचर्यवान्प्रव्रजति" इति बौधायनः।

मनुना तु समुच्चयो दर्शितः—

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु व्रजमानः पतत्यधः॥
सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते यथाशास्त्रं निषेविताः।
यथोक्तकारिणं विप्रं नयन्ति परमां गतिम्। इति ॥ १ ॥

कतिपय आचार्यों का मत है कि उस (वेद का अध्ययन पूरा कर लेने वाले) ब्रह्मचारी को (चारों आश्रमों में से) किसी भी आश्रम को स्वीकार करने की छूट होती है ॥ १ ॥

के पुनस्त आश्रमाः—

ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः ॥ २ ॥

यद्यप्यसौ पूर्वमपि ब्रह्मचर्याश्रम उक्तस्तथाऽपि प्रपित्सितनैष्ठिकब्रह्मचारित्वमत्र विवक्षितम्। भिक्षुः संन्यासी। वैखानसो वानप्रस्थः। वैखानसप्रोक्तेन मार्गेण वर्तत इति। तेन स आश्रमः प्राधान्येन दर्शितः। शास्त्रान्तरेषु वैखानसस्तृतीयो भिक्षुश्चतुर्थ आश्रमः। इह तु क्रमभेदः प्रागुक्तास्त्रय आश्रमिण इत्यत्र वैखानसवर्जनार्थः ॥ २ ॥

(वेदाध्ययन समाप्त करने के उपरान्त) ब्रह्मचारी, गृहस्थ, संन्यासी या वानप्रस्थ का जीवन आरम्भ कर सकता है (यहाँ प्रधानता के भेद से संन्यास को वानप्रस्थ के पहले रखा गया है) ॥ २ ॥

तेषां गृहस्थो योनिरप्रजनत्वादितरेषाम् ॥ ३ ॥

तेषां चतुर्ष्वप्याश्रमेषु वर्तमानानां गृहस्थो योनिरुपस (त्प) त्तिस्थानम्। गृहस्थेनैवोत्पादिताश्चतुर्भिराश्रमैरधिक्रियन्ते। गृहस्थव्यतिरिक्ताश्रमस्थानां प्रजोत्पादनस्य निषिद्धत्वात्। तत्र शातातपः—

चण्डालाः प्रत्यवसिताः परिव्राजकतापसाः ।
तेषां जातान्यपत्यानि चण्डालैः सह वासयेत् ॥ इति ॥ ३ ॥

इन आश्रमों में (स्थित पुरुषों का) गृहस्थाश्रम ही उत्पत्तिस्थान है; क्योंकि गृहस्थाश्रम के अतिरिक्त अन्य आश्रमों में सन्तान-उत्पत्ति की व्यवस्था नहीं है ॥ ३ ॥

इदानीमाश्रमधर्मान्वक्ष्यन्प्रथमनिर्दिष्टस्य ब्रह्मचारिण आह—

तत्रोक्तं ब्रह्मचारिणः ॥ ४ ॥

तत्र तेषां मध्ये ब्रह्मचारिणो नैष्ठिकस्य यदुपकुर्वाणस्योपनयनादिर्नियम इत्यारभ्योक्तं तदेवास्यापीत्युक्तं भवति ॥ ४ ॥

इन आश्रमों में ब्रह्मचारी के नियम पहले बता दिये गये हैं (अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचारी को उन्हीं नियमों का पालन करना चाहिए) ॥ ४ ॥

तत्र विशेषः—

आचार्याधीनत्वमान्तम् ॥ ५ ॥

आन्तमादेहपातम् । आचार्यकुल एव तच्छुश्रूषया वर्तेत ॥ ५ ॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवनपर्यन्त आचार्य के अधीन (गुरुकुल में निवास करते हुए एवं आचार्य की सेवा करते हुए) रहे ॥ ५ ॥

गुरोः कर्मशेषेण जपेत् ॥ ६ ॥

आचार्ये प्रकृते गुरुशब्दः पित्रोरपि ग्रहणार्थः । ततश्चाऽऽचार्यं पितरौ च शुश्रूषमाणस्तद्व्यतिरिक्ते काले जपेद्वेदमधीयीत । न तु स्वाधीनो भवेत् ॥ ६ ॥

आचार्य (और माता-पिता) की सेवा के उपरान्त शेष समय में जप करे ॥ ६ ॥

गुर्वभावे तदपत्यवृत्तिस्तदभावे वृद्धे सब्रह्मचारिण्यग्नौ वा ॥ ७ ॥

आचार्ये या वृत्तिरभिहिता सा तदभावे तत्पुत्रे, तत्पुत्राभावे वृद्धे विद्यया वयसा वाऽधिके, वृद्धाभावे तथाभूते सब्रह्मचारिणि, सब्रह्मचार्यभावेऽग्नौ वा कर्तव्या । समिदाधानादिभिरग्नौ वृत्तिः ॥ ७ ॥

गुरु के न होने पर उनके प्रति बताई गई वृत्ति का आचरण उनके पुत्र के प्रति करे; उनके पुत्र के अभाव में (विद्या में या आयु में) श्रेष्ठ व्यक्ति के प्रति और उसके अभाव में अपने सहाध्यायी ब्रह्मचारी के प्रति उस वृत्ति का

आचरण करे और उसके भी अभाव में अग्नि में (समिधाओं का हवन आदि कर्म द्वारा) वृत्ति करे ॥ ७ ॥

एवंवृत्तो ब्रह्मलोकमवाप्नोति जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥

स्पष्टोऽर्थः। जितेन्द्रियत्वं मनुना दर्शितम्—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा ध्यात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके इस प्रकार आचरण करने वाला नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्रह्मलोक प्राप्त करता है ॥ ८ ॥

उत्तरेषां चैतदविरोधि ॥ ९ ॥

उत्तरेषामप्याश्रमाणामस्मिन्वृत्ते यदविरुद्धं तत्समानम्। यथा द्यूतादिवर्जनम्। विरुद्धं यथा—अग्निकार्यं प्रव्रजितस्य, गुरुकुलवासो वैखानसस्य, ब्रह्मचर्यं गृहस्थस्येत्यपरा वृत्तिः। उत्तरेषां चाऽऽश्रमाणां धर्मजातमेतस्य द्रष्टव्यम्। किमविशेषेण। न एतदविरोधि। एतदाश्रमधर्माविरोधि न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेतेत्येवमाद्यस्यापि भवति ॥ ९ ॥

ब्रह्मचर्य के बाद के आश्रमों में भी ब्रह्मचर्याश्रम के जो आचरण प्रतिकूल नहीं हैं वे समान रूप से विहित हैं ॥ ९ ॥

बहुवक्तव्यत्वात्क्रमप्राप्तमपि गृहस्थमुल्लङ्घ्य भिक्षोर्धर्मानाह—

अनिचयो भिक्षुः ॥ १० ॥

निचयो द्रव्यसंग्रहस्तद्रहितः स्यात् ॥ १० ॥

संन्यासी को (द्रव्य आदि का) संग्रह नहीं करना चाहिए ॥ १० ॥

ऊर्ध्वरेताः ॥ ११ ॥

उत्तरेषां चैतदविरोधीति जितेन्द्रियत्वे सिद्धेऽपि पुनरूर्ध्वरेता इति रेतसः स्रोतोभङ्गो यथा भवेत्तथा प्रयतेतेत्येवमर्थम् ॥ ११ ॥

(संन्यासी को) ऊर्ध्वरेता होना चाहिए (अर्थात् वीर्यभंग नहीं होने देना चाहिए) ॥ ११ ॥

ध्रुवशीलो वर्षासु ॥ १२ ॥

वर्षाशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। वर्षर्तौ सति ध्रुवशीलः स्यादेकत्र तिष्ठेदिति ॥ १२ ॥

वर्षाऋतु में एक स्थान पर ही निवास करे ॥ १२ ॥

भिक्षार्थी ग्राममियात् ॥ १३ ॥

भिक्षाकाल एव ग्रामं प्रविशेत्। शेषकालं देवालयादौ वृक्षमूलेषु वा वसेत् ॥ १३ ॥

भिक्षा माँगने के लिये (हो) गाँव में जाये ॥ १३ ॥

जघन्यमनिवृत्तं चरेत् ॥ १४ ॥

भिक्षाकाले यद्‌गृहमनुपपत्त्या विलम्बितं न तद्भूयस्तदहः प्रविशेत्। तत्र मनुः—

विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारेऽभुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥ १४ ॥

भिक्षा के समय किसी घर में देर हो जाय तो विना लौटे ही भिक्षा ग्रहण करे (दुबारा न जावे) ॥ १४ ॥

निवृत्ताशीः ॥ १५ ॥

अधिकभिक्षालाभार्थं गृहेष्वाशीर्वादपरो न स्यात् ॥ १५ ॥

अधिक भिक्षा के लोभ से आशीर्वाद नहीं देना चाहिए ॥ १५ ॥

वाक्चक्षुःकर्मसंयतः ॥ १६ ॥

वाक्संयमो मौनम। चक्षुःसंयमः पादविक्षेपप्रदेशादन्यत्र चक्षुषोरप्रवर्तनम्। कर्मसंयमो भिक्षोश्चोदितकर्मानतिक्रमः। अत्र वाक्संयमविरोधे तु स्मृत्यन्तरम्—

धर्मयोगं पथिप्रश्नं स्वाध्यायं च तथैव च।
भिक्षार्थं देहिवचनं न निन्दति यतेरपि ॥ इति ॥ १६ ॥

वाणी, नेत्र और कर्म में संयम करे (अर्थात् अधिक न बोले, इधर-उधर न देखे और विहित कर्म के अतिरिक्त कर्म न करे) ॥ १६ ॥

कौपीनाच्छादनार्थे वासो बिभृयात् ॥ १७ ॥

कौपीनमिति गुह्यप्रदेशस्य नाम। तदाच्छाद्यते यावता तावदेव वासो बिभृयात्। अधिकं तु प्रावरणादि न बिभृयात् ॥ १७ ॥

केवल गुप्त अंगों के आच्छादन भर के लिये पर्याप्त वस्त्र धारण करे ॥१७॥

प्रहीणमेके निर्णिज्य ॥ १८ ॥

एके मन्यन्ते तदपि कौपीनाच्छादनं प्रहीणं जीर्णं तथाऽन्यैस्त्यक्तं प्रक्षाल्य बिभृयात् ॥ १८ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि वह कौपीन वस्त्र (लंगोटी) भी पुराना हो और (दूसरे द्वारा त्यक्त हो तो) उसे धोकर पहने ॥ १८ ॥

नाविप्रयुक्तमोषधिवनस्पतीनामङ्गमुपाददीत ॥ १९ ॥

वृक्षलतादीनामङ्गं फलपत्राद्यविप्रयुक्तं ततोऽप्रच्युतं नोपाददीत न गृह्णीयात् । स्वयं पतितं तु गृह्णीयात् ॥ १९ ॥

अपने आप न गिरे हुए (अर्थात् गिराये गये) ओषधियों और वृक्ष एवं लताओं के पत्ते, फूल, फल, मूल या शाखा आदि को ग्रहण न करे ॥ १९ ॥

न द्वितीयामपर्तु रात्रिं ग्रामे वसेत् ॥ २० ॥

यत्र वर्षर्तौ ध्रुवशीलतोक्ता तमृतुं वर्जयित्वा, ऋत्वन्तरेषु यत्रैकां रात्रिमुषितस्तत्र ग्रामे न द्वितीयां वसेत् । ग्रामैकरात्रः स्यादिति ॥ २० ॥

(वर्षाऋतु के अतिरिक्त अन्य ऋतु में) जिस गाँव में एक रात्रि निवास करे उसमें दूसरी रात्रि न रहे ॥ २० ॥

मुण्डः शिखी वा ॥ २१ ॥

सर्वानेव केशान्सह शिखया वापयेत् । शिखावर्जं वापयेद्वा । मुण्डः शिखी वेति विकल्पेनैकदण्डत्रिदण्डग्रहणविकल्पोऽप्युक्तः । अत्र श्रुतिस्मृती—

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥ इति ।
सशिखं वपनं कृत्वा बाह्यं सूत्रं त्यजेद् बुधः ।
एकदण्डं गृहीत्वा च भिक्षुधर्मं समाचरेत् ॥
शिखी यज्ञोपवीती च यद्वा सम्यक्प्रबोधितः ।
त्रिदण्डग्रहणं कृत्वा भिक्षुधर्मं समाचरेत् ॥ २१ ॥

संन्यासी (शिखा सहित) सभी केशों को मुँड़ाकर रखे अथवा शिखा छोड़कर सिर मुड़ाये ॥ २१ ॥

वर्जयेद् बीजवधम् ॥ २२ ॥

बीजानि व्रीह्यादीनि तेषां वधो मुसलादिनाऽवघातस्तं न कुर्यात् । तेन तण्डुलस्यौदनीकरणमप्युपलक्षितम् । पक्वान्नस्यैव स्वामित्वादस्य॥२२॥

(व्रीहि आदि) बीजों को न कूटे । (केवल पकाये हुए अन्न की भिक्षा ग्रहण करे ।) ॥ २२ ॥

समो भूतेषु हिंसानुग्रहयोः ॥ २३ ॥

हिंसायामनुग्रहे च भूतेषु समो यो हिनस्ति यो वाऽनुगृह्णाति तत्र तत्र निर्विकार इति ॥ २३ ॥

पीड़ा पहुँचा पर या अनुग्रह करने पर (पीड़ा पहुँचानेवाले और अनुग्रह करनेवाले) प्राणियों के प्रति एक समान व्यवहार रखे ॥ २३ ॥

अनारम्भी ॥ २४ ॥

ऐहिकं पारत्रिकं च न कंचिदारम्भं कुर्यात् । यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—अनिहोऽनमुत्रश्चरेदिति ॥ २४ ॥

ऐहिक और पारत्रिक किसी कर्म को आरम्भ न करे ॥ २४ ॥

अथ वैखानसस्याऽऽह—

वैखानसो वने मूलफलाशी तपःशीलः ॥ २५ ॥

वैखानसो वानप्रस्थो वने वसन्मूलानि फलानि च पक्वानि वाऽश्नीयान्न पुनरोदनम् । तपः कायपरिशोषणम् । ततश्च मूलफलान्यपि स्वल्पान्येवाश्नीयादिति ॥ २५ ॥

वानप्रस्थ वन में निवास करे, मूल और फल खाये और तपस्या करता रहे ॥ २५ ॥

श्रावणकेनाग्निमाधाय ॥ २६ ॥

श्रावणकं नाम वैखानसं शास्त्रम् । तदुक्तेन प्रकारेणाग्निमाधाय सायं प्रातर्जुहुयादिति शेषः ॥ २६ ॥

श्रावणकशास्त्र के अनुसार अग्नि का आधान करके सायं एवं प्रातःकाल हवन करे ॥ २६ ॥

अग्राम्यभोजी ॥ २७ ॥

फलमूलान्यपि ग्राम्याणि न भुञ्जीत ॥ २७ ॥

ग्राम की कोई वस्तु (फल-मूल भी) न खाये । २७ ॥

देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः ॥ २८ ॥

वन्यैरेव फलमूलैरहरहः पञ्च महायज्ञान्कुर्यात् । अत्र मनुः—

आरण्यैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा ।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥ इति ॥ २८ ॥

देव, पितर, अतिथि, भूत और ऋषि की (प्रतिदिन) पूजा करे (अर्थात् पञ्चमहायज्ञ करे) ॥ २८ ॥

सर्वातिथिः प्रतिषिद्धवर्जम् ॥ २९ ॥

य एनमुपागच्छन्ति ते सर्व(र्वेऽ)स्यातिथयः । न पुनर्ब्राह्मणस्यानतिथिरब्राह्मण इत्ययं नियमोऽस्ति । तत्रापि स्तेनपतितादीन्वर्जयेत्प्रतिषिद्धवर्जम् ॥ २९ ॥

निषिद्ध (चोर, पतित आदि) को छोड़कर सभी व्यक्ति वानप्रस्थ के अतिथि होते हैं ॥ २९ ॥

वैष्कमप्युपयुञ्जीत ॥ ३० ॥

विष्का दुष्टमृगा व्याघ्रादयस्तैर्हतं मांसं वैष्कं तदप्युपयुञ्जीत । अपि शब्दो गौणार्थः । फलमूलाद्यभावे तदपि भक्ष्यमिति । तत्रापि पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्येतद्वाऽतिरिक्तं वर्जयित्वा । प्रतिषिद्धवर्जमिति पदं काकाक्षिन्यायेनोभयत्र संबध्यते ॥ ३० ॥

(फल-मूल के अभाव में) व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं द्वारा मारे गये जीवों का मांस खा सकता है (किन्तु जिन पशुओं के मांस का निषेध किया गया है उनके मांस का भक्षण न करे) ॥ ३० ॥

न फालकृष्टमधितिष्ठेत् ॥ ३१ ॥

अरण्ये वसन्हलेन कृष्टं प्रदेशं नाधिवसेत् ॥ ३१ ॥

(वन में रहते हुए) हल से जोते गये खेत में न जाये ॥ ३१ ॥

ग्रामं च न प्रविशेत् ॥ ३२ ॥

वने वसतोऽपि यादृच्छिकोपग्रामप्रवेशो निषिद्धः ॥ ३२ ॥

ग्राम में भी प्रवेश न करे ॥ ३२ ॥

जटिलश्चीराजिनवासाः ॥ ३३ ॥

जटिलः केशश्मश्रुलोमनखधारी । चीरं दर्भादिनिर्मितं वासः । अजिनमुत्तरीयम् । तथा च स्मृत्यन्तरे व्यवस्थादर्शनात् ॥ ३३ ॥

जटा (केश, दाढी-मूँछ, नख) बढ़ाये रखे, (दर्भ आदि से निर्मित) वस्त्र पहने और मृगचर्म (का उत्तरीय) धारण करे ॥ ३३ ॥

नातिसंवत्सरं भुञ्जीत ॥ ३४ ॥

संवत्सरमतिक्रान्तमतिसंवत्सरं तदारण्यमपि नाश्नीयात् । अत्र मनुः—

त्यजेदाश्वयुजे मासि ह्युत्पन्नं पूर्वसंचितम् ।
जीर्णानि चैव वासांसि पुष्पमूलफलानि च ॥ इति ॥ ३४ ॥

एक वर्ष से अधिक समय तक कोई रखी हुई वस्तु भी न खाये ॥३४ ॥

उक्ता आश्रमास्तेषां विकल्पसमुच्चयावपि दर्शितौ । तेषां प्राधान्यं दर्शयति—

ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य गार्हस्थ्यस्य ॥ ३५ ॥

तुशब्दो विशेषवाची। सर्वेषु वेदशास्त्रेतिहासपुराणेषु गृहस्थधर्मा एवाग्निहोत्रादयः प्राचुर्येण विधीयन्ते । ततः सर्व एवाऽचार्या गार्हस्थ्यस्यैकाश्रम्यं प्राधान्यं मन्यन्ते। तत्राशक्तानामितराश्रमधर्मा विधीयन्ते। प्रत्यक्षविधानादितराश्रमाणां प्रत्यक्षेणोपजीव्यत्वात् । द्विरुक्तिर्व्याख्याता ॥ ३५ ॥

इति श्रीगौतमर्षीवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
प्रथमप्रश्ने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

सभी आचार्य एक ही आश्रम (गृहस्थाश्रम को प्रधान रूप से) मानते हैं, क्योंकि वही अन्य सभी आश्रमों का उपजीव्य है। (अर्थात् उसी पर सभी आश्रम आधृत हैं)। अथवा-इस गृहस्थाश्रम में अशक्त व्यक्तियों के लिए ही दूसरे आश्रमों का विधान है ॥ ३५ ॥
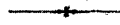
अथ चतुर्थोऽध्यायः ।

गृहस्थधर्मा उच्यन्ते—

गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देतानन्यपूर्वां यवीयसीम् ॥ १ ॥

गृहस्थ इति भाविसंज्ञाव्यपदेशः । अथवा गृहस्थस्य ये धर्मास्ते विवाहात्प्रागपि स्नातकस्यापि समा इति दर्शनार्थं च । जात्या कुलेन च सदृशीम् । अन्यस्मै वाचाऽप्यदत्ताम् । अवरवयसीमेवंभूतां भार्यां विन्देतोद्वहेत् ॥ १ ॥

गृहस्थ (जाति और कुल में) अपने समान, पहले वाग्दान द्वारा भी किसी को न दी गई तथा अपने से कम आयु की पत्नी से विवाह करे ॥ १ ॥

असमानप्रवरैर्विवाहः ॥ २ ॥

समान एकः प्रवरो येषां तैः सह न विवाहः । तद्यथा हरितकुत्सपिङ्गशङ्खदर्भहैमकभवानामाङ्गिरसाम्बरीषयौवनाश्वेति । हारीतः कौत्सीं नोद्वहेदित्यादिप्रवरप्रपञ्च आपस्तम्बीये द्रष्टव्यः ॥ २ ॥

भिन्न प्रवर वालों में ही विवाह होना चाहिए ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं सप्तमात्पितृबन्धुभ्यो बीजिनश्च मातृबन्धुभ्यः पञ्चमात् ॥ ३ ॥

पितरमारभ्य तद्बन्धुवर्गे गण्यमाने सप्तमाच्छिरस ऊर्ध्वं जातां कन्यकामुद्वहेत् । मातरमारभ्य तद्बन्धुवर्गे गण्यमाने पञ्चमाच्छिरस ऊर्ध्वं जातामुद्वहेत् । बीजिनश्च सप्तमादूर्ध्वमिति चकारात्सिध्यति । यथा क्षेत्री वन्ध्यो रुग्णो वा देवरं प्रार्थयते मम क्षेत्रे पुत्रमुत्पादयेति । यद्वा संतानक्षये विधवां गुरवो नियुञ्जते, दृष्टं विचित्रवीर्यक्षेत्रे सत्यवतीवाक्याद्व्यासो धृतराष्ट्रादीनुत्पादितवानिति । यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥ इति ।

तद्विषयमेतद् बीजिनश्चेति ॥ ३ ॥

पिता से लेकर उनके बन्धुवर्ग में सात पीढी से ऊपर की, बीजी (= नियोग विधि से उत्पन्न करने वाला पिता से भिन्न पुरुष) के वंश में भी सात पीढी से

ऊपर की तथा माता से आरम्भ कर उसके बन्धुवर्ग में पांच पीढी से उपर की कन्या से विवाह कर सकता है ॥ ३ ॥

अथ विवाहभेदाः—

ब्राह्मो विद्याचारित्रबन्धुशीलसंपन्नाय दद्यादाच्छाद्यालंकृताम् ॥ ४ ॥

विद्या वेदविद्या। चारित्रं चोदितकर्मानुष्ठानम् बन्धवो ज्ञातयो मातुलादयश्च। शीलं विहितेषु श्रद्धा। एतैर्गुणैः संपन्नाय वस्त्रयुगलेनाऽऽच्छाद्य यथाविभवमलंकृतां कन्यां दद्यात्। एवंविधस्य विवाहस्य ब्राह्मसंज्ञा ॥४॥

वेद के विद्वान्, उत्तम आचरण वाले, अपने तथा मातृपक्ष के बान्धवों से सम्पन्न एवं शीलवान् वर को दो वस्त्रों से सजाई गयी तथा आभूषण से अलंकृत कन्या प्रदान करने पर ब्राह्म विवाह कहलाता है ॥ ४ ॥

संयोगमन्त्रः प्राजापत्ये सह धर्मश्चर्यतामिति ॥ ५ ॥

प्राजापत्यसंज्ञके विवाहे सह धर्मश्चर्यतामिति प्रदानमन्त्रः यद्यपि ब्राह्मादिष्वपि सह धर्मचर्या भवति तथाऽप्याऽन्तादनया सह धर्मश्चरितव्यः नाऽऽश्रमान्तरं प्रवेष्टव्यं नापि स्त्र्यन्तरमुपयन्तव्यमिति मन्त्रेण समयः क्रियते। एष ब्राह्मादेः प्राजापत्यस्य विशेषः। आच्छाद्यालंकृतामिति समानम् ॥ ५ ॥

प्राजापत्य विवाह में 'सहधर्मश्चर्यताम्' (तुम दोनों एक साथ रहकर गृहस्थाश्रम के धर्म का पालन करो) मन्त्र के साथ कन्या प्रदान की जाती है। (ब्राह्म-विवाह से प्राजापत्य में यह विशेषता है कि उपर्युक्त मन्त्र वर और कन्या को केवल गृहस्थाश्रम धर्म का पालन करने एवं वर को दूसरा विवाह न करने का आदेश देता है) ॥ ५ ॥

आर्षे गोमिथुनं कन्यावते दद्यात् ॥ ६ ॥

आर्षसंज्ञके विवाहे गोमिथुनं स्त्रीपुंरूपं कन्यावते दद्याद्वरस्तद्बन्धुर्वा कश्चित्। आच्छाद्यालंकृतामिति समानम् ॥ ६ ॥

आर्ष विवाह में (वर अथवा वर के बन्धुजन) कन्या के अभिभावक को दो गायें देते हैं ॥ ६ ॥

अन्तर्वेद्यृत्विजे दानं दैवोऽलंकृत्य ॥ ७ ॥

अन्तर्वेदि, वेद्यां दक्षिणाकाल ऋत्विजे कर्म कुर्वते यदलंकृत्य कन्याया

दानं स दैवो विवाहः । आच्छाद्यालंकृतामिति । प्रकृते पुनरलंकृत्येति वचनं वरस्याप्यङ्गुलीयकादिभिरलंकारार्थम् ॥ ७ ॥

(यज्ञ के समय) वेदी पर (दक्षिणा के अवसर पर) यज्ञकर्म कराने वाले ऋत्विज को आभूषण से अलंकृत करके कन्या प्रदान करने पर दैव विवाह कहलाता है ॥ ७ ॥

इच्छन्त्याः स्वयं संयोगो गान्धर्वः ॥ ८ ॥

इच्छन्त्या वध्वा इच्छतो वरस्य संयोगो, गान्धर्वो विवाहः । स्वयमिति वचनाद्गुरेच्छा गम्यते ॥ ८ ॥

चाहने वाली कन्या के साथ (वर का) स्वयं अपनी इच्छा से सम्बन्ध कर लेना गान्धर्व विवाह कहलाता है ॥ ८ ॥

वित्तेनाऽऽनतिः स्त्रीमतामासुरः ॥ ९ ॥

यत्र स्त्रीमतां कन्यावतां पित्रादीनां वित्तेन धनप्रदानेनाऽऽनतिरार्जवं क्रियते स आसुरो विवाहः । अत्र याज्ञवल्क्यः—

आसुरो द्रविणादानादिति । मनुश्च—

ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै च स्वशक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ॥

स्त्रीमतामिति वचनान्न केवलं कन्यायै धनप्रदानमासुरत्वनिबन्धनम् तथा च स्मृत्यन्तरम्—

यासां नाऽऽददते शुल्कं ज्ञातयो न स विक्रयः ।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यान्न केवलम् ॥ इति ॥ ९ ॥

(कन्या के अभिभावकों को) धन देकर अपने वश में करके कन्या का ग्रहण करने पर आसुर विवाह होता है ॥ ९ ॥

प्रसह्याऽऽदानाद्राक्षसः ॥ १० ॥

बलात्कारेण कन्यावतो निर्जित्य यदादानं स राक्षसो विवाहः ॥१०॥

बलपूर्वक (कन्या के अभिभावकों को परास्त करके) कन्या का अपहरण कर लेने पर राक्षस विवाह होता है ॥ १० ॥

असंविज्ञातोपसंगमात्पैशाचः ॥ ११ ॥

सुप्ता मत्ता प्रमत्ता वा यत्रासंविज्ञातमुपगम्यते स पैशाचो विवाहः ॥ ११ ॥

सोई हुई, मूर्च्छित या प्रमत्त कन्या के साथ संगम पैशाच विवाह होता है ॥ ११ ॥

एवमष्टौ विवाहा उक्तास्तेषु—

चत्वारो धर्म्याः प्रथमाः ॥ १२ ॥

आदितश्चत्वारो विवाहाः सर्ववर्णानां धर्म्या धर्मादनपेताः प्रशस्ता भवन्ति ॥ १२ ॥

(इनमें) प्रथम चार प्रकार के विवाह सभी वर्णों के लिए धर्मविहित हैं ॥ १२ ॥

षडित्येके ॥ १३ ॥

एके स्मर्तारः षड्धर्म्या इत्याहुः । गान्धर्वासुरयोरपि धर्मादनपेतत्वमिच्छन्ति ॥ १३ ॥

कुछ स्मृतिकार प्रथम छः प्रकार के विवाहों को धर्मसंगत मानते हैं । (अर्थात् गान्धर्व और आसुर विवाह को भी धर्मानुकूल मानते हैं ।) ॥ १३ ॥

क्रयविवाहे क्षत्रियादिषु स्त्रीषु ब्राह्मणादिभ्यो जातानां पुत्राणां शास्त्रेषु संकेतितं संज्ञाभेदमाह—

अनुलोमा अनन्तरैकान्तरद्व्यन्तरासु जाताः सवर्णाम्बष्ठोग्रनिषाददौष्मन्तपारशवाः ॥ १४ ॥

ब्राह्मणस्यानन्तरा क्षत्रिया तस्यां जातः सवर्णः । क्षत्रियस्य वैश्या तस्यां तस्मादम्बष्ठः । वैश्यस्यानन्तरा शूद्रा तस्यां तस्मादुग्रः । ब्राह्मणस्यैकान्तरा वैश्या तस्यां तस्मान्निषादः । क्षत्रियस्यैकान्तरा शूद्रा तस्यां तस्माद्दौष्मन्तः ब्राह्मणस्य द्व्यन्तरा शूद्रा तस्यां तस्मात्पारशवः । प्रपञ्चो जातिनिर्णयस्य स्मृत्यन्तरे द्रष्टव्यः ॥ १४ ॥

अनुलोम विवाहों (उच्चवर्ण के पुरुष का अपने से निम्नवर्ण की स्त्री से विवाह) में अनन्तर (अर्थात् अपने वर्ण से ठीक दूसरे निम्न वर्ण की स्त्री से विवाह द्वारा-जैसे ब्राह्मण और क्षत्रिया, क्षत्रिय और वैश्या, वैश्य और शूद्रा के विवाह द्वारा), एकान्तर (पुरुष और उससे निम्नवर्ण की स्त्री के वर्णों में वर्णक्रम से एक वर्ण का अन्तर हो, जैसे ब्राह्मण और वैश्या क्षत्रिय और शूद्रा के विवाह द्वारा) तथा द्व्यन्तर (ब्राह्मण और शूद्रा के) विवाहों द्वारा क्रमशः सवर्ण, अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, दौष्मन्त और पारशव नाम के पुत्र उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

प्रातिलोम्येन जातानाह—

प्रतिलोमास्तु सूतमागधायोगवकृतवैदेहकचण्डालाः ॥१५॥

अनन्तरैकान्तरद्व्यन्तरासु जाता इत्यनुवर्तते। क्षत्रियस्यानन्तरा ब्राह्मणी तस्यां तस्मात्सूतः। वैश्यस्यानन्तरा क्षत्रिया तस्यां तस्मान्मागधः। शूद्रस्यानन्तरा वैश्या तस्यां तस्मादायोगवः। वैश्यस्यैकान्तरा ब्राह्मणी तस्यां तस्मात्कृतः। शूद्रस्यैकान्तरा क्षत्रिया तस्यां तस्माद्वैदेहकः। शूद्रस्य द्व्यन्तरा ब्राह्मणी तस्यां तस्माच्चण्डाल इति ॥ १५ ॥

इसी प्रकार प्रतिलोम (पुरुष का अपने से उच्चवर्ण की स्त्री से) विवाह में अनन्तर (क्षत्रिय और ब्राह्मणी, वैश्य और क्षत्रिया, शूद्र और वैश्या के विवाहों द्वारा), एकान्तर (वैश्य और ब्राह्मणी, शूद्र और क्षत्रिया के विवाहों द्वारा) तथा द्व्यन्तर (शूद्र और ब्राह्मणी के) विवाहों द्वारा उत्पन्न पुत्र क्रमशः सूत, मागध, आयोगव, कृत, वैदेहक और चण्डाल कहलाते हैं ॥ १५ ॥

अन्येषां मतेन तेषामेव प्रतिवर्णं संगृह्य संज्ञाभेदानाह—

ब्राह्मण्यजीजनत्पुत्रान्वर्णेभ्य आनुपूर्व्याद् ब्राह्मणसूतमागधचण्डालान् ॥ १६ ॥

स्पष्टोऽर्थः। अत्राऽऽनुपूर्व्यग्रहणं वर्णक्रमविवक्षापरम्। नत्वनुलोमपरम् ॥ १६ ॥

ब्राह्मणी ने वर्णक्रमानुसार पुरुषों द्वारा (अर्थात् क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रवर्ण के पुरुष से) क्रमशः ब्राह्मण, सूत, मागध और चण्डाल पुत्र उत्पन्न किये ॥ १६ ॥

तेभ्य एव क्षत्रिया मूर्धावसिक्थक्षत्रियधीवरपुल्कसांस्तेभ्य एव वैश्या भृज्जकण्ठमाहिष्यवैश्यवैदेहान्पारशवयवनकरणशूद्राञ्छूद्रेत्येके ॥ १७ ॥

एके स्मर्तार इत्युक्तक्रमेण ब्राह्मण्यजीजनदित्यारभ्य ब्राह्मणीक्षत्रियावैश्याशूद्रासु ब्राह्मणादिवर्णेभ्यः क्रमेण जातानां संज्ञाभेदान्मन्यन्ते ॥ १७ ॥

कुछ स्मृतिकारों के मतानुसार उन्हीं (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पुरुषों) द्वारा क्षत्रिय वर्ण की स्त्री क्रमशः मूर्धावसिक्थ, क्षत्रिय, धीवर, पुल्कस कहे जाने वाले पुत्रों को और उन्हीं (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पुरुषों) से वैश्य वर्ण की स्त्री क्रमशः भृज्जकण्ठ, माहिष्य, वैश्य और वैदेहक कहलानेवाले पुत्रों को तथा शूद्र वर्ण की स्त्री क्रमशः पारशव, यवन, करण और शूद्र पुत्रों को उत्पन्न करती है ॥ १७ ॥

वर्णान्तरगमनमुत्कर्षापकर्षाभ्यां सप्तमे पञ्चमे वाऽऽचार्याः ॥ १८ ॥

मन्यन्त इति वाक्यशेषः। तेषामेव सवर्णादीनामनुलोमजातानामुत्कर्षेण पितृद्वारा सप्तमपुरुषादुत्कृष्टवर्णान्तरप्राप्तिर्भवति। अपकर्षेण मातृद्वारा पञ्चमपुरुषादपकृष्टवर्णान्तरप्राप्तिर्भवति। तद्यथा—ब्राह्मणेनोढायां क्षत्रियायामुत्पादिता सवर्णा साऽपि ब्राह्मणेनोढा तस्यामुत्पादिता चेत्येवमा सप्तम्याः सप्तमी तु ब्राह्मणेनोढा यदपत्यं सूते तद्ब्राह्मणजातीयमेव भवति। एवं ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादितः पुत्रः सवर्णः सोऽपि क्षत्रियामुद्वाह्य पुत्रमुत्पादयति सोऽपि क्षत्रियामित्येवमापञ्चमात्पञ्चमस्तु क्षत्रियायां यदपत्यमुत्पादयति तत्क्षत्रियजातीयमेव भवति। विकल्पस्यैवं चार्थः। तत्रापि वर्णान्तरगमने वृत्तस्वाध्यायबाहुल्ये सति पञ्चमेनोत्कृष्टं भवति। हीनवृत्त्या पञ्चमेनापकृष्टं च भवतीति। एवं क्षत्रियस्य वैश्यायां वैश्यस्य शूद्रायामपि द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

आचार्यों का मत है कि सवर्ण आदि अनुलोम विवाह (उच्चवर्ण के पुरुष एवं निम्न वर्ण की स्त्री के विवाह) से उत्पन्न वर्णसंकरों का पिता की सातवीं पीढ़ी में वर्ण का उत्कर्ष और (हीन वर्ण की) माता की पाँचवी पीढ़ी में वर्ण का अपकर्ष हो जाता है।

(अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिया के विवाह से उत्पन्न कन्या सवर्णा कहलाती है; उस सवर्णा कन्या का विवाह ब्राह्मण से हो, उनसे भी उत्पन्न कन्या का विवाह ब्राह्मण से हो; इसी प्रकार सातवीं पीढ़ी में जो सन्तान उत्पन्न होगी वह ब्राह्मण वर्ण की होगी; इस प्रकार वर्ण का उत्कर्ष होता है। इसके विपरीत ब्राह्मण और क्षत्रिया के विवाह से उत्पन्न पुत्र सवर्ण होता है; वह यदि क्षत्रिया से विवाह करके पुत्र उत्पन्न करे और वह पुत्र भी क्षत्रिया से विवाह करे, इस प्रकार पाँचवीं पीढ़ी में जो सन्तान उत्पन्न होगी वह क्षत्रिय वर्ण की होगी और इस प्रकार वर्ण का अपकर्ष हो जायगा। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्या आदि के विवाहों से उत्पन्न सन्तान के विषय में भी समझना चाहिए ॥ १८ ॥

सृष्ट्यन्तरजातानां च ॥ १९ ॥

चातुर्वर्ण्यमनन्तरेण चानुलोमजातानां सवर्णाम्बष्ठादीनामप्युत्कर्षापकर्षाभ्यामन्योन्यवर्णान्तरगमनं भवति। तद्यथा—सवर्णेनोढायामम्बष्ठ्यामुत्पादिता दुहिता पुनः सवर्णेनोह्यते। तस्यामप्युत्पादिता सवर्णेनेत्यासप्तमात्सप्तमी तु सवर्णेनोढा यदपत्यं स एव भवति। एवं सैवाम्बष्ठेनोढायां दुहितरं सूते साऽप्यम्बष्ठेनेति सप्तमी त्वम्बष्ठेनोढा यदपत्य-

मुत्पादयति सोऽम्बष्ठ एव भवति । (?) एवमम्बष्ठयोरपि द्रष्टव्यम् ॥१९॥

चारों वर्णों के अनन्तर क्रम से अनुलोम विवाहों द्वारा उत्पन्न सवर्ण, अम्बष्ठ, उग्र के वर्ण का भी उत्कर्ष और अपकर्ष उपर्युक्त विधि से क्रमशः सातवीं और पाँचवीं पीढ़ी में परस्पर विवाह द्वारा होता है। (उदाहरण—सवर्ण से अम्बष्ठ वर्ण की स्त्री का विवाह हो; उनसे उत्पन्न कन्या का सवर्ण से विवाह हो इसी प्रकार सातवीं पीढ़ी में जो सन्तान होगी वह सवर्ण होगी और उसके वर्ण का उत्कर्ष हो जायगा। इसके विपरीत यदि सवर्णा कन्या का अम्बष्ठ के साथ विवाह हो; उनसे उत्पन्न कन्या का भी अम्बष्ठ से विवाह हो तो इस प्रकार पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न सन्तान अम्बष्ठ होगी) ॥ १९ ॥

प्रतिलोमास्तु धर्महीनाः ॥ २० ॥

प्रतिलोमाज्जाताः सूतादयो धर्महीना उपनयनादिधर्महीना । तत्र सूतस्यैकस्योपनयनमात्रं शास्त्रान्तरेऽङ्गीकृतम् ॥ २० ॥

प्रतिलोम विवाहों से उत्पन्न सन्तानों (सूत, मागध, आयोगव, क्षत, वैदेहक और चण्डाल) के उपनयन आदि धर्म नहीं होते ॥ २० ॥

शूद्रायां च ॥ २१ ॥

आनुलोम्येनापि शूद्रायामुत्पन्नः पारशवादिर्धर्महीनः । एवं च सवर्णादीनामनुलोमानां सिद्धो धर्माङ्गीकारः । तथा च मनुः—

स्वजातिजात्यन्तरजाः षट् सुता द्विजधर्मिणः ।
शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः ॥ २१ ॥

अनुलोम विवाहों द्वारा शूद्रा स्त्री से उत्पन्न (पारशव, यवन करण, शूद्र) सन्तान भी धर्महीन होती है ॥ २१ ॥

असमानायां तु शूद्रात्पतितवृत्तिः ॥ २२ ॥

शूद्रादसमानायां वैश्यादिस्त्रियामुत्पादित आयोगवादिः पतितवृत्तिः पतितवद्दर्शनस्पर्शनप्रतिग्रहादौ वर्जनीयः । एवं च वैश्यात्क्षत्त्रियायां क्षत्त्रियाद् ब्राह्मण्यां जातो न पतितवृत्तिः ॥ २२ ॥

शूद्र पुरुष द्वारा वैश्य आदि असमान वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न आयोगव आदि पुत्र पतित होते हैं (पतित के समान उनका दर्शन, स्पर्श और प्रतिग्रह वर्जित है) ॥ २२ ॥

अन्त्यः पापिष्ठः ॥ २३ ॥

शूद्रादसमानाज्जनितेषु तेषु योऽन्त्यो ब्राह्मण्यां जातश्चण्डालः पापिष्ठोऽत्यन्तं वर्जनीयः । तथा च स्मृत्यन्तरम्—

चण्डालमाजगोवालव्यजनान्परिहरेदिति ॥ २३ ॥

शूद्र पुरुष द्वारा असमान वर्ण की स्त्रियों से उत्पन्न पुत्रों में भी अन्तिम अर्थात् ब्राह्मणी से उत्पन्न पुत्र चण्डाल पापी होता है (और उसका दर्शन, स्पर्श और प्रतिग्रह अत्यन्त वर्जित है) ॥ २३ ॥

अथ प्रकृतान्विवाहान् स्तौति—

पुनन्ति साधवः पुत्राः ॥ २४ ॥

अच्छा (अस्मा)सु जाताः साधवः साधुवृत्तयः पुत्रा जनयितुः कुलं पुनन्ति ॥ २४ ॥

(उत्तम विवाह से उत्पन्न) सदाचारी पुत्र पिता के कुल को पवित्र करते हैं ॥ २४ ॥

तत्र विशेषः—

त्रिपुरुषमार्षात् ॥ २५ ॥

आर्षविवाहोढायां जातः पुत्रस्त्रीन्पुरुषान्पुनाति नरकादुद्धरति ॥ २५ ॥

आर्ष विवाह की विधि से परिणीता स्त्री से उत्पन्न पुत्र तीन पीढी के पुरुषों को पवित्र करते हैं (अर्थात् उनका नरक से उद्धार करते हैं ॥ २५ ॥

दश दैवाद्दशैव प्राजापत्यात् ॥ २६ ॥

उपसमस्तमपि पुरुषपदमत्र दशशब्देन संबध्यते । एवकारो निर्धारणपरः ॥ २६ ॥

दैवविवाह से उत्पन्न पुत्र दस पीढ़ियों को और प्राजापत्य विवाह से उत्पन्न पुत्र भी दस पीढ़ियों को पवित्र करते हैं ॥ २६ ॥

दश पूर्वान्दश परानात्मानं च ब्राह्मीपुत्रो ब्राह्मीपुत्रः ॥ २७ ॥

ब्राह्मविवाहेनोढा ब्राह्मी तस्यां जातः पुत्रः पित्रादीन्दश पूर्वान्दश परान्भविष्यतः पुत्रादींश्च दशाऽऽत्मानं चैकविंशं पुनाति । तस्माद् ब्राह्मो विवाहः प्रशस्ततमः ॥ २७ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
प्रथमप्रश्ने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

ब्राह्मविवाह से उत्पन्न पुत्र अपने से पहले की दस पीढ़ियों, अपने आगे की दस पीढ़ियों के पुरुषों को तथा स्वयं अपने को (इस प्रकार इक्कीस पीढ़ियों को) पवित्र करता है । (इसलिए ब्राह्मविवाह सभी विवाहों में श्रेष्ठ है) ॥

अथ प्रथमप्रश्ने पञ्चमोऽध्यायः

गर्भाधानकालं प्रस्तौति—

ऋतावुपेयात् ॥ १ ॥

रजोदर्शनादारभ्य षोडशाहोरात्रा ऋतुः स्त्रीणां गर्भग्रहणकालस्तत्रो-पगच्छेद्भार्याम् । तत्राऽऽपस्तम्बीये विशेषः—

चतुर्थीप्रभृत्याषोडशीमुत्तरामुत्तरां युग्मां प्रजानिःश्रेयसमृतुगमन-मित्युपदिशन्ति ।

मानवं तु—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥
तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्द्या एकादशी तु या ।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः ॥
अमावास्यामष्टमीं च पौर्णमासीं चतुर्दशीम् ।
ब्रह्मचारी भवेन्नित्यमप्यृतौ स्नातको द्विजः ॥ इति ।

याज्ञवल्क्यस्तु—

एवं गच्छन्स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत् ।
युग्मासु पुत्रा जायन्ते स्त्रियोऽयुग्मासु रात्रिषु ॥ इति च ।

तदिह षोडशसु रात्रिष्वादितस्तिस्रः सर्वथा वर्ज्याः । इतरासु गच्छेदिति सर्वस्मृतिचोदितनिषेधान्परित्यज्य गच्छन्नुत्कृष्टं पुत्रं जनयति । द्वेषादिना ऋतावनुपयन्प्रत्यवेयादिति । तथा च देवलः—

यः स्वदारानृतुस्नातान्स्वस्थः सन्नोपगच्छति ।
भ्रूणहत्यामवाप्नोति गर्भं प्राप्तं विनाश्य सः ॥ इति ।

स्मृत्यन्तरं च—

ऋतुस्नातां तु यो भार्यां संनिधौ नोपगच्छति ।
तस्या रजसि तं मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ इति ।

अयं तु रागतः प्राप्तत्वे सत्यप्यकरणे प्रत्यवायश्रवणाद्विधिश्च भवति । ऋतावेवोपेयादेवेति कस्यचिन्मतेन नियमश्च भवति ॥ १ ॥

ऋतुकाल में पत्नी के समीप (सम्भोग के लिए) गमन करे ॥ १ ॥

आचार्यस्तु परिसंख्यानं च प्रतिपादयति—

सर्वत्र वा प्रतिषिद्धवर्जम् ॥ २ ॥

सर्वेषु वा कालेषूपेयाद्दतावनृतौ च प्रतिषिद्धदिवसान्वर्जयित्वा ।

यथाकामी भवेद्वाऽपि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् । इति ॥

वरश्च—काममा विजनितोः संभवामेति । यद्यप्यात्मनो जितेन्द्रियत्वे सत्यपि धर्मदाराः सर्वदा रक्षणीया इति स्मर्यते । अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेनं मा वः क्षेत्रे परबीजानि वाप्सुरिति ॥ २ ॥

अथवा निषिद्ध दिनों को छोड़कर किसी भी समय में संभोग कर सकता है ॥ २ ॥

अथ पञ्च महायज्ञाः—

देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः ॥ ३ ॥

अत्र पूजकशब्दो देवादिषु प्रत्येकं संबध्यते । द्वंद्वान्त्यं श्रूयमाणं प्रत्येकमभिसंबध्यते । गृहस्थो नित्यं देवादिपूजकः स्यात् । तत्र देवपूजा वैश्वदेवसकलहोमाद्यग्निकार्यं च । पितृपूजां मनुराह—

एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयाज्ञिके ।
न चैवात्राऽशयेत्कंचिद्वैश्वदेवं प्रति द्विजम् ॥ इति ।
दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन च ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥ इति च ।

मनुष्यपूजाऽतिथिपूजा । भूतपूजा बलिहरणम् । ऋषिपूजा ब्रह्मयज्ञः । ऋषियज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति पर्यायः ॥ ३ ॥

देव, पितरों, मनुष्य, भूत तथा ऋषियों की नित्य पूजा करे ॥ ३ ॥

ते च प्रतिपाद्यन्ते । अत्र क्रमो न विवक्षितः । ब्रह्मयज्ञस्तु—

नित्यस्वाध्यायः ॥ ४ ॥

बहुव्रीहिरयम् । तत्प्रकारश्च ब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाण इत्यारभ्य तैत्तिरीयकेऽभिहितः । अत्र नित्यशब्दाद् ब्रह्मयज्ञव्यतिरिक्तकालेऽपि यथावसरमधीयीतेति दर्शितम् ॥ ४ ॥

प्रतिदिन (अवसर के अनुसार) वेदों का अध्ययन करे । (इसे ऋषियज्ञ या ब्रह्मयज्ञ कहते हैं ।) ॥ ४ ॥

पितृयज्ञस्तु—

पितृभ्यश्चोदकदानं यथोत्साहमन्यत् ॥ ५ ॥

पितृभ्यो नित्यमुदकं दद्यात् । अन्यद्भोजनफलमूलादि यथोत्साहं

यथाशक्ति दद्यात्। अत्र चकारान्नित्यं देवर्षीणामपि तर्पणं कर्तव्यमिति दर्शितम्। तत्र मनुर्ब्रह्मचारिणं प्रकृत्याऽऽह—

नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्॥ इति।

कात्यायनः—

देवतानां पितृणां च जले दद्याज्जलाञ्जलिम्।
असंस्कृतप्रमीतानां स्थले दद्याज्जलाञ्जलिम्॥ इति।

भृगुः—

नोदकेषु न पात्रेषु न क्रुद्धो नैकपाणिना।
नोपतिष्ठति तत्तोयं यद् भूम्यां न प्रदीयते॥

उशना—

आपो देवगणाः सर्व आपः पितृगणाः स्मृताः।
तस्मादप्सु जलं देयं पितृणां दत्तमक्षयम्॥ इति।

भृगुः प्रकारान्तरमाह—

नाभिमात्रे जले स्थित्वा चिन्तयन्नूर्ध्वमानसः।
आगच्छन्तु मे पितर इमं गृह्णन्त्वपोऽञ्जलिम्॥
त्रिस्त्रिरञ्जलिमाकाशमुच्चैरुच्चतरं बुधः।
उक्त्वा चोक्त्वा क्षिपन् वारि वाग्यतो दक्षिणामुखः॥इति॥५॥

पितरों के लिए जल दे और अपनी शक्ति के अनुसार अन्य पदार्थ (भोजन, फल आदि) प्रदान करे। (इसे पितृयज्ञ कहते हैं)॥ ५॥

देवयज्ञस्याग्निकार्यमूलत्वादग्निपरिग्रहकालं तावदाह—

भार्यादिरग्निर्दायादिर्वा॥ ६॥

भार्याशब्देन विवाहो लक्ष्यते। यस्मिन्नग्नौ भार्योह्यते तमग्निमारभ्य वा यस्मिन्नहनि पितृभ्रात्रादिभिर्दायविभागः क्रियते तदहरारभ्य वा सायमुपक्रममग्निं परिचरेत्। दायविभागात्पूर्वं पितुर्ज्येष्ठभ्रातुर्वा कर्मण्युपजीवतो न प्रत्यवायः॥ ६॥

जिस अग्नि में विवाह के समय कर्म किये जाते हैं उससे प्रारम्भ करके अथवा पिता या भाइयों से बँटवारे के समय से प्रारम्भ करके सायं एवं प्रातः काल अग्नि कर्म करे॥ ६॥

तस्मिन्गृह्याणि कर्माणि॥ ७॥

तस्मिन्निवंपरिगृहीतेऽग्नौ गृह्ये मनुष्यभूतानि पुंसवनादीनि कर्माणि कर्तव्यानीति॥ ७॥

उस (विवाह अथवा दायकाल की) अग्नि में सभी गृह्य कर्म (मनुष्य-यज्ञ, भूतयज्ञ, पुंसवन आदि) करे ॥ ७ ॥

देवपितृमनुष्ययज्ञाः स्वाध्यायश्च बलिकर्म ॥ ८ ॥

तस्मिन्नित्यनुवर्तते । तत्र देवयज्ञस्याग्निसंबन्धः प्रसिद्धः । पितृमनुष्य-भूतयज्ञानां तु तदर्थमन्नमस्मिन्गृह्याग्नौ पच्यत इति । ब्रह्मयज्ञस्याग्नि-संबन्ध उशनसा पक्षे दर्शितः—अग्निसमीप इत्येकेषामिति । अपरिगृहीताग्नेरपि पञ्चमहायज्ञविधानादेते लौकिकेऽग्नौ कर्तव्याः ॥ ८ ॥

उसी अग्नि में देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ के कर्म और स्वाध्याय तथा बलिकर्म करे ॥ ८ ॥

अथ देवयज्ञवैश्वदेवप्रयोगमाह—

अग्नावग्निर्धन्वन्तरिर्विश्वे देवाः प्रजापतिः स्विष्टकृदिति होमः ॥ ९ ॥

अत्र "जुहोतिचोदनाः स्वाहाकारप्रदानाः" इत्यापस्तम्बस्मरणाद्धोम-शब्देन स्वाहाकार उक्तः । अग्न्यादिभिः स्वाहाकारान्तैरग्नौ जुहुयात् । स्विष्टकृच्चाग्न्युपपदो द्रष्टव्यः । होमत्वादेवाग्निसिद्धावग्नाविति वचनं बलिहरणवद् भूमौ न कर्तव्यमिति वचनार्थम् । तस्माद्धोमधर्मः स्वाहा-कारो बलिहरणेष्वपि भवति । तथा चाऽऽश्वलायनः—

स्वाहेत्यथ बलिहरणमिति ।

आपस्तम्बीयानां स्वाहाकारान्ता एव मन्त्राः पठिताः ॥ ९ ॥

अग्नि में अग्नि, धन्वन्तरि, विश्वे देवा, प्रजापति और स्विष्टकृत् के लिये (प्रत्येक के साथ 'स्वाहा' जोड़कर) होम करे ॥ ९ ॥

अथ भूतयज्ञबलिहरणमाह—

दिग्देवताभ्यश्च यथास्वम् ॥ १० ॥

यस्या देवताया या दिक्तस्यां दिशि तस्यै देवतायै बलिर्हर्तव्यः । इन्द्राय स्वाहेतीशानपर्यन्तं प्रागादि प्रदक्षिणं कर्तव्यम् ॥ १० ॥

जिस देवता की जो दिशा हो उस दिशा में उस देवता के लिए बलिहरण करना चाहिए ॥ १० ॥

द्वार्षु महद्भ्यः ॥ ११ ॥

गृहस्य यावत्यो द्वारस्तासु महद्भ्यः स्वाहेति बलिहरणम् ॥ ११ ॥

घर के सभी द्वारों पर ('महद्भ्यः स्वाहा' कहते हुए) पूज्यों को बलि दे ॥ ११ ॥

गृहदेवताभ्यः प्रविश्य ॥ १२ ॥

अन्तः प्रविश्य गृहदेवताभ्यः स्वाहेति बलिहरणम् । प्रविश्येति वचनाद् द्वारबहिष्ठेन न कर्तव्यम् ॥ १२ ॥

घर के भीतर प्रवेश करके ('गृहदेवताभ्यः स्वाहा' कहते हुए) गृहदेवताओं के लिए बलिहरण करे ॥ १२ ॥

ब्रह्मणे मध्ये ॥ १३ ॥

गृहस्य मध्ये ब्रह्मणे स्वाहेति बलिर्हर्तव्यः । दिग्देवताभ्यश्चेति चकारात्पृथिवी वायुः प्रजापतिविश्वे देवा इति सूत्रकारोक्तदेवताभ्यश्च ब्रह्मणोऽनन्तरं बलिर्हर्तव्यः ॥ १३ ॥

घर के मध्य में ('ब्रह्मणे स्वाहा' कहकर) ब्रह्मा के लिए बलि प्रदान करे ॥ १३ ॥

आकाशायेत्यन्तरिक्षे बलिरुत्क्षेप्यः ॥ १४ ॥

विश्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो बलिराकाश उत्क्षिपेत् ।
दिवाचरेभ्यो भूतेभ्यो नक्तंचारिभ्य एव च ॥ इति मनुः ॥१४॥

(आकाशाय स्वाहा कहते हुए) आकाश के लिए अन्तरिक्ष में बलि फेंक दे ॥ १४ ॥

नक्तंचरेभ्यश्च सायम् ॥ १५ ॥

सायं बलिहरणेऽयं विशेषः । नक्तंचरेभ्यः स्वाहेति बलिर्हर्तव्यः । चकारात्पूर्वोक्तेभ्यश्च भवति ॥ १५ ॥

सायंकाल के बलिहरण में ('नक्तंचरेभ्यः स्वाहा' कहकर) रात्रि में विचरण करने वाले प्रणियों के लिए बलि दे ॥ १५ ॥

स्वस्ति वाच्य भिक्षादानमप्पूर्वम् ॥ १६ ॥

बलिहरणानन्तरं भिक्षादानं कर्तव्यम् । स्वस्त्यस्त्विति स्वस्तिवचनमुक्त्वा भिक्षोर्हस्ते पूर्वमपो दत्त्वा चेति । परिव्राजके विशेषः—

यतिहस्ते जलं दत्त्वा भैक्षं दत्त्वा पुनर्जलम् ।
भैक्षं पर्वतमात्रं स्यात्तज्जलं सागरोपमम् ॥ इति ।

एतद्भिक्षादानमतिथिपूजाभावे मनुष्ययज्ञः स्यात् । एते पञ्च महायज्ञा ब्रह्मयज्ञवर्जाः कर्तव्याः सायं प्रातश्च । कस्मात् ।

अथ सायं प्रातः सिद्धस्य हविष्यस्य जुहुयादित्याश्वलायनस्मरणात् । सायं प्रातर्भूतमित्युक्त इत्यादिकात्यायनसूत्रवचनाच्च ॥ १६ ॥

बलिहरण के बाद भिक्षुक के हाथ में पहले जल देकर फिर ('स्वस्त्यस्तु' कहते हुए) स्वस्ति वाचन करके भिक्षा देनी चाहिए ॥ १६ ॥

ददातिषु चैवं धर्म्येषु ॥ १७ ॥

ददातयो दानानि यानि दानानि धर्म्याणि न भयादिनिमित्तानि तेषु चैवमप्पूर्वदानमिति ॥ १७ ॥

धर्मानुसार दिये जाने वाले दानों में भी इसी प्रकार (पहले हाथ पर जल देकर) दान किया जाता है ॥ १७ ॥

दानप्रसङ्गात्फलविशेषमाह—

समद्विगुणसाहस्रानन्त्यानि फलान्यब्राह्मणब्राह्मणश्रोत्रियवेदपारगेभ्यः ॥ १८ ॥

अब्राह्मणः क्षत्रियादिः । ब्राह्मणो जातिमात्रम् । श्रोत्रियोऽधीतवेदः । साङ्गं सकल्पं सरहस्यं चाधीतवेदो वेदपारगः । एभ्यो दत्तं यथाक्रमं समद्विगुणसाहस्रमानन्त्यं च फलं ददाति ।

तथा च मनुः—

समममब्राह्मणे दानं द्विगुणं ब्राह्मणब्रुवे ।
श्रोत्रिये शतसाहस्रमनन्तं वेदपारगे ॥ इति ॥ १८ ॥

अब्राह्मण (ब्रह्मणेतर क्षत्रिय आदि), ब्राह्मण, श्रोत्रिय (जिसने वेद का अध्ययन किया है) और वेद विद्या में पारंगत व्यक्ति को दान देने पर क्रमशः समान, दुगुना, सौगुना और अनन्त फल की प्राप्ति होती है ॥ १८ ॥

दानप्रसङ्गाद्यत्रावश्यदेयमदाने च प्रत्यवायस्तं विषयमाह—

गुर्वर्थनिवेशौषधार्थवृत्तिक्षीणयक्ष्यमाणाध्ययनाध्वसंयोगवैश्वजितेषु द्रव्यसंविभागो बहिर्वेदि ॥ १९ ॥

यज्ञे दक्षिणाकाले सदस्येभ्यो यद्दानं तदन्तर्वेदि । ततोऽन्यत्र बहिर्वेदि । द्रव्यसंविभागो हिरण्यादेर्दानम् । तद्गुर्वादिविषयेऽवश्यं दानं कर्तव्यम् । अधीतवेदस्य दक्षिणार्थं गुर्वर्थम् । निवेशौषधार्थं निवेशो विवाहः । स च प्रथमस्तदर्थम् । औषधार्थं रुग्णस्य भेषजार्थम् । वृत्त्या तदहर्जीवनेन हीनो वृत्तिक्षीणः । यक्ष्यमाणो यज्ञं करिष्यन् । अध्ययनाध्वसंयोगः । अध्ययनेन संयोगो यस्य सोऽध्ययनसंयोगः । अध्वना संयोगो यस्य सोऽध्वसंयोगः । बहुव्रीहिः । वैश्वजितो कृतविश्वजिद्यागः । सर्वस्वदानेन निर्द्रव्यः । एतैर्याचितोऽवश्यं यथाशक्ति हिरण्यादि दद्यात् ।

अददत्प्रत्यवेयादिति । बहिर्वेदिग्रहणेन सदीक्षितविषयमिदमन्तर्वेद्यन्ये-भ्योऽपि देयम् ॥ १९ ॥

(वेद के अध्ययन के उपरान्त) गुरु के लिए, विवाह के लिए, रोगी की औषध के लिए, हीन वृत्ति वाले के लिए, यज्ञ करने वाले के लिए, अध्ययन करने वाले के लिए, मार्ग में चलने वाले के लिए, और विश्वजित् यज्ञ करने वाले के लिए इनके माँगने पर अवश्य ही बहिर्वेदि (यज्ञ की दक्षिणा के समय दिये जाने वाले दान से भिन्न प्रकार का) दान देना चाहिए ॥ १९ ॥

भिक्षमाणेषु कृतान्नमितरेषु ॥ २० ॥

इतरेषूक्तव्यतिरिक्तेषु भिक्षमाणेषु कृतान्नं पक्वान्नमवश्यं देयम् । द्रव्यादेरदाने न दोषः । कृतान्नविषयेऽपि वसिष्ठः—

अव्रता ह्यनधीयाना यत्र भैक्षचरा द्विजाः ।
तं ग्रामं दण्डयेद्राजा चोरदण्डव्रतो हि सः ॥ इति ॥ २० ॥

उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त भी माँगने वाले व्यक्तियों को पकाया हुआ अन्न देना चाहिए ॥ २० ॥

अथ दानापवादः—

प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्ताय न दद्यात् ॥ २१ ॥

दास्यामीति प्रतिश्रुत्याप्यधर्मसंयुक्तविषये न दद्यात् । यदि तेन द्रव्येणाधर्मसंयुक्तं वेश्यागमनाद्यसौ करिष्यतीति विजानीयात् । अधर्म-संयुक्त इति वचनादन्यत्र प्रतिश्रुतमददत्प्रत्यवेयादिति दर्शयति ॥ २१ ॥

पहले देने का वचन देकर भी अधार्मिक कार्य के लिए दान नहीं देना चाहिए ॥ २१ ॥

प्रतिश्रवणविषये विशेषमाह—

क्रुद्धहृष्टभीतार्तलुब्धबालस्थविरमूढमत्तोन्मत्तवाक्यान्यनृतान्यपातकानि ॥ २२ ॥

क्रुद्धादिवाक्यान्यनृतान्ययथार्थान्यप्यपातकानि न पापं जनयन्ति । क्रुद्धः क्रोधाविष्टः । हृष्टो हर्षाविष्टः । भीतो भयाविष्टः । एतेषां गुणान्तरे-राविष्टत्वाद्वाक्यमप्रमाणम् । तस्मात्प्रतिश्रुत्यादानेऽपि तेषामदोषः ॥२२॥

क्रोधी, अत्यन्त प्रसन्न, भयाकुल, रोगी, लोभी, बालक, अत्यन्त वृद्ध, मूढ, मत्त और उन्मत्त व्यक्ति के वचन झूठे होने पर भी पाप नहीं उत्पन्न करते । (अतः उनके वचन देने के बाद दान न देने पर भी वे पापी नहीं होते हैं ॥)

अथ गृहस्थपूर्वभोज्यानाह—

भोजयेत्पूर्वमतिथिकुमारव्याधितगर्भिणीस्ववासिनीस्थविरा-ञ्जघन्यांश्च ॥ २३ ॥

अतिथिर्वक्ष्यमाणः। कुमारा बालाः। व्याधितः संजातव्याधिः। गर्भिण्यः प्रसिद्धाः। स्ववासिन्यो दुहितरो भगिन्यश्च। स्थविरा वृद्धाः। जघन्याः परिचारकादयः। एतानात्मनः पूर्वं भोजयेत्पश्चात्स्वयं भुञ्जीत। जघन्यानां पृथक्पदत्वं तेषामानन्तर्यसूचनार्थम् ॥ २३ ॥

अतिथि, बालक, रोगी, गर्भवती स्त्री, घर में रहने वाली पुत्रियों और बहनों, वृद्धों और सेवकों को गृहस्थ अपने से पहले भोजन करावे ॥ २३ ॥

आचार्यपितृसखीनां च निवेद्य वचनक्रिया ॥ २४ ॥

यदि भोजनकाल आचार्यादय आगच्छेयुस्तदा सिद्धमन्नं तेभ्यो निवेद्य तदन्नक्रिया तदिच्छातः कर्तव्या। न तेषु संनिहितेषु स्वतन्त्रो भवेदित्यर्थः ॥ २४ ॥

(भोजन के समय) आचार्य, पिता और मित्र के आ जाने पर उन्हें पका हुआ अन्न निवेदित करके उनके आदेश के अनुसार कार्य करे ॥ २४ ॥

ऋत्विगाचार्यश्वशुरपितृव्यमातुलानामुपस्थाने मधुपर्कः ॥२५॥

ऋत्विगादिषु गृहमागतेषु मधुपर्को देयः ॥ २५ ॥

ऋत्विज, आचार्य, श्वशुर, चाचा और मामा के आने पर उनको मधुपर्क देना चाहिए ॥ २५ ॥

संवत्सरे पुनः ॥ २६ ॥

पूजितास्ते यदि संवत्सरात्पुनरागच्छेयुः पुनरपि मधुपर्को देयो नार्वागिति ॥ २६ ॥

यदि वे एक वर्ष के बाद पुनः आवें तो उनको पुनः मधुपर्क देना चाहिए। (वर्ष के भीतर आने पर नहीं) ॥ २६ ॥

यज्ञविवाहयोरर्वाक् ॥ २७ ॥

संवत्सरादर्वागपि यज्ञविवाहयोरागतेभ्यस्तेभ्यो मधुपर्को देयः। मधुपर्कविधिर्गृह्योक्तो द्रष्टव्यः ॥ २७ ॥

यज्ञ और विवाह के समय वर्ष के भीतर आने पर भी उन्हें मधुपर्क देना चाहिए ॥ २७ ॥

राज्ञश्च श्रोत्रियस्य ॥ २८ ॥

श्रोत्रियस्य सतो राज्ञश्चैवं मधुपर्को देयः ॥ २८ ॥

श्रोत्रिय राजा को भी मधुपर्क दे ॥ २८ ॥

अश्रोत्रियस्याऽऽसनोदके ॥ २९ ॥

अश्रोत्रियस्य राज्ञ आसनोदकमात्रेण पूजनं मधुपर्कः ॥ २९ ॥

अश्रोत्रिय (जो वेदज्ञानी न हो) राजा को आसन और जल देकर सत्कार करे ॥ २९ ॥

श्रोत्रियस्य तु पाद्यमर्घ्यमन्नविशेषांश्च प्रकारयेत् ॥ ३० ॥

तुशब्दो न ब्राह्मणं व्यावर्तयति । श्रोत्रियस्य ब्राह्मणस्यातिथेः पाद्यं पादोदकम् । अर्घ्यं फलोपहारताम्बूलादि । अन्नविशेषाः पायसापूपादयस्तांश्च प्रकर्षेण कारयेत्समर्थः ॥ ३० ॥

श्रोत्रिय ब्राह्मण को पैर धोने के लिए जल, अर्घ्य (फल, ताम्बूल आदि) और विशेष अन्न (खीर, पुआ आदि) देकर विशेष रूप से सत्कार करे ॥ ३० ॥

असमर्थस्तु—

नित्यं वा संस्कारविशिष्टम् ॥ ३१ ॥

यदस्य गृहे नित्यं विद्यमानं तदेव मरीचजीरकादिसंस्कारविशिष्टं साधयेत् ॥ ३१ ॥

अथवा (विशेष भोजन न करा सकें तो) घर में नित्य जो भोजन बनता हो उसे (मरीच, जीरा आदि से छौंक बघारकर) विशेष स्वादयुक्त बनाकर ब्राह्मण को खिलावे ॥ ३१ ॥

मध्यतोऽन्नदानमवेद्ये साधुवृत्ते ॥ ३२ ॥

यस्त्वतिथिर्विद्यारहितोऽपि साधुवृत्तो भवति तस्मिन्नुपस्थिते मध्यमेन संस्कारेणान्नं देयम् ॥ ३२ ॥

जो अतिथि विद्याहीन होने पर भी सदाचारी हो उसे मध्यम कोटि का भोजन कराये ॥ ३२ ॥

विपरीतेषु तृणोदकभूमिस्वागतमन्ततः पूजाऽनत्याशश्च ॥ ३३ ॥

विपरीतो विद्यायुक्तोऽपि न साधुवृत्तः । तस्मिन्निहाऽऽस्यतामिति भूमिं तृणमासनमुदकं च दद्यात् । स्वागतमन्ततोऽनन्तरं स्वागतं च प्रयुञ्जीत । संभाषणेन पूजा कर्तव्या । अनत्याशश्च । अत्याशः पायसापूपादिविशिष्टक्रमस्तदन्यो मध्यमरीत्या कर्तव्यः । आशोऽशनमिति यावत् ॥ ३३ ॥

इसके विपरीत प्रकार के (विद्या से युक्त होते हुए भी दुराचारी) अतिथि को तृण, जल, स्थान देकर स्वागत के वचनों से उसका सत्कार करे; संभाषण से पूजा करे और मध्यम कोटि का भोजन करावे ॥ ३३ ॥

शय्यासनावसथानुव्रज्योपासनानि सदृक्श्रेयसोः समानानि ॥ ३४ ॥

योऽतिथिर्विद्यावृत्तादिनाऽऽत्मना सदृशो यश्च श्रेयांस्तयोर्द्वयोरप्यात्मना तुल्यानि शय्यासनादीनि देयानि। आवसथो गृहे स्थानविशेषः। अनुव्रज्योपासनयोरात्मन्यसंभवात्तुल्यत्वं न सम्भवति ते अपि कार्ये इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

जो अतिथि विद्या, वृत्ति आदि में अपने समान हो और जो अपने से श्रेष्ठ हो उन दोनों प्रकार के अतिथियों को अपने समान शय्या, आसन और घर में निवास स्थान दे; उसके पीछे-पीछे चले और समीप में उपस्थित रहे ॥३४॥

अल्पशोऽपि हीने ॥ ३५ ॥

आत्मना किंचिदूनेऽप्यतिथावागते समान्येव शय्यादीनि देयानीत्येके। वयं तु ब्रूमः। हीनेऽतिथावागतेऽल्पशोऽपि शय्यादीनि देयानि न तु हीन इति कृत्वाऽत्यन्तलोपः कर्तव्यः ॥ ३५ ॥

अपने से कुछ ही हीन अतिथि के आने पर भी समान ही शय्या आदि दे ॥ ३५ ॥

अतिथिलक्षणमाह—

असमानग्रामोऽतिथिरैकरात्रिकोऽधिवृक्षसूर्योपस्थायी ॥३६॥

असमानग्रामोऽन्यग्रामवासी। ऐकरात्रिक एकां रात्रिं वसतीत्यैकरात्रिकः। वृक्षाणामुपरि यदा सूर्यः सोऽधिवृक्षसूर्यः कालो मध्याह्नः। अथ वा वृक्षाणामुपरि सूर्यरश्मयो यदा भवन्ति स कालः सायं वा। तस्मिन्काल उपस्थितोऽतिथिः सर्वथा मान्यतमः ॥ ३६ ॥

दूसरे ग्राम में रहनेवाले, केवल एक रात्रि निवास करनेवाले और वृक्षों के ऊपर सूर्य के अधिष्ठित रहने के समय (मध्याह्न या सायंकाल के समय) आने वाले को अतिथि कहते हैं ॥ ३६ ॥

कुशलानामयारोग्याणामनुप्रश्नः ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणादिषु त्रिषु वर्णेषु पथ्यादिसङ्गतेषु कुशलादीनामानुपूर्व्येण प्रश्नः कर्तव्यः। अपि कुशलमायुष्मन्निति ब्राह्मणः प्रष्टव्यः। अप्यनामयं तत्रभवत इति क्षत्रियः। अप्यरोगो भवानिति वैश्यः ॥ ३७ ॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के अतिथियों से क्रमशः कुशल, अनामय और आरोग्य का प्रश्न करे (अर्थात् ब्राह्मण से 'कुशलमायुष्मन्', क्षत्रिय से 'अपि अनामय तत्रभवतः' तथा वैश्य से 'अप्यरोगो भवान्' पूछे) ॥ ३७ ॥

अन्त्यं शूद्रस्य ॥ ३८ ॥

कुशलादिषु यदन्त्यं तच्छूद्रस्य प्रयोक्तव्यमप्यरोगोऽसीति ॥ ३८ ॥

उपर्युक्त प्रश्नों में अन्तिम (आरोग्य का) कुशल प्रश्न शूद्र से भी पूछे (जैसे—'अप्यरोगोऽसि' ।) ॥ ३८ ॥

ब्राह्मणस्यानतिथिरब्राह्मणः ॥ ३९ ॥

अब्राह्मणः क्षत्रियादिर्ब्राह्मणस्यातिथिर्न भवति । पूर्वोक्ता अतिथिधर्मास्तत्र न प्रयोज्याः । केवलमुदकान्नदानादिनाऽङ्गीकार्यः ॥ ३९ ॥

अब्राह्मण (क्षत्रिय आदि) ब्राह्मण के अतिथि नहीं होते हैं । (अर्थात् ब्राह्मण अब्राह्मण के आने पर उनके लिये पूर्वोक्त अतिथिपूजा न करके उन्हें केवल जल और भोजन दे) ॥ ३९ ॥

यज्ञे संवृतश्चेत् ॥ ४० ॥

यज्ञकाल आहु(हू)तश्चेदतिथिवत्पूज्यः ॥ ४० ॥

अब्राह्मण (क्षत्रिय आदि) यज्ञ के समय बुलाये गये हों तो उनकी पूजा अतिथि के समान करनी चाहिए ॥ ४० ॥

तत्रापि—

भोजनं तु क्षत्रियस्योर्ध्वं ब्राह्मणेभ्यः ॥ ४१ ॥

तस्यातिथिपक्षेऽपि ब्राह्मणेषु भुक्तवत्सु पश्चाद्भोजनं देयम् ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणों को भोजन कराने के उपरान्त ही क्षत्रिय अतिथि को भोजन देना चाहिए ॥ ४१ ॥

अन्यान्भृत्यैः सहाऽऽनृशंस्यार्थमानृशंस्यार्थम् ॥ ४२ ॥

अन्याञ्शूद्रादीनातिथ्यकाल आगतान्भृत्यैः कर्मकरादिभिः सह सति विभवे भोजयेत् । यद्यपि तेषामतिथित्वं न भवति तथाऽप्यानृशंस्यार्थम् । नृशंसता प्रत्यक्षक्रौर्यं तद्राहित्याय । आनृशंस्यं परो धर्म इत्यानृशंस्यमपि परो धर्म एवेति [अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः] ॥ ४२ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
प्रथमप्रश्ने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

आतिथ्य के समय आये हुए अन्य शूद्रों आदि को सेवकों के साथ दया के कारण भोजन कराना चाहिए ॥ ४२ ॥

अथ प्रथमप्रश्ने षष्ठोऽध्यायः ।

उक्ताऽतिथिपूजा । अन्येषामपि पूजाप्रकारमाह—

पादोपसंग्रहणं समवायेऽन्वहम् ॥ १ ॥

वक्ष्यमाणानां मात्रादीनां समवाये संगमे प्रतिदिनं पादोपसंग्रहणं कार्यम् । व्यत्यस्तपाणिना कार्यमिति पूर्वोक्तप्रकारेण ॥ १ ॥

प्रतिदिन माता पिता आदि से मिलने पर (व्यत्यस्तपाणि विधि से) उनका चरण छूना चाहिए ॥ १ ॥

अभिगम्य तु विप्रोष्य ॥ २ ॥

तुशब्दः प्रकृतव्यावृत्तौ । विप्रोष्य स्वयं विप्रवासं कृत्वा तेषां विप्रवासे वा ते मातृपित्रादयो यत्राऽऽस्थितास्तत्राभिगम्य पादोपसंग्रहणं कार्यमिति ॥ २ ॥

अपने या उनके प्रवास से वापस आने पर माता-पिता आदि श्रेष्ठ जन जहाँ भी हों वहाँ जाकर उनके चरण छूने चाहिए ॥ २ ॥

तन्मातृपित्रादीनाह—

मातृपितृतद्बन्धूनां पूर्वजानां विद्यागुरूणां तद्गुरूणां च ॥ ३ ॥

मातापितरौ प्रसिद्धौ । तद्बन्धवो मातुलमातृष्वसृपितृव्यपितृष्वस्रादयः । पूर्वजा ज्येष्ठभ्रातरः । विद्यागुरव आचार्योपाध्यायादयः । तद्गुरव आचार्यादयः । तद्विषयं पूर्वसूत्रद्वयमिति ॥ ३ ॥

माता, पिता, उनके बन्धुओं (मामा, मौसी, चाचा, चाची, बुआ), ज्येष्ठ भाइयों, गुरुओं और उनके गुरुजनों के चरण छूने चाहिए ॥ ३ ॥

संनिपाते परस्य ॥ ४ ॥

मात्रादीनां युगपत्संनिपाते समागमे परस्योत्कृष्टस्य प्रथममुपसंग्रहणं कार्यम् । आचार्यः श्रेष्ठो गुरूणां मातेत्येक इत्युत्कर्षः पूर्वोक्तः । आपस्तम्बेन तु—

आचार्यप्राचार्यसंनिपाते प्राचार्यायोपसंगृह्योपसंजिघृक्षेदाचार्यमित्यादिनोपसंग्रहणमुक्तम् ॥ ४ ॥

माता आदि इन सभी श्रेष्ठ जनों से एक साथ भेंट होने पर इनमें सबसे श्रेष्ठ व्यक्ति का चरण सर्वप्रथम छूना चाहिए ।। ४ ।।

अभिवादनविधिमाह—

स्वनाम प्रोच्याहमयमित्यभिवादो ज्ञसमवाये ।। ५ ।।

यः प्रत्यभिवादनाभिज्ञस्तेन संगमे स्वनाम प्रोच्य व्यावहारिकं प्रसिद्धं नाम प्रोच्याहमयमिति प्रकर्षेणोच्चैरुक्त्वाऽभिवादः कार्यः । अभिवादोऽभिवादनं ण्यन्तादेरच् । एवं चार्थज्ञानां ज्ञातवरसमवायेऽभिवादनक्रमेणायमहमिति स्वनाम गुह्यं प्रोच्याभिवादनं कार्यम् । हीनव्यतिरिक्ताभिवाद्यविषयम् । तद्यथा—अभिवादये हरदत्तशर्मा नामाहमस्मि भो इति । तत्र प्रत्यभिवादनविधिर्मनुना दर्शितः—

आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यो विप्रोऽभिवादने ।
अकारश्चास्य नाम्नोऽन्ते वाच्यः पूर्वाक्षरः प्लुतः ।।

अस्यार्थः । विप्रशब्देन ब्राह्मणविषयमिदम् । अभिवादयिता विप्र आयुष्मान्भव सौम्येति वाच्यः । अस्य नाम्नोऽन्ते पूर्वाक्षरप्लुतोऽकारश्च वाच्यः । पूर्वाक्षरप्लुत इत्यकारस्य विशेषणम् । यस्मात्पूर्वमक्षरं प्लुतरूपं स तथोक्तः । अक्षरमित्यचोऽभिधानम् । अकारात्पूर्वो योऽच् स प्लुतो वाच्यः । तेन व्यञ्जनव्यवधानेऽपि भवति । आयुष्मान्भव सौम्य हरदत्ता ३ अ । व्यञ्जनव्यवधानेन यथाऽऽयुष्मान्भव सौम्याग्निचि ३ द । इति प्रयोगः ।

वसिष्ठस्तु संध्यक्षरे विशेषमाह—आमन्त्रिते योऽन्त्यः स्वरः स प्लवते संध्यक्षरमप्रगृह्यमाहुः [इ] आउभावं चाऽऽपद्यत इति ।

एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुताविति वैयाकरणः । तत्रान्तेऽकारे प्रयुक्ते तयोर्य्वावचि संहितायामिति यकारवकारौ । आयुष्मान्भव सौम्य पिनाकपाणा३येति विष्णा३वेति च प्रयोगः । अज्ञसमवाय इति पक्षे नायमभिवादनप्रकारः । तत्र स्मृत्यन्तरम्—

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः ।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ।। इति ।

यथा स्त्रीषूक्तप्रकारं विना तादात्मिकेन देशभाषादिना येन केनापि शब्देनाभिवादनं तद्वत्तेष्वपि भवति । अभिवादनमिति सामान्योपलक्षणम् । प्रकारवर्जितस्य स्त्र्यादिप्रयुक्तस्याप्यभिधानात् । अभिवादनप्रकारे त्वापस्तम्बः—दक्षिणं बाहुं श्रोत्रसमं प्रसार्य ब्राह्मणोऽभिवादयीतोरःसमं राजन्यो मध्यसमं वैश्यो नीचैः शूद्रः प्राञ्जलिरिति ।। ५ ।।

अभिवादन को जानने वाले श्रेष्ठ व्यक्ति से मिलने पर अपने नाम का उच्चारण करते हुए 'यह मैं अमुक हूँ' ऐसा कहकर अभिवादन किया जाता है ॥ ५ ॥

स्त्रीपुंयोगेऽभिवादतोऽनियममेके ॥ ६ ॥

स्त्रीपुंयोगे जायापतिसमवायेऽभिवादतः सार्वविभक्तिकस्तसिः। अभिवादने प्राप्तेऽनियममेके मन्यन्ते। यद्यपि भर्ता प्रत्यभिवादज्ञस्तथाऽपि तदभिवादने भार्याया नियमं नेच्छन्ति। अभिवादयेऽहमियमित्यादिक्रमो नियमस्तं नेच्छन्ति। सामान्याभिवादनमात्रमेव। एवं च भार्यया भर्तुरहरहर्नमस्कारः कार्यः। एक इति वचनाद्गौतमस्य पक्षे नियम एव ॥ ६ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि पति और पत्नी के परस्पर मिलने पर उनके लिए अभिवादन का कोई नियम नहीं होता ॥ ६ ॥

नाविप्रोष्य स्त्रीणाममातृपितृव्यभार्याभगिनीनाम् ॥ ७ ॥

समवायेऽन्वहमित्यस्यापवादोऽयम्। मातृपितृव्यभार्याभगिनीव्यतिरिक्तानां स्त्रीणामविप्रोष्योपसंग्रहणमभिवादनं च न कार्यम्। किं तु विप्रोष्य प्रत्यागमन एव कार्यम्। मात्रादीनां त्वविप्रोष्यापि प्रत्यहम्। तथा च स्मृत्यन्तरम्—

उपसंग्रहणं कुर्याद्भगिन्या मातुरेव च।
तथा पितृव्यभार्याणां समवायेऽन्वहं द्विजः ॥ इति ॥ ७ ॥

कहीं प्रवास से लौटकर न आया हो तो माता, चाची और बड़ी बहनों के अतिरिक्त दूसरी स्त्रियों के निकट जाकर चरणस्पर्श अभिवादन न करे ॥ ७ ॥

नोपसंग्रहणं भ्रातृभार्याणां स्वसॄणाम् ॥ ८ ॥

विप्रोष्य प्रत्यागतेनाऽऽसामुपसंग्रहणं न कार्यम्। अभिवादनं तु भवत्येव। तत्रात्यन्तगुरुस्थानीयानां मातुलान्यादीनामुपसंग्रहणमन्यासामभिवादनमिति ॥ ८ ॥

यात्रा से लौटकर आने पर भी भाभियों और छोटी बहनों के निकट जाकर उनका चरणस्पर्श न करे (केवल अभिवादन करे) ॥ ८ ॥

ऋत्विक्छ्वशुरपितृव्यमातुलानां तु यवीयसां प्रत्युत्थानमभिवाद्याः ॥ ९ ॥

ऋत्विगादीनामात्मनो यवीयसां प्रत्युत्थानमात्रेण पूजा कार्या न पुनस्तेऽभिवाद्याः ॥ ९ ॥

अपने से छोटी आयु के ऋत्विज्, श्वशुर, चाचा और मामा के आगमन पर अपने आसन से उठने पर ही अभिवादन हो जाता है ॥ ६ ॥

तथाऽन्यः पूर्वः पौरोऽशीतिकावरः शूद्रोऽप्यपत्यसमेन ॥ १० ॥

ऋत्विगादयो यथा प्रत्युत्थेया नाभिवाद्यास्तथाऽयमपि । अन्यस्तेभ्योऽन्यः । पूर्वो वयसाऽधिकः । पौरः पुरवासी । वयसाऽधिक्येऽपि पुरवासादपकर्ष उक्तः । अशीतिरेवाशीतिका तयाऽवरोऽशीतिकावरः । न्यूनाशीतिक इत्यर्थः । एवंविधः शूद्रोऽप्यपत्यसमेन प्रत्युत्थेयो नाभिवाद्यः । अपत्यसमेनेत्यत्यन्तयवीयस्ता दर्शिता । शूद्रग्रहणमवरवर्णोपलक्षणम् । ततश्च शूद्रस्त्रिभिरपि वर्णैर्वैश्यो द्वाभ्यां क्षत्रियस्तु ब्राह्मणेनेति सिध्यति ॥ १० ॥

(अपने से अल्प आयु वाले ऋत्विज् आदि के समान ही) अधिक आयु वाले पुरवासी, अस्सी वर्ष से कम आयु के शूद्र के आने पर उनके पुत्र के समान आयु वाले व्यक्ति को अपने स्थान से उठकर स्वागत करना चाहिए (अभिवादन नहीं करना चाहिए) ॥ १० ॥

अवरोऽप्यार्यः शूद्रेण ॥ ११ ॥

न्यूनाशीतिकेन शूद्रेणावरोऽप्यार्यो यवीयानप्यार्यस्त्रैवर्णिकः प्रत्युत्थेयो नाभिवाद्यः । अत्रापि शूद्रग्रहणमवरवर्णोपलक्षणम् । ततश्च शूद्रेण त्रयो वर्णाः । वैश्येन द्वौ । क्षत्रियेण ब्राह्मण इत्यवरवयसः प्रत्युत्थेया नाभिवाद्या इति सिध्यति ॥ ११ ॥

(अस्सी वर्ष से कम आयु वाले) शूद्र को अल्प आयु वाले द्विज के आने पर उठ जाना चाहिए (अभिवादन नहीं करना चाहिए) ॥ ११ ॥

नाम वाऽस्य वर्जयेत् ॥ १२ ॥

अस्येत्यत्र वीप्सालोपः । अस्यास्योत्कृष्टोत्कृष्टस्यापकृष्टो न नाम गृह्णीयात् । किं त्वौपचारिकं नाम गृह्णीयात् ॥ १२ ॥

अपने से श्रेष्ठ व्यक्ति के नाम का उच्चारण नहीं करना चाहिए ॥ १२ ॥

राज्ञश्चाजपः प्रेष्यः ॥ १३ ॥

अजपोऽश्रोत्रियः । प्रेष्यः प्रेषकरः । स उत्कृष्टवर्णो ब्राह्मणोऽपि राज्ञोऽभिषिक्तस्य नाम वर्जयेत् ॥ १३ ॥

उत्कृष्ट वर्ण का अथवा ब्राह्मण होते हुए भी अश्रोत्रिय दूत राजा का नाम न ले ॥ १३ ॥

भो भवन्निति वयस्यः समानेऽहनि जातः ॥ १४ ॥

वयसा तुल्यो वयस्यः। समानेऽहनि जातः। अत्राहःशब्दः संवत्सरवाचकः। एकस्मिन्संवत्सरे जातः स भो भवन्नित्यनयोरन्यतरेण शब्देन संभाष्यः ॥ १४ ॥

एक ही दिन अथवा एक ही वर्ष में उत्पन्न हुए समवयस्क व्यक्ति को 'भो' अथवा 'भवन्' शब्द से बुलाया जाता है ॥ १४ ॥

दशवर्षवृद्धः पौरः पञ्चभिः कलाभरः श्रोत्रियश्चारणस्त्रिभिः ॥ १५ ॥

पुरे वसन्गुणहीनो दशवर्षवृद्धश्च तत्रापि कलाभरश्चतुःषष्टिकलास्वन्यतमया जीवन्पञ्चभिर्वर्षैर्वृद्धश्च। श्रोत्रियोऽधीतवेदः। चारणः सहाध्यायी। एते सर्वेऽपि भो भवन्निति संभाष्याः। आपस्तम्बस्तु सर्वत्राभिवादनमिच्छति—

दशवर्षं पौरसख्यं पञ्चवर्षं तु चारणम्।
त्रिवर्षपूर्वः श्रोत्रियोऽभिवादनमर्हति ॥ इति ॥ १५ ॥

अपने से दस वर्ष बड़े पुरवासी, किसी कला द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले अपने से पाँच वर्ष तक बड़े व्यक्ति को, तीन वर्ष बड़े श्रोत्रिय और चारण (समान वेदशाखा का अध्ययन करने वाले) को भी 'भो' या 'भवन्' कहकर सम्बोधित किया जाता है ॥ १५ ॥

राजन्यवैश्यकर्मा विद्याहीनाः ॥ १६ ॥

कर्मशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते। राजन्यकर्मा वैश्यकर्मा। ब्राह्मणोऽपि राजन्यकर्मणा वैश्यकर्मणा वा जीवन्नत्यन्तवृद्धोऽपि भो भवन्निति संभाष्यः। विद्याहीनश्च वृद्धोऽपि विद्याधिकेन तथा भाष्यः ॥ १६ ॥

क्षत्रिय और वैश्य के कर्मों से जीविका चलाने वाले अत्यन्त वृद्ध होते हुए भी विद्याहीन ब्राह्मण को 'भो' या 'भवन्' कहकर संबोधित करे ॥ १६ ॥

दीक्षितश्च प्राक्क्रयात् ॥ १७ ॥

वयस्यविषयमिदम्। दीक्षितश्च वयस्यः सोमक्रयात्पूर्वं तथा भाष्यः। ततः परं वृद्धवन्मान्यः। उत्तमाश्रमविषय उशना—श्रोत्रियवत्प्राशितः सर्वेषां गुरुर्भवतीति ॥ १७ ॥

यज्ञ में दीक्षा लेने वाले समवयस्क व्यक्ति को सोमक्रय के पूर्व 'भो' या 'भवन्' से संबोधित करना चाहिए (सोमक्रय के बाद उनका सम्मान वृद्ध पुरुष के समान किया जाता है) ॥ १७ ॥

वित्तबन्धुकर्मजातिविद्यावयांसि मान्यानि परबलीयांसि ॥ १८ ॥

वित्तादीनां साक्षान्मान्यत्वासंभवात्तद्वन्तो मान्या इत्युपलक्ष्यन्ते। वित्तवानाढ्यः। बन्धुमान्विशिष्टैः सोदर्यादिभिर्युक्तः। कर्मवान्यथोक्तकर्मकारी। जातिमानभिजनयुक्तः। विद्यावानधीतवेदशास्त्रः। वयस्वान्वयसाऽधिकः। एतादृशा अतादृशैर्मान्याः। परस्परसमवाये तु परः परो बलीयान्प्रथममान्यः। मान्येऽभिवादनादिसंमानः॥ १८॥

धनवान व्यक्ति, भाई बन्धु आदि जनों से युक्त, यथोक्त कर्म करने वाले, उत्तम जाति वाले, वेद और शास्त्रों के ज्ञाता तथा अपने से अधिक आयु वाले व्यक्ति मान्य होते हैं। इनमें बाद वाला क्रमशः अपने पहले वाले से अधिक सम्माननीय होता है (मान्य व्यक्तियों का अभिवादन करना चाहिए) ॥ १८ ॥

श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीयः ॥ १९ ॥

श्रुतं मन्त्रब्राह्मणविभागेन वेदार्थपरिज्ञानम्। तत्सर्वेभ्यो वित्तादिभ्यो गरीयो गुरुतरम्। पूर्वसूत्रे परबलीयांसीति श्रुतमपरमुपन्यस्तं तद्व्यावृत्त्यर्थं पृथक्सूत्रम्॥ १९॥

वेद का ज्ञाता (उपर्युक्त धनवान आदि) सबसे श्रेष्ठ होता है ॥ १९ ॥

कुतः पुनः श्रुतं सर्वेभ्यो गरीय इत्यत आह—

तन्मूलत्वाद्धर्मस्य श्रुतेश्च ॥ २० ॥

श्रुतमूलमनुष्ठानमनुष्ठानमूलो धर्म इति श्रुतेश्चाप्यनुच्छिन्नसंप्रदायो मूलम्। तस्माच्छ्रुतस्य गरीयस्त्वम्। श्रुतस्य गरीयस्त्वं छान्दोग्ये प्रतिपादितम् ब्राह्मणं शैशवं भवति शिशुर्वै आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासी दिति। मनुरपि—

> अध्यापयामास पितृञ्शिशुराङ्गिरसः कविः।
> पुत्रका इति होवाच ज्ञानेन परिगृह्य तान्॥ इति॥ २०॥

क्योंकि धर्म और श्रुति का मूल श्रुत अर्थात् वेदज्ञान ही है ॥ २० ॥

चक्रिदशमीस्थानुग्राह्यवधूस्नातकराजभ्यः पथो दानम् ॥ २१ ॥

चक्रि चक्रवच्छकटादि। तत्स्थश्चक्रिस्थः। दशम्यां दशायां स्थितो

दशमीस्थो वृद्धः। अनुग्राह्यो रोगार्तः। वधूर्गर्भिणी। स्नातको विद्याव्रतस्नातः। राजाऽभिषिक्तः। पथि संगम एतेभ्योऽन्यैः पन्था देयः॥ २१॥

पहिये वाली सवारी (रथ आदि) पर बैठे हुए व्यक्ति, दशमी दशा में स्थित वृद्ध पुरुष, रोगी, गर्भवती स्त्री, स्नातक और राजा के लिए रास्ता दे देना चाहिए (अर्थात् इनके मार्ग में आने पर मार्ग छोड़ कर हट जाना चाहिए और उन्हें जाने देना चाहिए।)॥ २१॥

तत्र विशेषः—

राज्ञा तु श्रोत्रियाय श्रोत्रियाय॥ २२॥

श्रोत्रियसमागमे राज्ञैव पन्था देयः। अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः॥ २२॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां प्रथमप्रश्ने षष्ठोऽध्यायः॥ ६॥

श्रोत्रिय व्यक्ति के लिए राजा को रास्ता दे देना चाहिए॥ २२॥

अथ प्रथमप्रश्ने सप्तमोऽध्यायः ।

श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीय इति विद्याप्राधान्यमुक्तम् । सा विद्या ब्राह्मणादधिगन्तव्येति प्रथमः कल्पः । तदभावे विद्याया अवश्याधिगन्तव्यत्वादापत्कल्पमाह—

आपत्कल्पो ब्राह्मणस्याब्राह्मणाद्विद्योपयोगः ॥ १ ॥

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः ।
पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥

उपयोगो नियमपूर्वकं ग्रहणम् । अब्राह्मणः क्षत्त्रियो वैश्यश्च तस्माद्ब्राह्मणेन विद्योपयोगः कार्यः स आपत्कल्पः । आपद्विधिर्ब्राह्मणस्येत्युपलक्षणम् । तेन क्षत्त्रियेणापि वैश्याद्विद्योपयोगः कार्य इति सिध्यति । आपत्कल्प इत्यध्यायपरिसमाप्तेरधिक्रियते ॥ १ ॥

ब्राह्मण का ब्राह्मणेतर (क्षत्रिय या वैश्य) से विद्याग्रहण करना आपत्कालीन नियम है ॥ १ ॥

अनुगमनं शुश्रूषा ॥ २ ॥

तत्र यावदध्ययनकालमनुगमनमेव शुश्रूषा नान्यत्पादसंवाहनादि ॥ २ ॥

इस प्रकार के अध्ययन के समय ब्राह्मण द्वारा (अब्राह्मण) गुरु के पीछे पीछे चलना ही गुरुसेवा है ॥ २ ॥

समाप्ते ब्राह्मणो गुरुः ॥ ३ ॥

समाप्ते त्वध्ययने ब्राह्मण एव गुरुः ॥ ३ ॥

अध्ययन समाप्त होने पर ब्राह्मण ही गुरु होता है ॥ ३ ॥

याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः सर्वेषाम् ॥ ४ ॥

याजनादयो ब्राह्मणस्य वृत्तयस्ता आपदि सर्वेषामनुज्ञायन्ते न तु ब्राह्मणस्यैवेति । अपर आह—आपदि सर्वे याजयितव्याः सर्वेऽध्याप्याः सर्वतश्च प्रतिग्राह्यं न तु गर्हादोषोऽस्तीति । तथा च मनुः—

नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमो हि सः ॥ इति ॥ ४ ॥

यज्ञ कराना, अध्यापन और दान लेना (ब्राह्मण के कर्म) आपत्काल में सबके लिए (सभी वर्णों के लिए) विहित हैं । अथवा आपत्काल में ब्राह्मण

सभी का (अयोग्य व्यक्ति का भी) यज्ञ करा सकता है, सबको पढ़ा सकता है और सबका दान ले सकता है ॥ ४ ॥

पूर्वः पूर्वो गुरुः ॥ ५ ॥

एतेषां याजनादीनां यो यः पूर्वनिर्दिष्टः स स उत्तरस्माद्गुरुर्ज्ञेयः । आपदि प्रतिग्रहेण जीवेत्तदसंभवेऽध्यापनेन तदसंभवे याजनेनेति ॥ ५ ॥

इन (याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह कर्मों) में क्रमशः पहले निर्दिष्ट कर्म अपने उत्तरवर्ती कर्म की अपेक्षा बड़ा होता है । (आपत्ति काल में पहले दान लेकर जीविका चलानी चाहिए, उससे जीविका न चले तो अध्यापन करे और उससे भी जीविका न चले तो याजन द्वारा जीविका निर्वाह करे ।। ५ ॥

तदलाभे क्षत्रवृत्तिः ॥ ६ ॥

इदं ब्राह्मणविषयम् । गर्हितयाजनादेरप्यलाभे क्षत्रवृत्तिः स्यात् । ब्राह्मणः सेवादिना जीवेत् । आपदि निवृत्तायां नारदः—

आपदं ब्राह्मणस्तीर्त्वा क्षत्रवृत्त्या भृते जने ।
उत्सृजेत्क्षात्त्रवृत्तिं तां कृत्वा पावनमात्मनः ॥ इति ॥६॥

उपर्युक्त निन्दित याजन आदि कर्म से भी जीविका न चल सके तो ब्राह्मण क्षत्रिय का कर्म करके जीवन निर्वाह करे ॥ ६ ॥

तदलाभे वैश्यवृत्तिः ॥ ७ ॥

क्षत्त्रवृत्तेरप्यलाभे वैश्यवृत्त्याऽपि जीवेद्ब्राह्मणः । अलाभग्रहणं वृत्तिसंकरो मा भूदिति । क्षत्रियस्य वैश्यवृत्त्युपजीवनं दण्डापूपन्यायेन सिद्धम् ॥ ७ ॥

क्षत्रिय के कर्मों द्वारा भी कोई लाभ न हो तो वैश्य की वृत्ति अपनाकर जीवन निर्वाह करे ॥ ७ ॥

तस्यापण्यम् ॥ ८ ॥

तस्य वैश्यवृत्तेर्ब्राह्मणस्यापण्येन विक्रेयं वक्ष्यते । तस्येति वचनात्क्षत्त्रियस्य वैश्यवृत्त्युपजीविनो वक्ष्यमाणमपण्यं न भवति ॥ ८ ॥

आपत्काल में वैश्य वृत्ति से जीवन निर्वाह करने वाले ब्राह्मण को आगे निर्दिष्ट वस्तुएँ नहीं बेचनी चाहिए ॥ ८ ॥

गन्धरसकृतान्नतिलशाणक्षौमाजिनानि ॥ ९ ॥

गन्धश्चन्दनादिः । रसस्तैलघृतलवणगुडादिः । कृतान्नं मोदकापूपादि । तिलाः प्रसिद्धाः । शाणं शणविकारो गोण्यादिः । क्षौमं क्षुमोद्-

भूतं पटटवस्त्रविशेषः । अजिनं चर्म कटादि । एतान्यविक्रेयाणि । शाणक्षौमयोर्विकारनिषेधात्प्रकृतेरप्रतिषेधः ॥ ९ ॥

गन्ध (चन्दन आदि), रस (तेल, घी, नमक, गुड़ आदि), बना हुआ भोजन (लड्डू आदि), तिल, सन से बने हुए पदार्थ, रेशमी वस्त्र, मृगचर्म और चटाई आदि अविक्रेय होते हैं ॥ ९ ॥

रक्तनिर्णिक्ते वाससी ॥ १० ॥

रक्तं लाक्षादिना विकृतम् । निर्णिक्तं रजकादिना धौतम् । एवंभूते अपि वाससी अपण्ये ॥ १० ॥

लाक्षा आदि रंगों से रंगे हुए और धोबी द्वारा धोए गये वस्त्र वैश्यवृत्ति वाला ब्राह्मण न बेचे ॥ १० ॥

क्षीरं सविकारम् ॥ ११ ॥

दध्यादिभिर्विकारैः सह क्षीरमपण्यम् ॥ ११ ॥

दही, घी आदि विकार के साथ दूध भी (वैश्यवृत्ति वाला ब्राह्मण न बेचे) ॥ ११ ॥

मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणोदकापथ्यानि ॥ १२ ॥

मूलमार्द्रकहरिद्रादि । फलं पूगादि । पुष्पं चम्पकादि । औषधं पिप्पल्यादि । मधु माक्षिकम् । मांसतृणोदकानि प्रसिद्धानि । अपथ्यं विषादि । एतान्यपण्यानि । रसशब्देन पूर्वमेव निषिद्धेऽपि पुनर्मधुग्रहणं सर्वथा वृत्तिरशक्तावित्यादिपक्षे निषेधार्थम् ॥ १२ ॥

मूल (अदरख, हल्दी आदि), फल (पूग आदि), (चम्पक आदि) फूल, औषध, मधु, मांस, तृण, जल और विष आदि अपथ्य पदार्थ (वैश्यवृत्ति वाले ब्राह्मण को नहीं बेचने चाहिए) ॥ १२ ॥

पशवश्च हिंसासंयोगे ॥ १३ ॥

पशवोऽजादयः । हिंसासंयोगे सौनिकादिभ्यो हिंसार्थे न विक्रेयाः ॥ १३ ॥

हिंसा के लिए (बकरा आदि) पशु भी न बेचे ॥ १३ ॥

पुरुषवशाकुमारीवेहतश्च नित्यम् ॥ १४ ॥

पुरुषा दासादयः । वशा वन्ध्या गौः । कुमारी वत्सतरी । वेहद्गर्भोपघातिनी । एते नित्यमपण्याः । नित्यमित्युक्तत्वाद्धिंसासंयोगादन्यत्रापि

निषेधः। अपर आह—इह नित्यग्रहणात्पूर्वेषु तिलादिष्वनित्यः प्रतिषेध इति। तत्र वसिष्ठः—

कामं वा स्वयमुत्पाद्य तिलान्विक्रीणीरन्। इति ॥ १४ ॥

दास, दासी, वन्ध्या गाय, बछिया तथा गर्भ गिरा देने वाली गाय का विक्रय कभी भी (वैश्यवृत्ति वाला ब्राह्मण) न करे ॥ १४ ॥

भूमिव्रीहियवाजाव्यश्वऋषभधेन्वनडुहश्चैके ॥ १५ ॥

भूमिर्गृहम्। व्रीहियवाजाव्यश्वाः प्रसिद्धाः। ऋषभः सेचनसमर्थो गौः। धेनुः सकृत्प्रसूता। अनड्वाननोवाहनयोग्यो बलीवर्दः। एते चापण्या इत्येके मन्यन्ते। एकशब्दाद्वयं त्वनुजानीमः। अत्राप्यजाविग्रहणं हिंसासंयोगविषयपरम् ॥ १५ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि भूमि, धान, जौ, बकरी, घोड़ा, साँड, एक बार ब्याई हुई गाय और बैल का विक्रय न करे ॥ १५ ॥

नियमस्तु ॥ १६ ॥

नियमो विनिमयः परिवर्तनं तुशब्देन नियमोऽनुज्ञायत इति ॥१६॥

किन्तु उपर्युक्त अविक्रेय पदार्थों का विनिमय (अदल बदल) कर सकता है ॥ १६ ॥

रसानां रसैः ॥ १७ ॥

तैलघृतगुडादीनां रसैरेव विनिमयः कार्यः। तद्यथा—

तैलं दत्त्वा घृतं ग्राह्यमिति रसैः समतो हीनतो वेति वसिष्ठः ॥ १७ ॥

रसों (तेल, घी, गुड आदि पदार्थों) का विनिमय रस से ही हो सकता है ॥ १७ ॥

पशूनां च ॥ १८ ॥

पशूनां चतुष्पदां पशुभिर्विनिमयः कार्यः ॥ १८ ॥

पशुओं का विनिमय भी पशुओं से ही करना चाहिए ॥ १८ ॥

न लवणकृतान्नयोः ॥ १९ ॥

लवणस्य कृतान्नस्य च विनिमयोऽपि प्रतिषिद्धः ॥ १९ ॥

नमक और बनाये हुए भोजन का विनिमय भी वर्जित है ॥ १९ ॥

तिलानां च ॥ २० ॥

तिलानां च विनिमयो न कार्यः। लवणकृतान्नतिलानां द्रव्यान्तरस्वो-

कारेण प्रदानं निषिद्धम् । समानद्रव्यविषये प्रवृत्त्यसंभवात् ॥ २० ॥

तिल का भी विनिमय नहीं करना चाहिए ॥ २० ॥

समेनाऽऽमेन तु पक्वस्य संप्रत्यर्थे ॥ २१ ॥

समेन समपरिमाणेनाऽऽमेन तण्डुलेन संप्रत्यर्थे तादात्मिकोपयोगार्थे पक्वान्नस्य नियमः कार्यः । मनुस्तु तिलधान्येन तत्समा इति समेन धान्येन तिलानां नियममनुजानाति । अपण्यमिति विक्रयनिषेधात्सर्वत्र यावदुपयोगक्रये निषेधो न स्यात् । रसादीनामपि नियमशब्देन प्रदानमेव विवक्षितम् । अन्यथा त्वविद्यमानेन रसान्तरादेर्द्रव्याण्यावृत्यसंभवात् ॥ २१ ॥

समान परिमाण के विना पकाये हुए (चावल आदि) से पके हुए अन्न का (तात्कालिक उपयोग के लिए) विनिमय हो सकता है ॥ २१ ॥

सर्वथा वृत्तिरशक्तावशौद्रेण ॥ २२ ॥

उक्तेन प्रकारेण कुटुम्बधारणस्यासंभवोऽशक्तिः । तस्यां सत्यां सर्वथा वृत्तिः । प्रकारवचने थाल्, उक्तेन सर्वप्रकारेण निषिद्धेनापि जीवेत् । तत्रापि न शौद्रेण कर्मणा जीवेदिति ॥ २२ ॥

उपर्युक्त किसी भी प्रकार से जीविकानिर्वाह संभव न हो तो द्विज शूद्र के कर्म के अतिरिक्त किसी भी कर्म से जीवन चला सकता है ॥ २२ ॥

तदप्येके प्राणसंशये ॥ २३ ॥

एके त्वाचार्याः प्राणसंशये सति तदपि शौद्रं कर्माप्यनुमन्यन्ते । यथाऽऽह व्यासः—

धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान्निघ्नता किं न हतं रक्षता किं न रक्षितम् ॥ इति ॥ २३ ॥

कुछ आचार्य प्राणसंकट की दशा में उस (शूद्र वृत्ति) को भी विहित करते हैं ॥ २३ ॥

तद्वर्णसंकराभक्ष्यनियमस्तु ॥ २४ ॥

नियमो वर्जनम् । शूद्रवृत्तिस्थितेनापि ब्राह्मणेन तेन शूद्रवर्णेन सहाऽऽसनाङ्गसंमेलनादिः संकरः । अभक्ष्यं च लशुनादि । तदुभयवर्जनं कर्तव्यं न तु शूद्रवृत्तिरस्मीति यथाकाम्यमिति ॥ २४ ॥

शूद्रवृत्ति अपनाने पर भी शूद्र वर्ण के व्यक्तियों के साथ बैठना, अङ्गों का स्पर्श आदि वर्णसंकर कर्म तथा लशुन आदि अभक्ष्य का भक्षण न करे ॥ २४ ॥

प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत ॥ २५ ॥

प्राणसंशये सति ब्राह्मणोऽपि रक्षार्थं शस्त्रमाददीत । तदलाभे क्षत्त्रवृत्तिरिति शस्त्रग्रहणे सिद्धे पुनरुपादानं ब्राह्मणवृत्तेः सतोऽप्यनिषेधार्थम् । अपिशब्दात्किं पुनर्वैश्यशूद्रौ ॥ २५ ॥

प्राणसंकट के समय ब्राह्मण भी शस्त्र ग्रहण कर सकता है ॥ २५ ॥

राजन्यो वैश्यकर्म [वैश्यकर्म] ॥ २६ ॥

प्राणसंशये राजन्यो वैश्यकर्माऽऽददीत । तेनाऽऽत्मानं रक्षेत् [अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः] ॥ २६ ॥

प्राण संकट के समय क्षत्रिय भी वैश्य का कर्म कर सकता है ॥ २६ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
प्रथमप्रश्ने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथ प्रथमप्रश्ने अष्टमोऽध्यायः

आपद्वृत्तिमाश्रितो यदि तत्रैव रमेत केनासौ निवार्यत इत्याह—

द्वौ लोके धृतव्रतौ राजा ब्राह्मणश्च बहुश्रुतः ॥ १ ॥

लोको राष्ट्रम्। वीप्सालोपश्चात्र द्रष्टव्यः। लोके लोके धृतव्रतौ व्रतानां कर्मणां धारयितारौ द्वौ राजा बहुश्रुतश्च ब्राह्मणः। तौ सर्वस्य सर्वापदो दण्डोपदेशाभ्यां निवारयितारौ ॥ १ ॥

राजा और वेद का विद्वान् ब्राह्मण—ये दोनों राज्य में व्रतों के कर्म को धारण कराने वाले होते हैं ॥ १ ॥

तयोश्चतुर्विधस्य मनुष्यजातस्यान्तःसंज्ञानां चलनपतनसर्पणानामायत्तं जीवनम् ॥ २ ॥

चतुर्विधस्य मनुष्यजातस्य चातुर्वर्ण्यस्यान्तरप्रभा (भ) वास्त्वनुलोमादयस्तन्मूलत्वात्पृथङ्नोक्ताः। अन्तःसंज्ञा वृक्षादयः स्थावरा वृद्धिक्षयवन्तः। येषामन्तःसंज्ञा न बहिस्ते तथोक्ताः। तथा च मनुः—

तमसा बहुरूपेण चेष्टिताः कर्महेतुना।
अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते समदुःखसमन्विताः॥ इति।

चलनाः पश्वादयः। पतनाः पक्षिणः। सर्पणाः सरीसृपा भुजगादयः। एषां मनुष्यादीनां जीवनं तयो राजब्राह्मणयोरायत्तं तदधीनम्। राजा तु परिपन्थिनिग्रहादिना तेषां जीवनहेतुः। इतरस्तु कथं बहुश्रुत इत्यत आह—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

इत्यादिन्यायेन जीवने हेतुः ॥ २ ॥

चार वर्णों (तथा संकर जातियों) के मनुष्यों, वृक्ष आदि बढ़ने और घटने वाले लुप्त चेतना वाले स्थावर पदार्थों, पशु आदि चलने वाले जीवों, उड़ने वाले पक्षियों और सरकने वाले सर्पों आदि का जीवन इन्हीं दोनों (राजा और बहुश्रुत ब्राह्मण) के अधीन होता है ॥ २ ॥

न च जीवनमात्रमेव तदधीनं किं तर्हि—

प्रसूती रक्षणमसंकरो धर्मः ॥ ३ ॥

प्रसूतिरभिवृद्धिः। दण्डोपदेशाभ्यां यथोक्तकारितया वृष्ट्यादिद्वारेण रोगाद्युपद्रवशान्त्या चाभिवृद्धिर्भवति। चोरनिग्रहाद्रक्षणमपि। दण्डप्राय-

श्चित्तोपदेशाभ्यां भवति वर्णानामसंकरोऽसंमेलनमपि। विहितोपदेशात्प्रतिषिद्धसेवायां दण्डधारणाच्च धर्मोऽपि भवति। एतत्सर्वं तयोरायत्तम् ॥३॥

(वृष्टि द्वारा तथा रोग आदि उपद्रवों की शान्ति द्वारा) वृद्धि, (चोरों को दण्ड देने से) रक्षा, वर्णों के संकर का निरोध तथा (विहित का उपदेश एवं अनुचित कर्म के निषेध तथा दण्डधारण द्वारा) धर्म भी इन्हीं दोनों (राजा और बहुश्रुत ब्राह्मण) के अधीन होते हैं ॥ ३ ॥

बहुश्रुत इत्युक्तं प्रतिपादयति—

स एव(ष) बहुश्रुतो भवति ॥ ४ ॥

स एष इति वक्ष्यमाणनिर्देशः ॥ ४ ॥

बहुश्रुत व्यक्ति इस प्रकार का होता है ॥ ४ ॥

लोकवेदवेदाङ्गवित् ॥ ५ ॥

लोकशब्देन लोकव्यवहारसिद्धा जनपदादिधर्मा उच्यन्ते। तेषां वेदाश्चत्वार ऋग्यजुःसामाथर्वाणः। अङ्गानि षट्। व्याकरणं शिक्षा छन्दो ज्योतिषं कल्पसूत्राणि निरुक्तमपि। तेषां वेत्ता पाठतोऽर्थतश्च ॥ ५ ॥

वह लोकव्यवहार, चारों वेदों तथा छः वेदाङ्गों का ज्ञाता हो ॥ ५ ॥

वाकोवाक्येतिहासपुराणकुशलः ॥ ६ ॥

वेदशास्त्रोपयोगीनि तर्कोक्तिप्रत्युक्तिरूपाणि वाक्यानि। यथा महाभारते—कःस्विदेकाकी चरति सूर्य एकाकी चरतीत्यादीनि वाकोवाक्यम्। भारतरामायणादीनीतिहासः। पुराणं विष्णुपुराणशिवपुराणाद्यष्टादशविधम्। तेषु कुशलः समर्थः ॥ ६ ॥

वाकोवाक्य (वेदशास्त्र सम्बन्धी तर्कोक्ति के वचन), इतिहास (महाभारत और रामायण) तथा पुराणों का पण्डित हो ॥ ६ ॥

तदपेक्षस्तद्वृत्तिः ॥ ७ ॥

यान्येतानि लोकादीन्यनूक्तानि तान्यपेक्षत इति। तद्वृत्तिस्तदभिहितानां कर्मणामनुष्ठाता ॥ ७ ॥

इन (लोकव्यवहार, वेद शास्त्र आदि) की अपेक्षा रखने वाला हो तथा इनके अनुकूल आचरण करने वाला हो ॥ ७ ॥

चत्वारिंशत्संस्कारैः संस्कृतः ॥ ८ ॥

चत्वारिंशत्संस्कारा गर्भाधानादयो वक्ष्यन्ते। तैः संस्कृतः ॥ ८ ॥

जिसके (गर्भाधान आदि) चालीस संस्कार हुए हों ॥ ८ ॥

त्रिषु कर्मस्वभिरतः ॥ ९ ॥

इज्याध्ययनदानानि त्रीणि कर्माणि । तेष्वभिरतः । तेषां सातत्येनानुष्ठाता । तद्वृत्तिरित्यनेनैव सिद्धे पुनर्वचनमतिदाढर्यार्थम् ॥ ९ ॥

(यजन, अध्ययन और दान इन) तीन कर्मों में रत रहता हो ॥ ६ ॥

षट्सु वा ॥ १० ॥

याजनाध्यापनप्रतिग्रहैः सह षट् कर्माणि तेष्वभिरतः । वाशब्देन पूर्वोक्तेषु नियमः ॥ १० ॥

अथवा छः कर्मों (उपर्युक्त तीन कर्मों के साथ याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह) में सदैव रत रहता हो ॥ १० ॥

सामयाचारिकेष्वभिविनीतः ॥ ११ ॥

पौरुषेयो व्यवस्था समयः । तन्मूला आचाराः समयाचारास्तेषु भवाः सामयाचारिकाः स्मार्ता धर्मास्तेष्वभिविनीतः पित्रादिभिः सम्यक्शिक्षितः ॥ ११ ॥

सामयाचारिक (स्मृति में विहित) कर्मों में (पिता आदि द्वारा) सम्यक् रूप से शिक्षित किया गया हो ॥ ११ ॥

स एवंरूपो ब्राह्मणः—

षड्भिः परिहार्यो राज्ञा ॥ १२ ॥

षड्भिर्वक्ष्यमाणैर्वधादिभिः परिहार्यो राज्ञा भवति । परिहारो वर्जनम् ॥ १२ ॥

ऐसे बहुश्रुत ब्राह्मण को राजा छः प्रकार के (वध आदि) कष्टों से मुक्त रखे ॥ १२ ॥

तान्वधादीनाह—

अवध्यश्चाबन्ध्यश्चादण्ड्यश्चाबहिष्कार्यश्चापरिवाद्यश्चापरिहार्यश्चेति ॥ १३ ॥

वधस्ताडनम् । बन्धो निगडनम् । दण्डोऽर्थापहारः । बहिष्कारो ग्रामादिभ्यो निरसनम् । परिवादो दोषसंकीर्तनम् । परिहारस्त्यागः । षडेते वधादय एवंभूते बहुश्रुते ब्राह्मणे सत्यबुद्धिपूर्वापराधे राज्ञा वर्ज्याः ।

बुद्धिपूर्वस्य तु प्रसङ्गाभावात् । इतिशब्दः प्रकारवचने । यच्चान्यदेवं-रूपसंभाषादि तदपि वर्ज्यमिति ॥ १३ ॥

ऐसे बहुश्रुत ब्राह्मण वध (शारीरिक दण्ड), बन्धन, आर्थिक दण्ड, ग्राम से निष्कासन, दोष प्रचार द्वारा अपमान और त्याग के योग्य नहीं होते हैं ॥ १३ ॥

चत्वारिंशत्संस्कारैरित्युक्तं तानाह—

गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्नप्राशन-चौलोपनयनम् ॥ १४ ॥

समाहारद्वंद्वः । गर्भाधानमृतावुपेयादित्यादिकालनियमेन सूत्रकारोक्तविधाननिषेकः । गर्भाधानादयः संस्कारास्तत्तद्गृह्येषूक्ताः । इह तु संस्कारगणनार्थं स्वरूपनिर्देशमात्रं कृतम् ॥ १४ ॥

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन ॥ १४ ॥

चत्वारि वेदव्रतानि ॥ १५ ॥

एतानि प्रतिवेदं प्रतिशाखं च गृह्येषूक्तानि ॥ १५ ॥

वेदाध्ययन के चार व्रत ॥ १५ ॥

स्नानं सहधर्मचारिणीसंयोगः ॥ १६ ॥

स्नानं समावर्तनम् । सहधर्मचारिणीसंयोगो विवाहः ॥ १६ ॥

समावर्तन स्नान और विवाह ॥ १६ ॥

पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानं देवपितृमनुष्यभूतब्रह्मणाम् ॥ १७ ॥

पञ्चानां देवानां यज्ञास्तेषामनुष्ठानम् । एतत्पञ्चमहायज्ञानुष्ठानमहरहः कर्तव्यम् । न तु सकृत्कृतेन संस्कारसिद्धिः । पञ्चग्रहणात्पञ्चैते पृथक्संस्कारा न पुनः समुदिता एकः संस्कारः ॥ १७ ॥

देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ इन पाँच यज्ञों का अनुष्ठान ॥ १७ ॥

एतेषां च ॥ १८ ॥

वक्ष्यमाणानामष्टकादीनां च पाकयज्ञानामनुष्ठानं संस्कार इति ॥१८॥

तथा इन (आगे बताये जाने वाले अष्टका आदि पाकयज्ञों) का अनुष्ठान ॥ १८ ॥

तानाह—

अष्टका पार्वणः श्राद्धं श्रावण्याग्रहायणी चैत्र्याश्वयुजीति सप्त पाकयज्ञसंस्थाः ॥ १९ ॥

ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्त्रयोऽपरपक्षास्तेष्वेकैकस्मिन्नेकाऽष्टका भवतीति च्छन्दोगाः। हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टकैकस्यां चेत्याश्वलायनः। या माघ्याः पौर्णमास्या उपरिष्टान्मध्याष्टका तस्यामष्टमी ज्येष्ठया संपद्यते। तामेकाष्टकेत्याचक्षत इत्यापस्तम्बः। एवंभूताऽष्टका। पर्वणि भवः स्थालीपाकः पार्वणः। श्राद्धं मासि श्राद्धम्। श्रावणी सर्पबलिः। श्रावण्यां पौर्णमास्यां गृह्यमग्निमतिप्रणीयेत्यादिच्छन्दोगाभिहितः। श्रावण्यां पौर्णमास्यामस्तमिते स्थालीपाक इत्यापस्तम्बः। आग्रहायणी मार्गशीर्ष्यां पौर्णमास्यां क्रियमाणः सर्पबलिरुत्सर्गहोमः। हेमन्ते प्रत्यवरोहणाख्यं च कर्माऽऽग्रहायणीशब्देनोच्यते। चैत्री शूलगवः। ईशानबलिरित्यापस्तम्बीयानां प्रसिद्धः स चैत्र्यां पौर्णमास्यां भवति। अथ शूलगवः शरदि वसन्ते चेत्याश्वलायनः। आश्वयुजां रुद्राय स इति च्छन्दोगाः। आश्वयुज्यां पौर्णमास्यां तत्कर्म निवेशनमलंकृत्य स्नाताः शुचिवाससः पशुपतये स्थालीपाकं निरूप्य जुहुयुरित्याश्वलायनः। अनाहिताग्नेराग्रयणमपि तत्रैव भवति। तदिदं द्वयमाश्वयुजीशब्देन विवक्षितम्। पाकयज्ञ इति गार्ह्याणां कर्मणामाख्या। यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—लौकिकानां पाकयज्ञशब्द इति। संस्थाविधाः पाकयज्ञविधाः सप्तेत्यर्थः ॥ १९ ॥

अष्टका (आग्रहायणी के बाद तीन अपरपक्षों की अष्टमी तिथियों पर किया जाने वाला पाकयज्ञ अथवा हेमन्त और शिशिर ऋतुओं के चार अपरपक्षों की अष्टमी तिथियों को किया जाने वाला पाकयज्ञ), पार्वण (पर्वों पर किये जाने वाले स्थालीपाक कर्म), श्राद्ध (मासिक श्राद्ध), श्रावणी (सर्पबलि या श्रावण की पूर्णिमा को सूर्यास्त होने पर किया जाने वाला स्थालीपाक यज्ञ), आग्रहायणी (मार्गशीर्ष पूर्णिमा को किया जाने वाला सर्पबलि उत्सर्ग होम), चैत्री (चैत्र पूर्णिमा को किया जाने वाला शूलगव या ईशानबलि), आश्वयुजी (आश्विन पूर्णिमा को पशुपति के स्थालीपाक होम)—ये सात पाकयज्ञ संस्थाएँ हैं ॥ १९ ॥

अग्न्याधेयमग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासावाग्रयणं चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धः सौत्रामणीति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः ॥ २० ॥

अग्न्याधेयादयः श्रुतिसिद्धाः संस्कारेषु गण्यन्ते। सप्तग्रहणाद्दर्शपूर्ण-

मासौ समुदायतयैकः संस्कारः। सोमसंबन्धाभावाद्धविर्यज्ञा इति ॥२०॥

अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्श और पूर्णमास, आग्रयण, चातुर्मास्य, निरूढपशुबन्ध और सौत्रामणि—ये सात हविर्यज्ञ की संस्थाएँ (भी संस्कार) हैं ॥ २० ॥

अग्निष्टोमोऽत्यग्निष्टोम उक्थ्यः षोडशी वाजपेयोऽतिरात्रोऽप्तोर्याम इति सप्त सोमसंस्थाः ॥ २१ ॥

अग्निष्टोमो राजन्यस्य। षोडशिग्रहो गृह्यते यत्र सोऽत्यग्निष्टोमः। ब्राह्मणस्य कथमयं संस्कार इति चिन्त्यम्। अन्ये प्रसिद्धाः ॥ २१ ॥

अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और अप्तोर्याम—ये सात सोमयज्ञ की संस्थाएँ (भी संस्कार) हैं ॥ २१ ॥

इत्येते चत्वारिंशत्संस्काराः ॥ २२ ॥

इत्युक्तोपसंहारः। चत्वारिंशद्ग्रहणादेव तावन्त एव संस्काराः। नान्यानि स्मार्तकर्माणि काम्यादीनि चेति ॥ २२ ॥

इस प्रकार ये सब मिलाकर चालीस संस्कार हुए ॥ २२ ॥

अथाष्टावात्मगुणाः ॥ २३ ॥

वक्ष्यन्त इति शेषः। अथशब्दः संभावनायाम् ॥ २३ ॥

अब आठ आत्मगुण बताये जा रहे हैं ॥ २३ ॥

दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति ॥ २४ ॥

आत्मवत्सर्वभूतेषु यद्धिताय शिवाय च।
वर्तते सततं हृष्टः कृत्स्ना ह्येषा दया स्मृता ॥ १ ॥
आक्रुष्टोऽभिहतो वाऽपि न क्रोशेन्न च ताडयेत्।
अदुष्टो वाङ्मनःकायैः सा तितिक्षा क्षमा स्मृता ॥ २ ॥
यो धर्ममर्थं कामं च लभते मोक्षमेव च।
न द्विष्यात्तं सदा प्राज्ञः साऽनसूया स्मृता बुधैः ॥ ३ ॥
द्रव्यशौचं मनःशौचं वाचिकं कायिकं तथा।
शौचं चतुर्विधं प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ४ ॥
यदारम्भे भवेत्पीडा नित्यमत्यन्तमात्मनः।
तद्वर्जयेद्धर्म्यमपि सोऽनायासः प्रकीर्तितः ॥ ५ ॥
प्रशस्ताचरणं नित्यमप्रशस्तविवर्जनम्।
एतद्धि मङ्गलं प्रोक्तं मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ ६ ॥

आपद्यपि च कष्टायां भवेद्दीनो न कस्यचित् ।
संविभागरुचिश्च स्यात्तदकार्पण्यमुच्यते ॥ ७ ॥
विवर्जयेदसंतोषं विषयेषु सदा नरः ।
परद्रव्याभिलाषं च साऽस्पृहा कथ्यते बुधैः ॥ ८ ॥

इत्युक्तप्रकारेणाष्टावात्मगुणाः ॥ २४ ॥

सभी प्राणियों पर दया, क्षमाशीलता, अनसूया (दूसरे की समृद्धि में न जलना), पवित्रता, अनायास (जिस कार्य को करने से अपने को पीड़ा हो उसे न करना), मङ्गल (प्रशस्त कर्म का आचरण), अकार्पण्य (किसी से कुछ न माँगना) और अस्पृहा (दूसरे की वस्तु देखकर लालच न करना)—ये आठ आत्मगुण हैं ॥ २४ ॥

एषामुत्कर्षमाह—

यस्यैते चत्वारिंशत्संस्कारा न चाष्टावात्मगुणा न स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं गच्छति ॥ २५ ॥

सालोक्यं समानलोकवासित्वम् । एकदेशसंयोगात्सालोक्यं समस्तयोगात्सायुज्यमिति ॥ २५ ॥

जिसमें चालीस संस्कारों से युक्त होने पर भी ये आत्मगुण नहीं होते वह ब्रह्म का सायुज्य और ब्रह्मलोक में निवास नहीं प्राप्त करता ॥ २५ ॥

यस्य तु खलु संस्काराणामेकदेशोऽप्यष्टावात्मगुणा अथ स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छति [गच्छति] ॥२६॥

तुशब्दा विशेषवाची । खलुशब्दः प्रसिद्धौ । यस्य चत्वारिंशत्संस्कारेषु द्विजत्वमूलकतिपयसंस्कारसंबन्धेऽप्यष्टावात्मगुणाः सन्ति । अथशब्दो निर्धारणे ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यं च गच्छत्येव [अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः] ॥ २६ ॥

किन्तु जो व्यक्ति इन चालीस संस्कारों में से थोड़े से भी संस्कारों से युक्त होता है और साथ ही आठ आत्मगुणों से अन्वित होता है वह ब्रह्म का सायुज्य एवं ब्रह्मलोक में निवास प्राप्त करता है ॥ २६ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
प्रथमप्रश्नेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ प्रथमप्रश्ने नवमोऽध्यायः

स विधिपूर्वकं स्नात्वा भार्यामधिगम्य यथोक्तान्गृहस्थधर्मान्प्रयुञ्जान इमानि व्रतान्यनुकर्षेत् ॥ १ ॥

तच्छब्देन पूर्वाध्यायोक्तराजा ब्राह्मणश्च परामृश्यते। वैश्यस्य तु स्नातकविषये विशेषं वक्ष्यति। विधिपूर्वं विधिं पुरस्कृत्य स्नात्वा वेदव्रतानि पारं नीत्वा समावर्तनं कृत्वा भार्यामधिगम्य विवाहं कृत्वा तदनन्तरं यथोक्तानतिथिपूजादिगृहस्थधर्माननुतिष्ठन्निमान्यपि वक्ष्यमाणानि व्रतान्यनुकर्षेत्। आत्मानं प्रापयेदनुतिष्ठेदिति ॥ १ ॥

वह (ब्राह्मण और क्षत्रिय) विधिपूर्वक समावर्तन स्नान करके विवाह करे और ऊपर कहे गये गृहस्थ धर्मों का पालन करते हुए इन व्रतों का आचरण करे ॥ १ ॥

स्नातकः ॥ २ ॥

चलोपो द्रष्टव्यः। स्नातकश्चैतानि गृहस्थव्रतान्यनुतिष्ठेत्। ब्रह्मचर्यान्निवृत्तत्वाद्गार्हस्थ्यव्यतिरिक्ताश्रमान्तराभावाच्च भार्याधिगमादूर्ध्वमिति पूर्वसूत्रमारब्धम्। स्नातकस्य तु भार्याधिगमासंभवे यावज्जीवं गृहस्थधर्मा एवानुष्ठेया इति सूत्रान्तरमारब्धम्। एतच्च राजब्राह्मणयोरेव स्नातकव्रतानुष्ठानं तदतिक्रमे प्रायश्चित्तं च विधीयते। तथा च स्मृत्यन्तरम्—राजब्राह्मणयोरेव नेतरेषां कथंचनेति ॥ २ ॥

स्नातक भी इन नियमों का पालन करे (स्नातक विवाह न करने पर भी आजीवन गृहस्थ धर्म का ही पालन करे) ॥ २ ॥

कानि पुनस्तानि व्रतानि—

नित्यं शुचिः सुगन्धिः स्नानशीलः ॥ ३ ॥

आचमनादिना नित्यं शुचिः शक्तिविषये न मुहूर्तमप्यप्रयतः स्यात्। सुगन्धिश्चन्दनाद्यनुलिप्तेन सुरभिताङ्गः। यद्वा गन्धः शीलं सुशीलः स्यादिति। स्नानशीलो नित्यस्नायी स्यात्। अत्र स्नातकविषये वसिष्ठः—

स्नातकानां तु नित्यं स्यादन्तर्वासस्तथोत्तरम्।
यज्ञोपवीते द्वे यष्टिः सोदकश्च कमण्डलुः ॥ इति।

मनुः—

वैणवीं धारयेद्यष्टिं सोदकं च कमण्डलुम्।

यज्ञोपवीतं वेदं च शुभे रौक्मे च कुण्डले ॥ इति ।

वेदो दर्भमुष्टिः ॥ ३ ॥

(आचमन आदि द्वारा) नित्य पवित्र रहे, सुगन्धित द्रव्यों का लेप करे और स्नान करे ॥ ३ ॥

सति विभवे न जीर्णमलवद्वासाः स्यात् ॥ ४ ॥

विभवेऽन्यस्य संभवे सति जीर्णं मलवच्च वासो न धारयेत् ॥४॥

यदि दूसरे वस्त्र हों तो फटे हुए और मैले वस्त्र न पहने ॥ ४ ॥

न रक्तमुल्बणमन्यधृतं वासो बिभृयात् ॥ ५ ॥

कुसुम्भादिरागयुक्तमुल्बणं बहुमूल्यमन्यधृतं गुरुवर्जमन्यैः पूर्वधृतमेवंविधानि वासांसि न धारयेत् । सति विभव इत्यनुवर्तते ॥ ५ ॥

रंगे हुए, बहुमूल्य और दूसरे (गुरु के अतिरिक्त अन्य व्यक्ति) द्वारा पहले पहने गए वस्त्रों को न धारण करे ॥ ५ ॥

न स्रगुपानहौ ॥ ६ ॥

स्रगुपानहावप्यन्यधृते न धारयेत् ॥ ६ ॥

दूसरे व्यक्ति द्वारा पहनी हुई माला और दूसरे के जूते न पहने ॥ ६ ॥

निर्णिक्तमशक्तौ ॥ ७ ॥

अन्यस्यालाभोऽशक्तिः । अशक्तावन्यधृतं वासः स्रगुपानहौ च निर्णिज्य धारयेत् । तत्र वासोनिर्णेजनं ऊषरोदके पक्वं कार्यम् ॥ ७ ॥

स्वयं अभावग्रस्त होने पर दूसरे के पहने हुए (वस्त्र, माला, जूता आदि) को धोकर पहन सकता है ॥ ७ ॥

न रूढश्मश्रुरकस्मात् ॥ ८ ॥

श्मश्रुग्रहणं नखादीनामप्युपलक्षणार्थम् । अकारणान्न रूढश्मश्रुः स्यात् । कारणे सति रूढश्मश्रुः स्यात् । कारणं तु स्मृत्यन्तरे पठितम्—

षष्ठाब्दे षोडशाब्दे च विवाहाब्दे तथैव च ।
अन्तर्वत्न्यां च जायायां क्षौरकर्म विवर्जयेत् ॥ इति ।

वपनस्यापि गङ्गायां भास्करक्षेत्र इत्यादिना चोदितकालत्वात्कथं तर्हि स्यात्तत्र मनुः—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुरिति कल्पना कर्तनेन समीकरणम् । याज्ञवल्क्यश्च—शुक्लाम्बरधरो नीचकेशश्मश्रुनखः शुचिः । इति ॥ ८ ॥

अकारण दाढी (और नाखून) न बढ़ावे ॥ ८ ॥

नाग्निमपश्च युगपद्धारयेत् ॥ ९ ॥

एकेन हस्तेनाग्निमपरेणापश्च युगपन्न धारयेत्। अत्र व्याघ्रो विशेषमाह—

न धारयेदपश्चाग्निमपश्चान्नं तथैव च।
युगपत्स्नातको नित्यं तद्धार्योऽपि तथैव च ॥ इति ॥ ९ ॥

अग्नि और जल को एक साथ न ले। (अर्थात् एक हाथ में अग्नि और दूसरे हाथ में जल लेकर न चले) ॥ ९ ॥

नाञ्जलिना पिबेत् ॥ १० ॥

यत्किंचित्क्षीरोदकादि पेयमञ्जलिना न पिबेत्। संयुक्तौ हस्तावञ्जलिः ॥ १० ॥

(दूध, जल आदि पेय पदार्थ को) अञ्जलि से न पीये ॥ १० ॥

न तिष्ठन्नुतद्धोदकेनाऽऽचामेत् ॥ ११ ॥

उद्धृतोदकेन तिष्ठन्नाऽऽचामेत्। आसीन एवाऽऽचामेत्। उद्धृतोदकेनेति वचनात्तटाकादिषु तीरप्रदेशस्याशुचित्वे जानुदघ्ने जले तिष्ठतोऽप्याचमनमप्रतिषिद्धम्। आचारोऽप्येवमेव शिष्टानाम् ॥ ११ ॥

लाये गये जल से खड़े होकर आचमन न करे (बैठकर आचमन करे) ॥ ११ ॥

न शूद्राशुच्येकपाण्यावर्जितेन ॥ १२ ॥

शूद्रेण शुचिनाऽप्यस्पृश्यस्पर्शादिदूषितेन द्विजेनाप्येकेन पाणिना च यदावर्जितं तेनोदकेन नाऽऽचामेत्। स्वयं तु वामहस्तावर्जितेनोदकेनाऽऽचमनविषय एकपाण्यावर्जितत्वं समानमिति चेन्न। हस्तद्वयस्याप्याचमनकर्मसंबन्धात्तथा च शिष्टाचारदर्शनात् ॥ १२ ॥

शूद्र के स्पर्श से दूषित द्विज द्वारा एक हाथ से डाले जाने वाले जल से आचमन न करे ॥ १२ ॥

न वाय्वग्निविप्रादित्यापो देवता गाश्च प्रति पश्यन्वा मूत्रपुरीषामेध्यान्व्युदस्येत् ॥ १३ ॥

अप्शब्दान्ते द्वन्द्व आर्षत्वात्समासान्तो न कृतः। अनित्याः समासान्ता इति केषांचित्पक्षः। देवताः प्रतिमाः। वाय्वादीन्प्रति मूत्रादीनि न व्युदस्येत्पश्यन्वा न कुर्यादिति प्रति पश्यन्वेत्यर्थः। प्रति न कुर्यादित्याभिमुख्यवर्जनम्। पश्यन्न कुर्यादिति नियमादाभिमुख्ये सत्यप्यनवलो-

कनम्। मूत्रपुरीषयोः पृथगुपादानादमेध्यशब्देन निष्ठीवनोच्छिष्टादि विवक्षितं तद्धमेध्यशब्देनैवालम्। मूत्रपुरीषग्रहणं तु तयोरतिशयेन वर्जनार्थम्॥ १३॥

वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, जल, देवता, गौ की ओर मुख करके अथवा उन्हें देखते हुए मूत्र और मल का त्याग न करे और न थूक, खकार, उच्छिष्ट फेंके॥ १३॥

नैता देवताः प्रति पादौ प्रसारयेत्॥ १४॥

एता वाय्वाद्या देवताः प्रति पादौ न प्रसारयेत्। पादावित्युपलक्षणं पादं च न प्रसारयेत्। गोषु विप्रेषु च देवतापदप्रयोगस्तद्वदप-चारार्थः॥ १४॥

इन देवताओं (तथा गौ एवं ब्राह्मण) की ओर पैर न फैलावे॥ १४॥

न पर्णलोष्टाश्मभिर्मूत्रपुरीषापकर्षणं कुर्यात्॥ १५॥

न पर्णादिभिर्मूत्रपुरीषयोरपकर्षणमपमार्जनं कुर्यात्। अन्यैस्तु कुर्यादिति॥ १५॥

पत्ते, ढेला और पत्थर से मूत्र और मल न हटाये॥ १५॥

न भस्मकेशनखतुषकपालमेध्यान्यधितिष्ठेत्॥ १६॥

भस्मादीनि नाऽऽक्रामेत्। तुषा व्रीह्यादीनां त्वचः। अन्ये प्रसिद्धाः। तेषामुपरि न तिष्ठेत्। अधितिष्ठेदित्यनेन याद्दच्छिकस्पर्शमात्रे न दोषः॥ १६॥

भस्म, केश, नख, भूसी, कपाल और मेध्य (अपवित्र पदार्थ) पर न बैठे॥ १६॥

न म्लेच्छाशुच्यधार्मिकैः सह संभाषेत॥ १७॥

वर्णाश्रमधर्मरहिते देशे सिंहलद्वीपादौ ये वसन्ति ते म्लेच्छाः। अशु-चय आर्या अपि विहितानि संध्यावन्दनादीनि ये न कुर्वन्ति ते तथोक्ताः। अधार्मिकाः पतितादयस्तैः सह न संभाषेत। संशब्दप्रयोगादेव सिद्धे सहग्रहणं तैः सहैककार्यो भूत्वा न संभाषेतेत्येवमर्थम्। तेन मार्गप्र-श्नादौ न दोषः॥ १७॥

(वर्णाश्रमधर्महीन) म्लेच्छों, (सन्ध्यावन्दन आदि न करने वाले आर्य जाति के ही) अपवित्र व्यक्तियों एवं पतितों के साथ संभाषण न करे॥ १७॥

संभाष्य पुण्यकृतो मनसा ध्यायेत् ॥ १८ ॥

यदि कारणवशात्तैः सह संभाषेत ततः पुण्यकृतो वसिष्ठादीन्मनसा ध्यायेत। मनसेति ध्यानस्वभावानुवादः ॥ १८ ॥

यदि किसी कारण से संभाषण करे तो उसके बाद (वसिष्ठ आदि) पुण्यात्माओं का मन से ध्यान करे ॥ १८ ॥

ब्राह्मणेन वा सह संभाषेत ॥ १९ ॥

प्रकरणाद्ब्राह्मणोऽपि पुण्यकृदेव ॥ १९ ॥

अथवा (म्लेच्छादि से कारणवश भाषण करने के बाद) ब्राह्मण से संभाषण करे ॥ १९ ॥

अधेनुं धेनुभव्येति ब्रूयात् ॥ २० ॥

धेनुः पयस्विनी गौः। अधेनुस्तद्विपरीता। तामपि धेनुभव्येति ब्रूयान्न पुनरधेनुरिति ॥ २० ॥

दूध न देनेवाली गायको 'धेनुभव्या' (भविष्य में दूध देने वाली) कहे ॥ २० ॥

अभद्रं भद्रमिति ॥ २१ ॥

अभद्रमपि वस्तु भद्रमित्येव ब्रूयात् ॥ २१ ॥

अभद्र (वस्तु) को भी भद्र कहे ॥ २१ ॥

कपालं भगालमिति ॥ २२ ॥

कपालं ब्रूवन्भगालमिति ब्रूयात् ॥ २२ ॥

कपाल को 'भगाल' कहे ॥ २२ ॥

मणिधनुरितीन्द्रधनुः ॥ २३ ॥

इन्द्रधनुरिति ब्रुवन्मणिधनुरिति ब्रूयात् ॥ २३ ॥

इन्द्रधनु कहना हो तो 'मणिधनु' कहे ॥ २३ ॥

गां धयन्तीं परस्मै नाऽऽचक्षीत ॥ २४ ॥

धेट् पाने। व्यत्ययेनायं कर्मणि कर्तृप्रत्ययः। वत्सेन धीयमानां गां परस्मै स्वामिने न ब्रूयात्। यस्य हविषे वत्सा अपाकृता धयेयुरित्यादिके निमित्ते त्वाख्यातव्यमेव संसृष्टां च वत्सेनेत्यापस्तम्बीये विशेषात् ॥ २४ ॥

बछड़े को दूध पिलाती हुई गाय की बात दूसरे (गाय के स्वामी) से न कहे ॥ २४ ॥

न चैनां वारयेत् ॥ २५ ॥

न च स्वयमप्येनां वारयेदिति ॥ २५ ॥

और न स्वयं उस गाय को बछड़े से अलग करे ॥ २५ ॥

न मिथुनी भूत्वा शौचं प्रति विलम्बेत ॥ २६ ॥

मिथुनीभूय स्त्रियमुपगम्य शौचं प्रति न विलम्बेत। तत्क्षण एव कुर्यात्। शौचं त्वापस्तम्बेनाभिहितम्—उदकोपस्पर्शनमपि वा लेपान्प्रक्षाल्याऽऽचम्य प्रोक्षणमङ्गानामिति ॥ २६ ॥

गृहस्थ सम्भोग करने के बाद (जलस्पर्श, आचमन आदि) शुद्धिकर्म करने में विलम्ब न करे ॥ २६ ॥

न च तस्मिन्शयने स्वाध्यायमधीयीत ॥ २७ ॥

यस्मिन्मिथुनमाचरितम् ॥ २७ ॥

उसी शय्या पर (जिस पर संभोग किये हो) वेदशास्त्र का अध्ययन न करे ॥ २७ ॥

न चापररात्रमधीत्य पुनः प्रतिसंविशेत् ॥ २८ ॥

यः पूर्वरात्रे सुप्त्वाऽपररात्र उत्थायाधीते। न स पुनः प्रतिसंविशेत्। कालदैर्घ्ये सति पुनर्न स्वप्यात्शेषां रात्रिं जागृयादेवेति पुनर्ग्रहणात्पूर्वरात्रेऽसुप्तस्य स्वापे न दोषः ॥ २८ ॥

आधी रात के बाद निद्रा से उठकर अध्ययन करके फिर (रात्रि शेष रहने पर भी) न सोए ॥ २८ ॥

नाकल्पां नारीमभिरमयेत् ॥ २९ ॥

अकल्पां रोगादिनाऽस्वस्थां नारीं नाभिरमयेत्। नानया मिथुनीभवेत् ॥ २९ ॥

रोग आदि से अस्वस्थ स्त्री के साथ संभोग न करे ॥ २६ ॥

न रजस्वलाम् ॥ ३० ॥

रजस्वलामपि नारीं नाभिरमयेत्। उदक्यागमने त्रिरात्रमिति प्रायश्चित्तं वक्ष्यति तेनैव सिद्धे वचनमिदं त्रिरात्रादूर्ध्वमप्यनिवृत्ते रजसि गमनप्रतिषेधार्थम् ॥ ३० ॥

रजस्वला स्त्री से संभोग न करे ॥ ३० ॥

न चैनां श्लिष्येन्न कन्याम् ॥ ३१ ॥

एनां रजस्वलां कन्यामनूढामपि न श्लिष्येन्नाऽऽलिङ्गेत् ॥ ३१ ॥

इस रजस्वला स्त्री और अविवाहिता कन्या का आलिङ्गन न करे ॥ ३१ ॥

अग्निमुखोपधमनविगृह्यवादबहिर्गन्धमाल्यधारणपापीयसावलेखनभार्यासहभोजनाञ्जन्त्यवेक्षणकुद्वारप्रवेशनपादधावनासन्दीस्थभोजननदीबाहुतरणवृक्षविषमारोहणावरोहणप्राणव्यायच्छनानि वर्जयेत् ॥ ३२ ॥

उपधमनमुपध्मानं नाग्निं मुखेनोपधमेन्न ज्वलयेत्। विगृह्यवादो वाक्कलहः। गन्धमाल्ययोर्बहिर्धारणं प्रकाशधारणमिति। अनाविःस्रगनुलेपनः स्यादित्यापस्तम्बः। पापीयसावलेखनमशुचिना काष्ठादिना शिरःप्रभृतेः कण्डूयनं तृतीयाया अलुक्छान्दसः। भार्यया सह भोजनं भार्यया सहैकस्मिन्भाजने भोजनम्। केपुचिद्देशेष्वाचारात्प्राप्तौ सत्यां निषेधः। अन्ये त्वेकस्मिन्काले भोजनं सहभोजनमिच्छन्ति। अञ्जन्त्यवेक्षणम्। अञ्जन्ती तैलाभ्यङ्गं कुर्वत्यञ्जनादिभिरलंक्रियमाणा वा तस्या अवेक्षणं तच्च भार्याविषयमित्येके स्त्रीमात्रविषयमित्यन्ये। कुद्वारप्रवेशनं द्वारव्यतिरिक्तप्रदेशेन देवालयगृहादेः प्रवेशनमप्रसिद्धमार्गेण नगरग्रामादेः प्रवेशनमिति। यथा चाऽऽपस्तम्बः—न कुसृत्या ग्रामं प्रविशेद्यदि प्रविशेन्नमो रुद्राय वास्तोष्पतय इत्येतामृचं जपेदन्यां वा रौद्रीमिति। पादपादधावनं पादेन पादप्रक्षालनम्। आसन्दीस्थभाजनम्, आसन्दी पीठिका तत्रस्थस्यान्नस्य भोजनमासन्दीस्थभोजनम्। यद्वा यत्राऽऽसीनो भुङ्क्ते तत्राऽऽसने भोजनपात्रं निधाय यद्भोजनं तद्वा। नदीबाहुतरणं बाहुभ्यां नद्या स्तरणं पारगमनम्। बाहुतरणात्प्लवादौ न दोषः। नदीग्रहणं तडागादीनामप्युपलक्षणम्। वृक्षविषमारोहणावरोहणे वृक्षस्याऽऽरोहणं विषमस्य कूपादेरवरोहणं च। वृक्षविषमग्रहणेनात्युन्नतनिम्नस्थलं लक्ष्यते। प्राणव्यायच्छनं प्राणोपरोध्युल्लङ्घनजलयन्त्राद्यधिरोहणम्। एतान्यग्निमुखोपधमनादीनि वर्जयेत् ॥ ३२ ॥

मुँह से अग्नि जलाना, वाक्कलह, गन्ध और माला को बाहर धारण करना, अपवित्र काष्ठ आदि से शिर आदि खुजलाना, पत्नी के साथ एक ही थाली में या एक ही समय पर भोजन करना, अञ्जन (स्नान या शृङ्गार) करती हुई स्त्री को निहारना, मन्दिर, घर या ग्राम में प्रसिद्ध मार्ग को छोड़कर किसी अन्य

मार्ग से प्रवेश करना, पैर से पैर धोना, बैठने के आसन पर रखे हुए अन्न का भोजन (अथवा जिस आसन पर बैठकर भोजन करना चाहिए उस पर भोजन रखकर खाना), बाहुओं से तैरकर नदी (तालाब आदि) पार करना, वृक्ष पर और ऊँची-नीची भूमि पर चढ़ना उतरना, और प्राणसंकट से युक्त कर्म करना—इन सबका त्याग करे ॥ ३२ ॥

न संदिग्धां नावमधिरोहेत् ॥ ३३ ॥

पारगमने संदिग्धामसमर्थां नावं नाधितिष्ठेत् ॥ ३३ ॥

जिस नाव के पार पहुँचने में सन्देह हो उस पर न चढ़े ॥ ३३ ॥

प्रतिपदपाठस्याशक्यत्वात्संक्षिप्याऽऽह—

सर्वत एवाऽऽत्मानं गोपायेत् ॥ ३४ ॥

सर्वेभ्य उपायेभ्य आत्मानं रक्षयेत्। एको न गच्छेदध्वानमित्यादिभ्यः ॥ ३४ ॥

सभी उपायों से अपनी रक्षा करे ॥ ३४ ॥

न प्रावृत्य शिरोऽहनि पर्यटेत् ॥ ३५ ॥

प्रावृत्याऽऽशिरसो दिवा चङ्क्रमणप्रतिषेधः। आसीनस्य यथारुचि। मार्गे वर्षातपादिबाधे प्रावृत्यापि चङ्क्रमणे न दोषः। सर्वत एवाऽऽत्मानं गोपायेदित्युक्तत्वाद् ॥ ३५ ॥

दिन में सिर ढककर (सिर तक ढककर) न घूमे ॥ ३५ ॥

प्रावृत्य रात्रौ ॥ ३६ ॥

रात्रौ तु शिरः प्रावृत्यैव पर्यटेत् ॥ ३६ ॥

रात्रि में सिर ढककर ही घूमे ॥ ३६ ॥

मूत्रोच्चारे च ॥ ३७ ॥

मूत्रणं मूत्र उच्चारः पुरीषकर्म तयोः समाहारद्वंद्वः। तत्र च शिरः प्रावृत्य प्रावृतशिराः कर्म कुर्यादिति शेषः ॥ ३७ ॥

मूत्र और मल त्याग के समय सिर ढका रखे ॥ ३७ ॥

न भूमावनन्तर्धाय ॥ ३८ ॥

मूत्रपुरीषकर्मणी भूमौ तृणादिभिरन्तर्धायैव कुर्यात्। अयज्ञियैस्तृणैरिति स्मृत्यन्तरे ॥ ३८ ॥

मूत्र और पुरीष कर्म भूमि (अयज्ञिय) तृणों से छिपाये बिना न करे ॥ ३८ ॥

नाऽऽराच्चाऽऽवसथात् ॥ ३९ ॥

आवसथो गृहम् । तत्समीपे न कुर्याद् ॥ ३९ ॥

घर के निकट मल-मूत्र का त्याग न करे ॥ ३९ ॥

न भस्मकरीषकृष्टच्छायापथिकाम्येषु ॥ ४० ॥

करीषं गोमयम् । छायोपजीव्याः पथिकादयो यत्र विश्राम्यन्ति । काम्यं कमनीयः प्रदेशः । भस्मादिष्वेतेषु मूत्रपुरीषकर्मणी न कुर्यात् ॥४०॥

भस्म, गोबर, पथिकों के विश्राम योग्य छायादार मार्ग तथा मनोरम स्थान पर मूत्र और मल का त्याग न करे ॥ ४० ॥

उभे मूत्रपुरीषे तु दिवा कुर्यादुदङ्मुखः ॥ ४१ ॥

मूत्रपुरीषे दिवा चेदुदङ्मुख एव कुर्यात् ॥ ४१ ॥

मूत्र और पुरीष दोनों ही कर्म दिन में उत्तर की ओर मुख करके करे ॥ ४१ ॥

संध्ययोश्च ॥ ४२ ॥

उदङ्मुखः कुर्यादिति ॥ ४२ ॥

दोनों सन्ध्या कालों में भी (उत्तर की ओर मुख करके मूत्र और पुरीष करे) ॥ ४२ ॥

रात्रौ दक्षिणामुखः ॥ ४३ ॥

स्पष्टम् ॥ ४३ ॥

रात्रि में दक्षिण दिशा की ओर मुख करके मूत्र और पुरीष करे ॥ ४३ ॥

पालाशमासनं पादुके दन्तधावनमिति च वर्जयेत् ॥ ४४ ॥

इतिकारा [दा] द्यर्थोद्यच्चान्यदेवं युक्तं रथादि तदपि पालाशं वर्जयेत् । अत्र पठन्ति—

आसनं शयनं यानं गृहोपकरणं तथा ।
वर्जयेत्पादुकां चैव पालाशं दन्तधावनम् ॥ इति ॥ ४४ ॥

पलाश के बने आसन, खड़ाऊँ, दातौन (और रथ आदि शयन तथा गृहोपकरण) का प्रयोग न करे ॥ ४४ ॥

सोपानत्कश्चाऽऽसनाभिवादननमस्कारान्वर्जयेत् ॥ ४५ ॥

अभिवादनं पूर्वोक्तं, नमस्कारो देवताप्रणामः । अभिवादनादीनि सोपानत्को न कुर्यात् । उपानद्ग्रहणं पादुकादेरप्युपलक्षणम् ॥ ४५ ॥

जूता (और पादुका आदि) पहने हुए आसन पर न बैठे, अभिवादन और नमस्कार न करे ॥ ४५ ॥

न पूर्वाह्णमध्यंदिनापराह्णानफलान्कुर्याद्यथाशक्ति धर्मार्थकामेभ्यः ॥ ४६ ॥

तृतीयार्थे चतुर्थी पञ्चमी वा । पूर्वाह्णादीनह्नस्त्रीन्भागान्धर्मादिभिस्त्रिभिर्यथाशक्त्यफलान्न कुर्यात् किं तर्हि सफलानेव कुर्याद्यथासंख्यम् ॥ ४६ ॥

पूर्वाह्ण, मध्याह्न और सायंकाल को क्रमशः धर्म, अर्थ और काम को निष्फल न करे (अर्थात् धर्म, अर्थ और काम को सफल बनावे) ॥ ४६ ॥

तेषु तु धर्मोत्तरः स्यात् ॥ ४७ ॥

तुशब्दोऽनवस्थां परिहरति । तेषु धर्मार्थकामेषु धर्मोत्तरः स्याद्धर्मप्रधानः स्यात् । धर्माविरोधेनार्थकामौ सेवेतेति । तथा च मनुः—

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ । इति ॥ ४७ ॥

उन (धर्म, अर्थ और काम) में धर्म प्रधान होना चाहिए (अर्थात् धर्म के विरुद्ध अर्थ और काम का सेवन न करे) ॥ ४७ ॥

न नग्नां परयोषितमीक्षेत ॥ ४८ ॥

परा चासौ योषिच्च परयोषित् । अन्यथा विधवानूढावेश्यादयो न स्युः । तां नग्नां सतीं नेक्षेत ॥ ४८ ॥

दूसरे की स्त्री को नग्न न देखे ॥ ४८ ॥

न पदाऽऽसनमाकर्षेत् ॥ ४९ ॥

पादेनाऽऽसनमात्मसमीपं न प्रापयेत् ॥ ४९ ॥

पैर से आसन को (अपने निकट) न खींचे ॥ ४९ ॥

न शिश्नोदरपाणिपादवाक्चक्षुश्चापलानि कुर्यात् ॥ ५० ॥

चापलशब्दः प्रत्येकं संबध्यते । शिश्नचापलमकाले मैथुनेच्छा । उदरचापलं सर्वदा बिभक्षयिषा । पाणिचापलं शिल्पकर्मशिक्षाभिलाषः । पादचापलं पर्यटनम् । वाक्चापलं नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छत इत्येतदतिक्रमेण व्यवहारः । चक्षुश्चापलं नृत्यादिदिदृक्षा । एतानि न कुर्यात् ॥ ५० ॥

लिंग की (अनुचित समय में संभोग आदि से), उदर की (अधिक भोजन

की इच्छा से), हाथ की (शिल्पकर्म शिक्षा की इच्छा से), पैर की (घूमने से), वाणी की (अधिक बोलने से), और नेत्र की (नृत्य आदि देखने की इच्छा से) चपलता न करे ॥ ५० ॥

छेदनभेदनविलेखनविमर्दनावस्फोटनानि नाकस्मात् कुर्यात् ॥ ५१ ॥

छेदनं तृणादीनाम् । भेदनं घटादेः । विलेखनं कुड्यभूम्यादौ नखादिभिर्विलेखनम् । विमर्दनं लोष्टादीनां चूर्णीकरणम् । अवस्फोटनमङ्गुलीनां सशब्दं प्रसारणम् । एतदकस्मान्न कुर्यात् । कारणे त्ववस्फोटनादिषु न दोषः । छेदनादिष्वपि यथासंभवं मृग्यम् ॥ ५१ ॥

(तृण आदि का) छेदन, (घड़े आदि का) फोड़ना, (दीवाल या पृथ्वी आदि पर नख आदि से) लिखना, ढेले आदि को फोड़ना, अंगुली चटकाना— ये सब कार्य अकारण न करे ॥ ५१ ॥

नोपरि वत्सतन्तीं गच्छेत् ॥ ५२ ॥

वत्सबन्धनो रज्जुर्वत्सतन्ती । तामुपरि न गच्छेत् । वत्सशब्दो गोजातेरुपलक्षणम् ॥ ५२ ॥

बछड़े (गौ आदि) के पगहे के ऊपर से न जाए ॥ ५२ ॥

न कुलंकुलः स्यात् ॥ ५३ ॥

कुलमेव कुलं यस्य स कुलंकुलः । छान्दसो मुमागमः । एवंविधो न स्यात् । अन्यत्र गमनेऽध्ययनादिलाभे सति स्वकुल एव न तिष्ठेदिति । अपर आह—कुलात्कुलान्तरगामी कुलंकुलो दत्तादिरूपेण तथाविधो न स्यात् । स्वसूत्रपरित्यागेन परसूत्रं न भजेदिति । तत्र स्मृत्यन्तरम्—

यः स्वसूत्रं परित्यज्य परसूत्रं निषेवते ।
शाखारण्डः स विज्ञेयः सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥ इति ॥ ५३ ॥

(अन्यत्र जाकर अध्ययन करना संभव हो तो) अपने कुल में ही न पड़ा रहे अथवा दत्तक होकर एक कुल से दूसरे कुल में ही न भटकता रहे । अथवा अपने सूत्र का परित्याग करके दूसरे के सूत्र को न अपनाए ॥ ५३ ॥

न यज्ञमवृतो गच्छेत् ॥ ५४ ॥

अवृतोऽनुपामन्त्रितो यज्ञं न गच्छेत् ॥ ५४ ॥

आमन्त्रित न होने पर यज्ञ में (भाग लेने) न जाए ॥ ५४ ॥

दर्शनाय तु कामम् ॥ ५५ ॥

अवृतोऽपि कामं दर्शनाय यज्ञं गच्छेत्। न त्वार्त्विज्यादिलिप्सया ॥५५॥

यज्ञ देखने के लिए तो आमन्त्रित न होने पर भी अपनी इच्छा से जा सकता है ॥ ५५ ॥

न भक्षानुत्सङ्गे भक्षयेत् ॥ ५६ ॥

भक्षाः पृथुकादयस्तानुत्सङ्गे कृत्वा न भक्षयेत ॥ ५६ ॥

(पृथुक आदि) खाने की वस्तुएँ गोदी में या आंचल में रखकर न खाए ॥ ५६ ॥

न रात्रौ प्रेष्याहृतम् ॥ ५७ ॥

रात्रौ प्रेष्येण किंकरेण यदानीतं तद्यत्किंचिदपि न भक्षयेत्। न भक्षानेव। एकवचननिर्देशात् ॥ ५७ ॥

रात्रि में सेवक द्वारा लाई गई किसी भी वस्तु का भोजन न करे ॥ ५७ ॥

उद्धृतस्नेहविलपनपिण्याकमथितप्रभृतीनि चाऽऽत्तवीर्याणि नाश्नीयात् ॥ ५८ ॥

आत्तवीर्याण्युपात्तसारांशानि नाश्नीयात। कानि पुनस्तानि तेषामुदाहरणप्रपञ्चः। उद्धृतस्नेहे उपात्ताग्रमण्डे दधिपयसी। विलपनं नवनीतमलम्। यन्त्रे पीडितानां तिलानां कल्कः पिण्याकम्। यस्य मथनमात्रं नाम्बुसंसर्गस्तदपि मथितम्। यथाहुर्नैघण्टिकाः—

तक्रं ह्युदश्विन्मथितं पादाम्ब्वर्धाम्बु निर्जलम्। इति।

तच्च द्विविधम्। आत्तनवनीतमितरच्च। तत्राऽऽद्यस्येह ग्रहणं तद्ध्यात्तवीर्यस्योदाहरणम्। प्रभृतिग्रहणेन यच्चान्यदेवंविधं कल्करूपं तस्य ग्रहणम्। उद्धृतनवनीतं तक्रमाश्यमनाश्यमिति चिन्त्यम्। आचारस्त्वशनमेव। अभक्ष्यप्रकरणे वक्तव्य इह वचनात्स्नातकव्रतलोपे यत्प्रायश्चित्तं तदेवैषामशने भवति नाभक्ष्यभक्षणनिमित्तम् ॥ ५८ ॥

जिन वस्तुओं का रस निकाल लिया गया हो ऐसी वस्तुओं, मक्खन निकाले गये दधि और दूध, तिल की खली, केवल मथे गए दूध और दही तथा इस प्रकार के अन्य निःसार पदार्थों को न खाए ॥ ५८ ॥

सायंप्रातस्त्वन्नमभिपूजितमनिन्दन्भुञ्जीत ॥ ५९ ॥

तुशब्दस्त्ववधारणे। सायं रात्रिः प्रातरहस्तयोर्द्वयोरेककालयोरशनं भुञ्जीत। नान्तरेति प्राप्तस्य भोजनस्य परिसंख्येयम्। तत्र गुणविधिरभि-

पूजितमनिन्दन्निति। अभिपूजितं रोचत इति। अनिन्दन्कदन्नत्वादिदोषेणाकुत्सयन्। सायं प्रातरशनान्यभिपूजयेदिति वसिष्ठः ॥ ५९ ॥

सायंकाल (अर्थात् रात्रि में) और प्रातःकाल (अर्थात् दिन में) अन्न की पूजा करके (अर्थात् प्रसंसा करते हुए, और उसकी निन्दा न करते हुए भोजन करे ॥ ५९ ॥

न कदाचिद्रात्रौ नग्नः स्वपेत् ॥ ६० ॥

सुप्याद्रात्रौ न तु नग्नः स्वपेत्। तदेवं रात्रौ नग्नस्य स्वापप्रतिषेधो दिवा तु सर्वथेति। कदाचिद्ग्रहणादिदं लभ्यते। अन्यथा रात्रौ न नग्नः स्वपेदित्येव वाच्यं स्यात् ॥ ६० ॥

कभी भी रात्रि में नग्न होकर न सोए ॥ ६० ॥

स्नायाद्वा ॥ ६१ ॥

न नग्न इत्येव। नग्नो जलं नावतरेदिति स्मृत्यन्तरम् ॥ ६१ ॥

नग्न होकर स्नान भी न करे ॥ ६१ ॥

आनन्त्यादाचाराणां प्रतिपदपाठो न शक्य इति संक्षिप्याऽऽह—

यच्चाऽऽत्मवन्तो वृद्धाः सम्यग्विनीता दम्भलोभमोहवियुक्ता वेदविद आचक्षते तत्समाचरेत् ॥ ६२ ॥

आत्मवन्तो जितेन्द्रियाः। वृद्धाः परिणतवयसो यौवने विषयवश्यतासंभवात्। सम्यग्विनीता गुरुभिः शिक्षिताः। दम्भो धर्मच्छलेन लोकवञ्चनम्। लोभोऽन्यायेन परद्रव्यादित्सा। मोहोऽज्ञानं लोकविरुद्धज्ञानं वा तेन त्यक्ताः। वेदविदः पाठतश्चार्थतश्च वेदानां चोदितारः। अत्र वृद्धा इति विशेष्यम्। एवंभूता वृद्धा यदाचक्षते तत्कर्तव्यमिति। बहुवचननिर्देशाद्बहूनामैकमत्ये तद्भवति ॥ ६२ ॥

जितेन्द्रिय, वयोवृद्ध, भलीभाँति शिक्षा प्राप्त किये हुए, दम्भहीन, लोभरहित, अज्ञान से मुक्त तथा वेद के ज्ञाता व्यक्ति जैसा कहें उसके अनुसार आचरण करना चाहिए ॥ ६२ ॥

योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत् ॥ ६३ ॥

अलब्धस्य लाभो योगः। लब्धस्य परिपालनं क्षेमः। तदर्थमीश्वरं राजानमधिगच्छेत्। अधिशब्दप्रयोगादधिरैश्वर्य इत्यस्मादकार्पण्येन स्वतन्त्रो गच्छेदिति ॥ ६३ ॥

योग (न प्राप्त हुई वस्तु के लाभ) तथा क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा) के लिए राजा के निकट जाना चाहिए ॥ ६३ ॥

नान्यमन्यत्र देवगुरुधार्मिकेभ्यः ॥ ६४ ॥

अन्यं राजव्यतिरिक्तं योगक्षेमसमर्थमपि नाधिगच्छेदित्यनुवादः। देवा इन्द्रादयः। गुरवः पित्रादयः। धार्मिका धर्माचरणशीलाः। एतेभ्योऽन्यत्र। एतानधिगच्छेद्देवेति ॥ ६४ ॥

देवता, (पिता आदि) गुरुजन तथा धार्मिक लोगों के अतिरिक्त अन्य किसी के निकट (राजा को छोड़कर) योगक्षेम के लिए न जाए ॥ ६४ ॥

प्रभूतैधोदकयवसकुशमाल्योपनिष्क्रमणमार्यजनभूयिष्ठमनलससमृद्धं धार्मिकाधिष्ठितं निकेतनमावसितुं यतेत ॥ ६५ ॥

एधः काष्ठमुदकं स्नानपानयोग्यं यवसं तृणानि गवार्थम्। कुशाः प्रसिद्धाः। माल्यानि पुष्पाणि देवाद्यर्चनार्थम्। उपनिष्क्रम्यते यत्र तदुपनिष्क्रमणं बहिरवकाशः संचाराद्यर्थम्। एवमादीनि प्रभूतानि यत्र। आर्यास्त्रैवर्णिकास्त एव जनास्तैर्भूयिष्ठं व्याप्तम्। अलसाः कृत्येषु निरुद्यमास्तद्वपरीता अनलसास्तैः समृद्धम्। धार्मिका धर्मशीलास्तैरधिष्ठातृभिरधिष्ठितम्। एवंभूतं निकेतनमावसितुं यतेत। एवंभूते स्थाने यत्नेनापि वसेदिति ॥ ६५ ॥

प्रचुर इंधन, जल, (गौ आदि के खाने योग्य) घास, कुश, पुष्प, निष्क्रमण के योग्य स्थान वाले, आर्यों (द्विजों) से व्याप्त, उद्यमी (परिश्रमी, आलस्यहीन) व्यक्तियों से समृद्ध तथा धार्मिक पुरुषों द्वारा अधिष्ठित स्थान पर निवास करने का प्रयत्न करे ॥ ६५ ॥

प्रशस्तमङ्गल्यदेवतायतनचतुष्पदं प्रदक्षिणमावर्तेत ॥ ६६ ॥

निर्गमनप्रवेशादिषु यथा ते दक्षिणपार्श्वे भवन्ति तथा कुर्यादिति ॥ ६६ ॥

पूज्य, माङ्गलिक वस्तु, देवमन्दिर और चतुष्पथों को दाहिने करके प्रदक्षिणा करके चले ॥ ६६ ॥

मनसा वा तत्समग्रमाचारमनुपालयेदापत्कल्पः ॥ ६७ ॥

संभवे तु साक्षादनुष्ठानमेवेति ॥ ६७ ॥

आपत्काल में मन से ही उन आचारों का पालन करे ॥ ६७ ॥

सत्यधर्मा ॥ ६८ ॥

सत्यवचनस्वभावः। स्यादिति वक्ष्यमाणमपेक्ष्यते ॥ ६८ ॥

सत्यवचन और सत्यस्वभाव वाला हो ॥ ६८ ॥

आर्यवृत्तः ॥ ६९ ॥

पूर्वभाषी प्रियंवद इत्याद्यार्याणां वृत्तमिव वृत्तं यस्य स तथा। उष्ट्रमुखवन्मध्यमपदलोपः ॥ ६९ ॥

आर्यों की वृत्ति का आचरण करे ॥ ६९ ॥

शिष्टाध्यापकः ॥ ७० ॥

सतामध्यापयिता न त्वयोग्यानाम् ॥ ७० ॥

सज्जन को (अर्थात् योग्य व्यक्ति को) ही शिक्षा प्रदान करे ॥ ७० ॥

शौचशिष्टः ॥ ७१ ॥

शिष्टं शास्त्रविहितं शौचं यस्यास्ति स तथा। निष्ठान्तस्य परनिपातः। शास्त्रविहितेन शौचेन तद्वान् । शौचस्य पुनः पुनर्वचनं तात्पर्यार्थम् ॥ ७१ ॥

शास्त्रविहित शौच नियमों का पालन करे ॥ ७१ ॥

श्रुतिनिरतः स्यात् ॥ ७२ ॥

वेदाभ्यासरतः ॥ ७२ ॥

वेद के अध्ययन में रत रहे ॥ ७२ ॥

नित्यमहिंस्रो मृदुर्दृढकारी दमदानशीलः ॥ ७३ ॥

नित्यं निमित्ते सत्यप्यहिंस्रोऽहिंसाशीलः । मृदुः कृतापराधेऽपि सहकः। दृढकारी प्रारब्धस्य समापयिता न प्राक्रमिकः। दम इन्द्रियनिग्रहः। दानं संविभागः। तच्छीलः स्यादिति सर्वत्रापेक्ष्यते ॥ ७३ ॥

नित्य अहिंसाशील, मृदु अर्थात् सहिष्णु या क्षमाशील, दृढ निश्चयी, संयमी और दानशील हो ॥ ७३ ॥

एवमाचारो मातापितरौ पूर्वापरांश्च सम्बन्धान्दुरितेभ्यो मोचयिष्यन्स्नातकः शश्वद्ब्रह्मलोकान्न च्यवते न च्यवते ॥७४॥

एवमुक्तप्रकार आचारो यस्य स एवमाचारः। एवंभूतः स्नातको मातापितरौ पूर्वसंबन्धाः पितामहादयः। अपरसंबन्धाः पुत्रादयः। तांश्च पूर्वापरसंबन्धान्दुरितेभ्यः पापेभ्यो मोक्षयिष्यन्ये पूर्वं भूतास्तांस्तदैव नरकादिभ्यो मोचयति ये तु भविष्यन्तः पुत्रादयस्तांश्च मोक्षयिष्यन्। सप्रत्ययस्यार्थो मृग्यः (?)। मोचयिष्यन्भवति। स एवंभूतः स्नातकः

शाश्वद्बहुकालं ब्रह्मलोकान्न च्यवते। द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था। पुनः स्नातकग्रहणं स्नातकधर्माणामेवैतत्फलं न गृहस्थधर्मसहितानामित्येवमर्थम् ॥ ७४ ॥

इस प्रकार आचरण करने वाला स्नातक अपने माता-पिता, उनके पूर्व के पितामह, मातामह आदि और बाद के पुत्र पौत्र आदि संबन्धियों को पापों से मुक्त करता हुआ चिरकाल तक ब्रह्मलोक से च्युत नहीं होता है (अर्थात् अनन्त काल तक ब्रह्मलोक में निवास करता है) ॥ ७४ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां

नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

प्रथमः प्रश्नः समाप्तः ।

अथ द्वितीये प्रश्ने प्रथमोऽध्यायः

उक्ताः प्रायश आश्रमधर्माः । अथ वर्णधर्मानाह—

द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम् ॥ १ ॥

यथासंख्यमत्र न भवति । उत्तरत्राधिकग्रहणात्तत्रैव वक्तव्यं भविष्यति । अध्ययनं वेदग्रहणाभ्यासरूपम् । इज्या यागो देवपितृपूजा । दानं पात्रे द्रव्यत्यागः । द्विजातीनामिति वचनाद्यदा द्विजातयः सपन्नाः कृतोपनयनास्तत आरभ्यैते धर्माः । तेनानुपनीतानां दानेऽप्यधिकारो नास्तीति केचित् । नेति च वयम् । द्विजातीनामित्युपलक्षणं येषां द्विजातिर्जन्म तेषामिति । तेनानुपनीतस्याप्यर्थवतो हितैषिभिः प्रवर्तितस्य दानं भवत्येव ॥ १ ॥

द्विजातियों (उपनीत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) के धर्म (वेद के ग्रहण एवं अभ्यास के रूप में) अध्ययन, यजन तथा दान हैं ॥ १ ॥

ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः ॥ २ ॥

प्रवचनमध्यापनम् । याजनमार्त्विज्यम् । प्रतिग्रहः प्रसिद्धः । एते ब्राह्मणस्याधिकाः पूर्वेभ्योऽध्ययनादिभ्यः । ते चामी च समुच्चिता इत्युक्तं भवति । अत्राप्यनुपनीतस्यापि प्रतिग्रहो भवति । याजनाध्यापने त्वसंभवान्न भवतः । ब्राह्मणस्य प्रवचनयाजनप्रतिग्रहा इत्येव सिद्धेऽधिकग्रहणं पूर्वत्र यथासंख्यं मा भूदिति पूर्वे तावदवस्थिताः ॥ २ ॥

अध्यापन, यज्ञ कराना और दान लेना—ये तीन धर्म अन्य द्विजातियों (उपनीत क्षत्रिय और वैश्य) की अपेक्षा ब्राह्मण के अधिक होते हैं ॥ २ ॥

पूर्वेषु नियमस्तु ॥ ३ ॥

नियमोऽवश्यकर्तव्यता । पूर्वाण्यध्ययनादीन्यवश्यकर्तव्यानि । अकुर्वन्प्रत्यवैति कुर्वंश्चाभ्युदेति । प्रवचनादीनि तु वृत्त्यर्थानि । अतोऽकरणे न प्रत्यवायः करणे नाभ्युदयः ॥ ३ ॥

इनमें पूर्ववर्ती अध्ययन, यजन और दान तो (ब्राह्मण के) अनिवार्य कर्तव्य होते हैं । (इनके न करने से प्रत्यवाय दोष होता है और करने से अभ्युदय की सिद्धि होती है; शेष तीन अध्यापन, याजन और दानग्रहण वृत्ति के लिये निर्धारित कर्म हैं अतः अनिवार्य नहीं होते) ॥ ३ ॥

आचार्यज्ञातिप्रियगुरुधनविद्यानियमेषु ब्रह्मणः संप्रदान-मन्यत्र यथोक्तात् ॥ ४ ॥

ब्रह्म वेदः । तस्य संप्रदानं सम्यक्प्रदानम् । अनुज्ञात उपविशेदित्यारभ्य शुश्रूषवोऽध्याप्या इत्युक्तं स यथोक्तो नियमः । तस्मादन्यत्र विनाऽपीति तेनाऽऽचार्यादिभ्यो ब्रह्म प्रदेयमित्युच्यते । आचार्य उक्तः । ज्ञातयो भ्रातृपितृव्यादयः । प्रियः सखा । गुरवो मातुलादयः । एतेषु ब्रह्म सम्यक्प्रदेयम् । तथा धनविद्यानियमेषु । धनेन विद्यायाः परिवर्तनं धननियमः । विद्यान्तरेण परिवर्तनं विद्यानियमः । तेष्वपि ब्रह्म संप्रदेयम् । धनविद्यानियमोऽपि योग्यविषय एव । शिष्टाध्यापक इत्युक्तत्वात् । न च तस्याप्ययमपवादः । यथावद्ग्रहणविधिनाऽध्ययनमुक्त (क्तं त)स्यैवायमपवाद इति ॥ ४ ॥

आचार्य, बन्धु बान्धव (भाई, पितृव्य आदि), प्रियजन, मामा आदि गुरुजनों को तथा धन और विद्या के बदले में वेद का सम्यक् अध्यापन किया जा सकता है; इसके अतिरिक्त जैसा पहले कहा जा चुका है उसके अनुसार ही वेद की शिक्षा देनी चाहिए ॥ ४ ॥

कृषिवाणिज्ये वाऽस्वयंकृते ॥ ५ ॥

कृषिः कर्षणेन सस्योत्पादनं वाणिज्या क्रयविक्रयव्यवहारः । ते च ब्राह्मणस्याधिके यद्यस्वयंकृते । अन्येन कारयितुं शक्येते ॥ ५ ॥

अथवा यदि खेती और वाणिज्य (क्रय-विक्रय) ब्राह्मण स्वयं (अपने हाथों से) न करके किसी दूसरे द्वारा कराता है तो वह इन कर्मों को भी कर सकता है ॥ ५ ॥

कुसीदं च ॥ ६ ॥

कुसीदमुपचयार्थो धनप्रयोगः । तदप्यस्वयंकृतं चेद्ब्राह्मणस्याधिकम् ॥ ६ ॥

व्याज पर धन देने का कार्य भी दूसरों के द्वारा ब्राह्मण कर सकता है ॥६॥

राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् ॥ ७ ॥

राज्ञोऽभिषिक्तस्य सर्वभूतानां रक्षणमधिकम् । सर्वग्रहणात्स्थावरादीनामप्यश्वत्थादीनां छेदननिरोधेन ॥ ७ ॥

अभिषिक्त राजा का (अन्य द्विजातियों—ब्राह्मण और वैश्य की अपेक्षा अधिक धर्म है सभी प्राणियों की (और स्थावर वृक्षों की भी) रक्षा का कार्य ॥ ७ ॥

न्याय्यदण्डत्वम् ॥ ८ ॥

न्यायादनपेतो न्याय्यः शास्त्राविरुद्धो दण्डो यस्य तद्भावो न्याय्य-दण्डत्वम् । न्यायदण्डत्वमित्यपि पाठ एष एवार्थः । स च राज्ञो धर्मः । रागद्वेषादिना न न्यूनाधिकदण्डः स्यादिति ॥ ८ ॥

न्यायपूर्वक (अर्थात् शास्त्रानुसार) दण्ड देना भी राजा का धर्म है ॥ ८ ॥

बिभृयाद्ब्राह्मणाञ्श्रोत्रियान् ॥ ९ ॥

श्रोत्रिया अधीतवेदास्तान्ब्राह्मणानन्नादिदानेन बिभृयात् ॥ ९ ॥

राजा को श्रोत्रिय (वेद के विद्वान्) ब्राह्मणों का भरण पोषण करना चाहिये ॥ ६ ॥

निरुत्साहांश्च ब्राह्मणान् ॥ १० ॥

जीवनार्थमुत्साहं कर्तुमसमर्था निरुत्साहास्तान्ब्राह्मणानपि बिभृयात् । किं पुनर्ब्राह्मणान् । पूर्वसूत्रे सर्जने समर्थानपि श्रोत्रियान्सममाहूय बिभृयादिति ॥ १० ॥

जीविका के लिए उद्योग करने में असमर्थ ब्राह्मणों का भी पालन-पोषण (राजा को) करना चाहिए ॥ १० ॥

अकरांश्च ॥ ११ ॥

ये पूर्वैर्दत्ता अकरा ब्राह्मणादिभ्यस्तांश्च यथापूर्वं बिभृयाद्बाधकादि-निरासेन । स्वयं च नापूर्वं करमुत्पादयेदिति ॥ ११ ॥

जो ब्राह्मण पहले कर से मुक्त किये गये हों उनका भी पालन करे अर्थात् उनसे कर न ले ॥ ११ ॥

उपकुर्वाणांश्च ॥ १२ ॥

अधीयाना ब्रह्मचारिण उपकुर्वाणास्तांश्च बिभृयादन्नादिदानेन । यद्यर्थिनः स्वयं जीवितवन्तो वनसूकरादिव्यावर्तनेन । अपर आह—उप-कुर्वाणा लोकोपकुर्वाणा वैद्यादय इति ॥ १२ ॥

अध्ययनरत ब्रह्मचारियों का भी पोषण करे अथवा लोकोपकार करने वाले वैद्यों का भी पोषण करे ॥ १२ ॥

योगश्च विजये ॥ १३ ॥

योग उपायो विजयविषयश्च योगः कार्यः । अयमपि राज्ञोऽधिको धर्म इति ॥ १३ ॥

विजय के लिए उपाय करे यह भी अन्य द्विजातियों की अपेक्षा राजा का एक अधिक धर्म है ॥ १३ ॥

भये विशेषेण ॥ १४ ॥

अन्याभिभवादिनिमित्ते विशेषेण योगः कार्यः ॥ १४ ॥

दूसरे शत्रु आदि से भय होने पर विशेष रूप से उपाय करे ॥ १४ ॥

चर्या च रथधनुर्भ्याम् ॥ १५ ॥

चरणं चर्या । बहिःप्रदेशे चरन्रथमारूढो धनुर्हस्तश्च चरेत् । रथग्रहणं हस्त्यश्वादेरुपलक्षणं धनुर्ग्रहणं च खड्गादेः ॥ १५ ॥

रथ पर आरूढ होकर और हाथ में धनुष लेकर विचरण करे ॥ १५ ॥

सङ्ग्रामे संस्थानमनिवृत्तिश्च ॥ १६ ॥

संग्रामो युद्धं तत्र संस्थानं प्राणात्ययः । निवृत्तिः पलायनं तदभावोऽनिवृत्तिः । एतौ च राज्ञोऽधिकौ धर्मौ ॥ १६ ॥

युद्ध में सम्मुख स्थित रहना (तथा प्राण त्याग देना) और पलायन न करना भी (अन्य द्विजातियों की अपेक्षा राजा के अधिक धर्म हैं) ॥ १६ ॥

न दोषो हिंसायामाहवे ॥ १७ ॥

यत्र परस्परमाह्वयन्ते स आहवः । तादृशे युद्धे शत्रूणां हिंसायामपि न दोषः । नित्यमहिंस्र इत्यस्यायमपवादः ॥ १७ ॥

युद्ध में शत्रुओं की हिंसा करने में कोई दोष नहीं होता ॥ १७ ॥

अन्यत्र व्यश्वसारथ्यायुधकृताञ्जलिप्रकीर्णकेशपराङ्मुखोपविष्टस्थलवृक्षाधिरूढदूतगोब्राह्मणवादिभ्यः ॥ १८ ॥

विशब्दश्च त्रिभिः संबध्यते । व्यश्वो विसारथिर्व्यायुध इति यस्याश्वो हतः स व्यश्वः । यस्य सारथिर्हतः स विसारथिः । यस्याऽऽयुधं कृत्तं पतितं वा स व्यायुधः । कृताञ्जलिर्भयेन । प्रकीर्णकेशः केशानपि नियन्तुमक्षमः । पराङ्मुखो भयेन पृष्ठीकृत्य पलायमानः । उपविष्टः पलायितुमप्यसमर्थ आसीनः । स्थलवृक्षाधिरूढः । स्थलमुन्नतप्रदेशस्तं वृक्षं वाऽऽरूढः । दूतो वार्ताहरः । गौरस्मि ब्राह्मणोऽस्मीति ये वदन्ति ते गोब्राह्मणवादिनः । एतेभ्योऽन्यत्राऽऽहवे हिंसायां न दोषः । एतेषु दोष इति ॥ १८ ॥

बिना घोड़े वाले, बिना सारथि वाले, बिना अस्त्रों वाले, (भय से) हाथ जोड़ने वाले, बिखरे हुए केशों वाले (अर्थात् जो केशों को भी संभालने में

असमर्थ हों) भय से पीठ दिखाकर भागने वाले, (भागने में असमर्थ होने से) अशक्त होकर बैठे हुए, (छिपने के लिये भय से) ऊँचे स्थान और वृक्ष पर चढ़े हुए को, दूत को, तथा अपने को गौ या ब्राह्मण बताने वाले को छोड़कर (अन्य शत्रुपक्षी को हिंसा करने से राजा को कोई दोष नहीं लगता) ॥ १८ ॥

क्षत्रियश्चेदन्यस्तमुपजीवेत्तद्वृत्त्या ॥ १९ ॥

अन्यश्चेत्क्षत्रियस्तं राजानं देशोपप्लवादिनोपजीवेत्तदा तद्वृत्त्या तस्य राज्ञो या वृत्तिश्चर्या रथधनुर्भ्यामित्यादिका तया युक्तः सञ्जीवेत्। तेन राज्ञैवमसौ संमत इति ॥ १९ ॥

कोई अन्य क्षत्रिय उस राजा के अधीन उसकी वृत्ति से निर्वाह करता हो वह राजा के समान ही (रथ पर आरूढ़ हो तथा धनुष धारण कर घूमने एवं युद्ध में लड़ने का) आचरण करे ॥ १९ ॥

जेता लभेत सांग्रामिकं वित्तम् ॥ २० ॥

राज्ञा नियुक्तो राजभृत्यादिः संग्रामे शत्रून्निर्जित्य यद्वित्तं लभते तत्स एव जेता लभेत न राजा ॥ २० ॥

(राजा द्वारा नियुक्त) जेता योद्धा युद्ध में विजयोपरान्त शत्रुओं से छीनी गई सम्पत्ति का स्वामी होता है (राजा नहीं) ॥ २० ॥

वाहनं तु राज्ञः ॥ २१ ॥

वाहनं हस्त्यश्वादिकं निर्जित्य लब्धं राज्ञो भवति न जेतुः ॥ २१ ॥

युद्ध में जीते गये (छीने गये) हाथी आदि वाहन राजा को मिलते हैं (राजा द्वारा नियुक्त विजयी योद्धा को नहीं) ॥ २१ ॥

उद्धारश्चापृथग्जये ॥ २२ ॥

यदि सर्वे सैनिकाः संभूय जयेयुर्जित्वा च किमपि लभेरंस्तस्मिन्नपृथग्जये राज्ञ उद्धारो विशेषद्रव्यं स्वयं वृतो देयः ॥ २२ ॥

यदि सभी सैनिक मिलकर विजय प्राप्त करें तो युद्ध में प्राप्त धन में से वे राजा को उसका विशिष्ट धन अर्पित करें ॥ २२ ॥

अन्यत्तु यथार्हं भाजयेद्राजा ॥ २३ ॥

यत्स्वयं वृतं माणिक्यादि ततोऽन्यद्यथार्हं यस्य यावान्व्यापारो यावद्वा शौर्यं तदनुरूपेण भाजयेत्। यथैते तदनुरूपं भजेरंस्तथा कारयेदिति ॥ २३ ॥

(ऐसे सभी सैनिकों द्वारा सम्मिलित रूप से जीते गये धन में से अपने योग्य माणिक्यादि लेकर) शेष धन को राजा सभी सैनिकों में उनकी योग्यता (और पराक्रम) के अनुसार वितरित करे ॥ २३ ॥

राज्ञो बलिदानं कर्षकैर्दशममष्टमं षष्ठं वा ॥ २४ ॥

कर्षकैः क्षेत्रे यल्लब्धं तस्य दशमभागोऽष्टमः षष्ठो वांऽशो राज्ञो बलिदानं कररूपेण देयः । अस्य राज्ञः कर्षकैः क्षेत्रे यल्लब्धं तद्रक्षणनिमित्ता वृत्तिरेषा । कृष्टाया भूमेरतिभोगमध्यमभोगाल्पभोगविषयोऽयं व्यवस्थितो विकल्पः । अतिभोगे दशमांशो मध्यमभोगेऽष्टमांशोऽल्पभोगे षष्ठांश इति ॥ २४ ॥

कृषक खेत की उपज का दसवाँ, आठवाँ या छठा भाग राजा को कर के रूप में प्रदान करें ॥ २४ ॥

पशुहिरण्ययोरप्येके पञ्चाशद्भागः ॥ २५ ॥

ये पशुभिर्जीवन्ति ये या हिरण्यप्रयोक्तारो वार्धुषिकास्तैः पञ्चाशत्तमो भागो राज्ञे देय इत्येके । तद्यथा—यस्य पञ्चाशत्पशवः सन्ति स प्रतिसंवत्सरमेकं पशुं राज्ञे दद्यात् । यस्य वा पञ्चाशन्निष्कैर्वृद्धिप्रयोगः स प्रतिसंवत्सरमेकैकं निष्कं राज्ञे बलिरूपेण दद्यादिति ॥ २५ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि पशुपालन से जीविका चलाने वाले और धन देकर ब्याज कमाने वाले (प्रतिवर्ष क्रमशः पशुओं तथा मूलधन का) पचासवाँ भाग राजा को करके रूप में प्रदान करें ॥ २५ ॥

विंशतिभागः शुल्कः पण्ये ॥ २६ ॥

यद्वणिग्भिर्विक्रीयते तत्पण्यम् । तत्र विंशतितमो भागो राज्ञे देयस्तस्यैव दीयमानस्य शुल्क इति संज्ञा । शुल्कप्रदेशाः प्रतिभाव्यं वणिक्शुल्कमित्यादयः ॥ २६ ॥

विक्रय वस्तुओं का बीसवाँ भाग (राजा का कर होता है) ॥ २६ ॥

मूलफलपुष्पौषधमधुमांसतृणेन्धनानां षष्ठः ॥ २७ ॥

मूलं हरिद्रादि । फलमाम्रादि । पुष्पमुत्पलादि । औषधं बिल्वादि । शिष्टानि प्रसिद्धानि । एतेषु पण्येषु षष्टि (ष्ठ) तमो भागो राज्ञे देयो विक्रेत्रा ॥ २७ ॥

हल्दी आदि मूलों, आम आदि फलों, फूल, औषध (बिल्व आदि), मधु, मांस, तृण और ईंधन का विक्रय करने पर छठा भाग राजा को देय होता है ॥ २७ ॥

कस्मात्पुनरेवं राज्ञे देय इत्यत आह—

तद्रक्षणधर्मित्वात् ॥ २८ ॥

तेषां करदायिनां रक्षणरूपेण धर्मेण तद्वत्त्वात्तेषामयं रक्षक इति कृत्वेति ॥ २८ ॥

क्योंकि उन (करदाताओं) की रक्षा करना ही राजा का धर्म होता है ॥२८॥

तेषु तु नित्ययुक्तः स्यात् ॥ २९ ॥

तेषु कर्षकादिषु नित्ययुक्तः स्याद्रक्षणे नित्यमवहितः स्यात्। अपर आह—तेषु बल्यादिषु नित्ययुक्तः स्यात्। तात्पर्येणाऽऽददीत शुल्कं। ह्यस्यैतद्धनमिति ॥ २९ ॥

अतएव राजा उन (कृषक आदि करदाताओं) की रक्षा में नित्य सावधान होकर तत्पर रहे। अथवा करग्रहण में नित्य तत्पर रहे ॥ २९ ॥

अधिकेन वृत्तिः ॥ ३० ॥

राज्ञोऽधिकं रक्षणमिति यदुक्तं तद्द्वारेण यदागतं धनं तदधिकं तेनाऽऽत्मनः पोष्यवर्गस्य च हस्त्यश्वादीनां च वृत्तिः स्यान्न तु पूर्वैर्यत्संचित्य खातं कोशरूपेण तेन जीवेत्। आपदि तु तेनापि जीवेत्। तथा च व्याघ्रः—

कुटुम्बपोषणं कुर्यान्नित्यं कोशं च धारयेत्।
आपदोऽन्यत्र कोशात्तु न गृह्णीयात्कदाचन ॥ इति ॥ ३० ॥

(अन्य द्विजातियों की अपेक्षा रक्षण करना राजा का) अधिक कार्य होने से वह उस (रक्षण कार्य) द्वारा प्राप्त धन से अपनी (अपने आश्रितों एवं हाथी-घोड़े आदि की) वृत्ति चलावे (यदि आपत्काल न हो तो पूर्वकाल से सञ्चित कोश का व्यक्तिगत व्यय के लिए उपयोग न करे) ॥ ३० ॥

शिल्पिनो मासि मास्येकैकं कर्म कुर्युः ॥ ३१ ॥

एकेनाह्ना साध्यमेकं कर्म। शिल्पिनो लोहकारादयः। तेऽपि प्रतिमासं राज्ञे स्वीयमेकमहः कर्म कुर्युः। एष एषां शुल्कः ॥ ३१ ॥

कारीगर प्रत्येक मास में एक दिन राजा के लिए अपना कर्म करें (यह उनके लिए कर होता है) ॥ ३१ ॥

एतेनाऽऽत्मोपजीविनो व्याख्याताः ॥ ३२ ॥

आत्मोपजीविनो ये शरीरायासेन जीवन्ति काष्ठवाहादयस्तेऽप्येते

च शिल्पिषूक्तप्रकारेण व्याख्याता मासि मास्येकैकं कर्म कुर्युरिति। नर्तकादिष्वप्येषैव गतिः॥ ३२॥

शारीरिक श्रम करके जीविका निर्वाह करने वालों (लकड़हारा आदि) के लिए भी इसी प्रकार का नियम है॥ ३२॥

नौचक्रीवन्तश्च॥ ३३॥

नौश्च चक्रं च नौचक्रे। चक्रशब्देन तद्वच्छकटं लक्ष्यते। तद्वन्तो नौचक्रीवन्तः। आसन्दीवदष्ठीवदित्यादिना कथंचिद्रूपसिद्धिः। नौवन्तो नौजीविनः। चक्र(क्री)वन्तः शकटजीविनः। तेऽपि राज्ञ एकमहस्तत्कर्म कुर्युः॥ ३३॥

नौका एवं गाड़ी चलाकर जीविकानिर्वाह करने वाले भी (प्रतिमास एक दिन राजा के लिए कर्म करें)॥ ३३॥

भक्तं तेभ्यो दद्यात्॥ ३४॥

शिल्पिनो मासि मासीत्यारभ्य येऽनुक्रान्तास्तेभ्यः कर्म कुर्वद्भ्यो भक्तमन्नं दिवा भोजनं दद्याद्राजा॥ ३४॥

इनको राजा (जिस दिन वे उसके यहाँ श्रमदान करें उस दिन) भोजन दे॥ ३४॥

पण्यं वणिग्भिरर्थापचयेन देयम्॥ ३५॥

मासि मास्येकैकमित्यनुवर्तते। विंशतिभागः शुल्कः पण्य इत्युक्तम्। ततः शुल्कादधिकमिदं मासि मास्येकं पण्यमर्थापचयेन प्राप्तस्य मूल्यस्य किंचिन्न्यूनतां कल्पयित्वा वणिजो राज्ञे दद्युः। तत्र बृहस्पतिः—

शुल्कं दद्युस्ततो मासमेकैकं पण्यमेव च।
अर्धावरं च मूल्येन वणिजस्ते पृथक् पृथक्॥ इति॥ ३५॥

कर देने वाले व्यापारी (कर के अतिरिक्त) प्रतिमास अपनी विक्रय की एक वस्तु कम मूल्य पर राजा को अर्पित करें॥ ३५॥

प्रनष्टमस्वामिकमधिगम्य राज्ञे प्रब्रूयुः॥ ३६॥

प्रनष्टं स्वामिसकाशात्प्रभ्रष्टम्। अस्वामिकमज्ञायमानस्वामिकम्। अधिगम्य भूमौ पतितमुपलभ्य जनपदपालने नियुक्ता एते राज्ञे प्रब्रूयुः। अन्ये वा केचिद् दृष्टवन्तस्तेऽपि ब्रूयुः॥ ३६॥

किसी की खोई हुई वस्तु या ऐसी वस्तु को पाकर जिसके स्वामी का पता न हो उस वस्तु के विषय में राजा को बतलाना चाहिए॥ ३६॥

ततः किं कर्तव्यं राज्ञा—

विख्याप्य संवत्सरं राज्ञा रक्ष्यम् ॥ ३७ ॥

विख्याप्य—इदमेवंजातीयकं वस्त्वासादितं रक्ष्यते । यस्यैतत्स आगच्छतु, इति नगरे पटहेन घोषयित्वा संवत्सरं रक्ष्यम् प्राक्चेत्संवत्सरात्स्वाम्यागच्छति ततो लक्षणानि पृष्ट्वा साम्यं चेत्तत्तस्मै देयम् । वैषम्ये स दण्ड्यः । तथा च याज्ञवल्क्यः—

प्रनष्टाधिगतं देयं नृपेण धनिने धनम् ।
विभावयेन्न चेल्लिङ्गैस्तत्समं दण्डमर्हति ॥ इति ॥

एवमधिगम्याप्रब्रुवन्तो दण्ड्याः ॥ ३७ ॥

राजा उस वस्तु के मिलने की घोषणा करके एक वर्ष तक उसकी रक्षा करे ॥ ३७ ॥

अथ संवत्सरादूर्ध्वं किं कार्यमित्याह—

ऊर्ध्वमधिगन्तुश्चतुर्थं राज्ञः शेषः ॥ ३८ ॥

येनाधिगम्याऽऽख्यातं तस्मै चतुर्थमंशं दत्त्वा शेषो राज्ञा ग्राह्यः॥३८॥

एक वर्ष बाद उस वस्तु का चतुर्थांश उसके पाने वाले को देकर शेष राजा स्वयं ग्रहण करे ॥ ३८ ॥

स्वामी रिक्थक्रयसंविभागपरिग्रहाधिगमेषु ॥ ३९ ॥

रिक्थं पित्रादीनामभावे प्राप्तम् । क्रयो मूल्येन स्वीकारः । संविभागो भ्रात्रादीनां साधारणस्य परस्परविभागः । परिग्रहो वन्येष्वस्वामिकेषु वृक्षादिषु पूर्वस्वीकारः । अधिगमः प्रनष्टस्याज्ञातस्वामिकस्य निध्यादेः स्वीकारः । एतेषु कारणेषु द्रव्यस्वीकर्ता स्वामी भवति । तेन प्रनष्टेऽधिगते राज्ञोऽधिगन्तुश्च स्वाम्यनुपपन्नमिति प्रकरणसंगतिः । क्षेत्रेषूत्पन्नानि सस्यादीनि क्षेत्रवदेव क्षेत्रवतः स्वानि । एतेनाऽऽकरेषूत्पन्नं लवणादि व्याख्यातम् । एतानि सर्ववर्णसाधारणानि स्वाम्यकारणानि ॥ ३९ ॥

कोई भी व्यक्ति पैतृक सम्पत्ति, स्वयं खरीदी हुई वस्तु, भाइयों से बँटवारे से मिले हुए धन एवं स्वयं पाई हुई किसी की खोई हुई वस्तु (जो पहले राजा को दी गई हो और राजा से चतुर्थांश के रूप में प्राप्त हो) का स्वामी होता है ॥ ३९ ॥

ब्राह्मणस्याधिकं लब्धम् ॥ ४० ॥

यल्लब्धं दानरूपेण तद्ब्राह्मणस्याधिकं स्वाम्यमूलम् ॥ ४० ॥

इनके अतिरिक्त दान में प्राप्त धन ब्राह्मण की अधिक सम्पत्ति होता है ॥ ४० ॥

क्षत्रियस्य विजितम् ॥ ४१ ॥

विजयेन लब्धं क्षत्रियस्याधिकं स्वम् ॥ ४१ ॥

युद्ध में जीता हुआ धन क्षत्रिय का अधिक धन होता है ॥ ४१ ॥

निर्विष्टं वैश्यशूद्रयोः ॥ ४२ ॥

निर्विष्टं कर्मणोपात्तम्। कृष्यादिना वैश्यस्य शुश्रूषादिना शूद्रस्य। तदधिकमनयोः ॥ ४२ ॥

अपने कर्म से उपार्जित धन वैश्य और शूद्र की अधिक सम्पत्ति होता है ॥ ४२ ॥

अथ प्रनष्टाधिगताधिगन्तुश्चतुर्थमित्यस्यापवादमाह—

निध्यधिगमो राजधनम् ॥ ४३ ॥

निधिश्चेदधिगतस्तद्राजधनमेव भवति। अधिगन्त्रेऽनुग्रहानुरूपं किंचिद्देयमिति ॥ ४३ ॥

पायी हुई वस्तु राजा का धन होती है ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणस्याभिरूपस्य ॥ ४४ ॥

अभिरूपः षट्कर्मनिरतः। तस्य ब्राह्मणस्य चेन्निध्यधिगमो न तद्राजधनं किं तर्ह्यधिगन्तुर्ब्राह्मणस्यैवेति ॥ ४४ ॥

अपने छः कर्मों में रत रहने वाले ब्राह्मण को मिली हुई वस्तु उसीकी (अर्थात् ब्राह्मण की ही) सम्पत्ति होती है (राजा की नहीं) ॥ ४४ ॥

अब्राह्मणोऽप्याख्याता षष्ठं लभेतेत्येके ॥ ४५ ॥

अब्राह्मणोऽपि निधिमधिगम्य यद्याचष्ट इदमित्थमासादितमिति स तस्य निधेः षष्ठं लभेतेत्येके स्मर्तारो मन्यन्ते। ब्राह्मणेऽनभिरूपे कल्प्यः ॥ ४५ ॥

कुछ आचार्यों के मतानुसार ब्राह्मण से भिन्न वर्ण का व्यक्ति भी स्वयं पाकर राजा को अर्पित की गई वस्तु के षष्ठांश का स्वामी होता है ॥ ४५ ॥

चौरहृतमपजित्य यथास्थानं गमयेत् ॥ ४६ ॥

चौरैर्हृतं द्रव्यं तानपजित्य यथास्थानं गमयेत्। स्वामिन एव दद्यात्। जेतुस्तु जयफलं किंचित् ॥ ४६ ॥

चुराई गई वस्तु को चोर से छीनकर जिसकी वस्तु हो उसी को देनी चाहिए ॥ ४६ ॥

कोशाद्वा दद्यात् ॥ ४७ ॥

यद्यन्विष्यापि चोरा न दृष्टास्त एव वा जित्वा गतास्तदा स्वकोशादादाय तावद्धनं स्वामिने दद्याद्यावदपहृतं चौरैरिति ॥ ४७ ॥

(यदि ढूंढने पर भी चोर न मिलें अथवा धन चुराकर भाग जायें तो) अपने कोश से उतना धन स्वामी को दे ॥ ४७ ॥

रक्ष्यं बालधनमा व्यवहारप्रापणात् ॥ ४८ ॥

बालोऽप्राप्तषोडशवर्षः। तस्य यदि हितैषिणो रक्षकाश्च पित्रादयो न सन्ति सन्तो वा मूर्खाश्चाधार्मिकाश्च तदा तद्धनं राज्ञा रक्ष्यम्। आ कुतः। व्यवहारप्रापणात्। यावदसौ व्यवहारप्राप्तः षोडशवर्षो भवति ॥ ४८ ॥

सोलह वर्ष से कम अवस्था वाले बालक के धन की उसके व्यवहार प्राप्ति तक (अर्थात् सोलह वर्ष की अवस्था प्राप्त करने तक) राजा रक्षा करे ॥ ४८ ॥

समावृत्तेर्वा ॥ ४९ ॥

आङनुवर्तते। अधीतवेदस्य गुरुकुलान्निवृत्तिः समावृत्तिः। आ वा तस्या इति ॥ ४९ ॥

अथवा उस बालक के समावर्त्तन तक (गुरुगृह से लौटने के समय तक रक्षा करे) ॥ ४९ ॥

एवं राज्ञोऽधिकं स्वत्वमूलमुक्तम्। सांप्रतं वैश्यस्याऽऽह—

वैश्यस्याधिकं कृषिवणिक्पाशुपाल्यकुसीदम् ॥ ५० ॥

कृषिः प्रसिद्धा। वणिगिति वाणिज्यम्। पशुपालस्य कर्म पाशुपाल्यम्। कुसीदं वृद्ध्यर्थो धनप्रयोगः। कृष्यादिभिर्यल्लब्धं तदधिकं स्वं वैश्यस्य ॥ ५० ॥

कृषि, व्यापार, पशुपालन और व्याज से प्राप्त धन वैश्य का अधिक धन होता है ॥ ५० ॥

शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः ॥ ५१ ॥

चतुर्थो वर्ण इति। वर्णसामान्यत्वे सत्यपि चतुर्थग्रहणं पूर्वेषां त्रयाणां ब्राह्मणादिवर्णानां पृथग्वर्णत्वोपपादनार्थम्। त्रैवर्णिका इति सिद्धत्वादेकजातिरुपनयनं पूर्वेषां द्वितीयजन्म तदस्य नास्तीति। उपनयनप्रति-

षेधात्तत्पूर्वकमध्ययनमपि न भवति। तद्विषये गृह्यकार आह—शूद्रस्यापि निषेकपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनामकरणान्नप्राशनचौलान्यमन्त्रकाणि यथाकालमुपदिष्टानि। इति विवाहोऽप्यमन्त्रको यथाचारं भवति ॥ ५१ ॥

शूद्र चौथा वर्ण होता है और वह एक जाति होता है (अर्थात् अन्य तीन वर्णों के समान उपनयन संस्कार द्वारा 'द्विज' नहीं होता) ॥ ५१ ॥

तस्यापि सत्यमक्रोधः शौचम् ॥ ५२ ॥

उपनयनाध्ययनरहितत्वेऽपि यथावृत्तिकत्वं मा भूदिति तस्यापि शूद्रस्य सत्यादयो धर्मा भवन्ति। सत्यं यथादृष्टार्थवादित्वम्। अक्रोधः परानभिद्रोहबुद्धिः। शौचं पूर्वोक्तद्रव्यशौचं मनःशौचमित्यादि। वसिष्ठस्तु—

सर्वेषां सत्यमक्रोधो दानमहिंसा प्रजननं चेति ॥ ५२ ॥

उसके लिए भी सत्य, अक्रोध और शौच के नियमों का विधान है ॥५२॥

आचमनार्थे पाणिपादप्रक्षालनमेवैके ॥ ५३ ॥

पूर्वेषां वर्णानां यत्राऽऽचमनमुक्तं तस्मिन्विषये शूद्रस्य पाणिपादप्रक्षालनमेव भवति नान्य आचमनकल्प इत्येके मन्यन्ते। मनुस्तु—सकृदम्बुपानमिच्छति स्त्रीशूद्रौ तु सकृत्सकृदिति। नित्यस्नानविषये तृशना—

सच्छूद्रः स्नायादसच्छूद्रः पाणिपादं प्रक्षालयेत्। इति ॥ ५३ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि शूद्र (ब्राह्मणादि तीन वर्णों के लिए विहित) आचमन के स्थान पर केवल हाथ पैर धोने का विधान है ॥ ५३ ॥

श्राद्धकर्म ॥ ५४ ॥

अमावास्यायामित्यारभ्य यच्छ्राद्धकर्म वक्ष्यते तदपि शूद्रस्य कर्तव्यं मन्त्रवर्जम् ॥ ५४ ॥

श्राद्धकर्म भी शूद्र के लिए विहित है ॥ ५४ ॥

भृत्यभरणम् ॥ ५५ ॥

भृत्यो भरणीयः पोष्यवर्गः। तस्य च भरणं कर्तव्यम्। तेन तदनुरूपमर्थार्जनमप्यस्य कर्तव्यमिति ॥ ५५ ॥

आश्रित जनों का भरण पोषण (भी शूद्र करे) ॥ ५५ ॥

स्वदारवृत्तिः ॥ ५६ ॥

स्वेष्वेव दारेष्वस्य वृत्तिः। सजातीयेष्वपि परदारेषु वेश्यासु च प्रसजन् दण्ड्य इति। अपर आह—स्वदारवृत्तिरेवास्य भवतिनाऽऽश्रमान्तरप्राप्तिरिति ॥ ५६ ॥

अपनी ही पत्नियों से सम्बन्ध रखे ।। ५६ ।।

परिचर्या चोत्तरेषाम् ।। ५७ ।।

उत्तरेषां त्रयाणां वर्णानां परिचर्या शुश्रूषा च ।। ५७ ।।

अपने से उच्च वर्णों की सेवा करे ।। ५७ ।।

सैषा वृत्त्यर्थेत्याह—

तेभ्यो वृत्तिं लिप्सेत ।। ५८ ।।

तेभ्यः परिचरितेभ्यो जीवनं लिप्सेत ।। ५८ ।।

(उच्चवर्णों की सेवा करके) उन्हीं से जीविका निर्वाह की इच्छा रखे ।। ५८ ।।

तत्र पूर्वं पूर्वं परिचरेत् ।। ५९ ।।

तथा चाऽऽपस्तम्बः—पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्वर्णे निःश्रेयसं भूय इति। तदेवं यथा याजनाध्यापनप्रतिग्रहेषु ब्राह्मणस्य प्रतिग्रहो मुख्या वृत्तिस्तथा शूद्रस्य परिचर्या । तत्रापि पूर्वस्मिन्पूर्वस्मिन्वर्ण इति ।। ५९ ।।

उन वर्णों में भी यथासंभव पहले वाले वर्ण की सेवा करे। (अर्थात् ब्राह्मण की सेवा करे; ऐसा संभव न होने पर क्षत्रिय की सेवा करे, अन्यथा वैश्य की सेवा करे) ।। ५९ ।।

जीर्णान्युपानच्छत्रवासःकूर्चादीनि ।। ६० ।।

कूर्चं तृणादि । शेषं प्रसिद्धम् । जीर्णान्युपभुक्तान्युपानदादीनि परिचरते शूद्राय देयानि । अयं तु शुश्रूषावृत्तेः शूद्रस्य नियमो न गृहस्थवृत्तेः । तस्य तु वृत्त्यनपेक्षं सामान्याकारेण विशेषत्वम् ।। ६० ।।

(द्विजों द्वारा दिये गये) पुराने जूते, छाते, वस्त्र और चटाई आदि का उपयोग करे ।। ६० ।।

पुनः प्रकृतमनुसरति—

उच्छिष्टाशनम् ।। ६१ ।।

भोजनपात्रे यद्भुक्तावशिष्टं तदस्याशनम् । नाब्राह्मणायोच्छिष्टं प्रयच्छेदित्येतत्तु दासविषयम् । गृहस्थशूद्रविषयमन्ये । तथा च व्याघ्रः—

उच्छिष्टमन्नं दातव्यं शूद्रायागृहमेधिने ।
गृहस्थाय तु दातव्यमनुच्छिष्टं दिने दिने ।। इति ।। ६१ ।।

द्विजातियों का जूठा (पात्र में छोड़ा हुआ) भोजन खाये ।। ६१ ।।

शिल्पवृत्तिश्च ॥ ६२ ॥

शिल्पानि चित्रकर्मादीनि । तैरप्ययं वर्तेत । अत्र मानवो विशेषः—

अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम् ।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुककर्मभिः ॥ इति ॥ ६२ ॥

शिल्पकर्म द्वारा भी जीविका निर्वाह करे ॥ ६२ ॥

यं चायमाश्रयेद्भर्तव्यस्तेन क्षीणोऽपि ॥ ६३ ॥

परिचर्यया वर्तमानः शूद्रो यदि क्षीणः कर्म कर्तुमसमर्थो भवति तथा (द्रा)ऽपि यमसौ पूर्वमाश्रितः कर्माण्यकरोत्तेनासौ भर्तव्यः। पूर्वकृतापेक्षया ॥ ६३ ॥

जिस व्यक्ति की शूद्र सेवा करता हो वह उस (शूद्र) के दुर्बल (सेवा करने में असमर्थ) होने पर भी उसका भरण-पोषण करे ॥ ६३ ॥

तेन चोत्तरः ॥ ६४ ॥

तेन च शूद्रेणोत्तरो वृत्तिक्षीणो भर्तव्यः शिल्पादिभिः। पूर्वकृतापेक्षयैव । अत्र जातूकर्ण्यः—

यो नोचमाश्रयेदार्य आत्मानं दर्शयेत्सदा ।
आत्मानं दासवत्कृत्वा चरेन्नोचोऽपि तं प्रति ॥
दरिद्रो ब्राह्मणो दान्तो वेदानां चैव पारगः ।
शूद्रेणापि सदाऽप्येष भर्तव्योऽनाश्रितोऽपि सन् ॥
बिभृयाद्ब्राह्मणं नित्यं सर्वयत्नेन बुद्धिमान् ।
अन्यं चाप्यानृशंस्यार्थं शूद्रोऽपि द्रव्यवान्भवेत् ॥ इति ॥६४॥

और वह शूद्र भी स्वामी के वृत्तिहीन या क्षीण होने पर उस स्वामी की सेवा करता रहे ॥ ६४ ॥

तदर्थोऽस्य निचयः स्यात् ॥ ६५ ॥

अस्य शूद्रस्य निचयोऽर्थसंचयस्तदर्थः स्यात्तस्योत्तरस्य पोषणार्थः स्यात् । पूर्वसूत्रस्य हेतुरयम् ॥ ६५ ॥

शूद्र द्वारा संगृहीत धन उस स्वामी के भरण के लिये हो ॥ ६५ ॥

अनुज्ञातोऽस्य नमस्कारो मन्त्रः ॥ ६६ ॥

अस्य शूद्रस्य वैश्वदेवादिषु तत्तद्देवतापदं चतुर्थ्यन्तं मनसा ध्यात्वा नमो नम इत्येवंरूपो मन्त्रोऽनुज्ञातो धर्मज्ञैः । अपर आह—

देवताभ्यः पितृभ्यश्च महायोगिभ्य एव च।
नमः स्वधायै स्वाहायै नित्यमेव नमो नमः॥

इत्ययं मन्त्रो नमस्कारशब्देन विवक्षितः। स पित्र्येषु कर्मसु भवति। तथाऽऽह गृह्यकारः—ब्राह्मणानुपवेश्य देवतादिकं मन्त्रं जपेत्॥ ६६॥

इस शूद्र के लिए (वैश्वदेव आदि पूजा कर्म में 'तत्तत् देवता को 'नमो नमः' कहकर) नमस्कार करना ही मन्त्र बताया गया है॥ ६६॥

पाकयज्ञैः स्वयं यजेतेत्येके॥ ६७॥

पक्वगुणकेष्वपक्वगुणकेषु च गार्ह्येषु कर्मसु पाकयज्ञशब्दः प्रसिद्धः। यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—लौकिकानां पाकयज्ञशब्द इति॥ ६७॥

कुछ आचार्यों का मत है कि शूद्र पाकयज्ञों द्वारा स्वयं यजन करे॥ ६७॥

सर्वे चोत्तरोत्तरं परिचरेयुः॥ ६८॥

सर्व एव वैश्यादयोऽप्युत्तरमुत्तरं वर्णं परिचरेयुर्न केवलं शूद्र एव ब्राह्मणस्य तूत्तरो नास्ति। मध्ये क्षत्त्रियवैश्यौ। तथाऽपि सर्वशब्दे बहुवचनमवान्तरप्रभवाणां ग्रहणार्थम्। अपर आह—समानेऽपि वर्णे यो योऽपि गुणत उत्तरस्तं तमवराऽवरः परिचरेदित्येवमर्थम॥ ६८॥

वैश्य आदि अन्य सभी वर्णों के लोग भी अपने से उच्च वर्ण वालों की परिचर्या करें॥ ६८॥

आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे कर्मणः साम्यं [साम्यम्]॥ ६९॥

आर्यस्त्रैवर्णिकः। अनार्यः शूद्रः। तयोः कर्मण आचारस्य व्यतिक्षेपे व्यत्यासे सति तयोः साम्यमेव भवति न परिचार्यपरिचारकभावः। ब्राह्मणादिरप्यनार्यकर्मा चेन्न शूद्रेण परिचरणीयः। शूद्रोऽप्यार्यकर्मा चेदनार्यकर्मभिरितरैर्जात्यपकर्षेण नावमन्तव्य इति। एतेन ब्राह्मणक्षत्त्रियौ क्षत्त्रियवैश्यौ च व्याख्यातौ। [अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः]॥ ६९॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
द्वितीयप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः॥ १॥

आर्य (तीन द्विजातियों) एवं अनार्य (शूद्र) के कर्मों में उलट-फेर होने पर वे सभी समान हो जाते हैं (स्वामी और सेवक का भेद समाप्त हो जाता है)॥ ६९॥

द्वितीय प्रश्न में प्रथम अध्याय समाप्त।

अथ द्वितीयप्रश्ने द्वितीयोऽध्यायः

आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे निवारयिता राजा । अतस्तद्धर्मानाह—

राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम् ॥ १ ॥

राजाऽभिषिक्तः सर्वस्य स्वजनपदवर्तिनो जनस्येष्टे निग्रहानुग्रहादिषु किमविशेषेण नेत्याह—ब्राह्मणवर्जं ब्राह्मणान्वर्जयित्वा । ततस्ते च्यवन्तोऽपि स्वधर्मात्सान्त्वेन स्थाप्याः । सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यख्यापनार्थं वचनम् । यथाऽऽह नारदः—

अस्वतन्त्राः प्रजाः सर्वाः स्वतन्त्रः पृथिवीपतिः ॥ इति ॥ १ ॥

राजा ब्राह्मणों के अतिरिक्त सबका स्वामी होता है ॥ १ ॥

शास्त्राविरुद्धेष्वेवास्य स्वातन्त्र्यमित्याह—

साधुकारी साधुवादी ॥ २ ॥

साधुकारी शास्त्राविरुद्धाचरणशीलः । साधुवादी व्यवहारकाले स्वपक्षापरपक्षसमवादी ॥ २ ॥

राजा को शास्त्रानुकूल आचरण करने वाला और (पक्षपातरहित होकर) साधु वचन बोलने वाला होना चाहिए ॥ २ ॥

त्रय्यामान्वीक्षिक्यां वाऽभिविनीतः ॥ ३ ॥

ऋग्यजुःसामात्मकास्त्रयो वेदास्त्रयी । अथर्वणश्च वेदस्तेष्वन्तर्भवति । तत्रापि हि मन्त्रा ऋचो यजूंषि वा भेदव्यवहारस्तु प्रवचननिमित्तः । शान्तिकपौष्टिकादिप्रमेयभेदनिबन्धनो वा । आन्वीक्षिकी न्यायविद्या । तयोरभिविनीतो गुरुभिः सम्यक् शिक्षितः । मनुस्तु—

त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चाऽऽत्मविद्यां वार्तारम्भं च लोकतः ॥ इति ॥ ३ ॥

वेदत्रयी एवं न्याय विद्या में (गुरुओं द्वारा भलीभाँति) शिक्षित होना चाहिए ॥ ३ ॥

शुचिर्जितेन्द्रियो गुणवत्सहायोपायसंपन्नः ॥ ४ ॥

शुचिः, अन्तः परद्रव्यादिष्वस्पृहः, बहिः स्नानादिपरः । जितेन्द्रियः स्त्रियोऽक्षा मृगया पानमित्यादिव्यसनरहितः । गुणाः शान्त्यादयः । तद्वद्भिस्त्रिसामादिभिः सहायैः संपन्नः समवेतः । सामादिभिश्चोपायैः संपन्नो

देशकालावस्थानुरूपं तेषां प्रयोक्ता। सर्वत्र स्यादिति वक्ष्यमाणमपेक्ष्यते ॥ ४ ॥

वह पवित्र (मन से पवित्र विचारों वाला और बाह्यतः स्नानादि द्वारा शुद्ध), जितेन्द्रिय, गुणी (शान्ति आदि गुणों अथवा उत्तम चरित्र वाले) सहायकों से युक्त तथा साम दाम आदि उपायों से सम्पन्न हो ॥ ४ ॥

समः प्रजासु स्यात् ॥ ५ ॥

व्यवहारकाले द्वेष्ये प्रिये च समः स्यात् ॥ ५ ॥

न्याय करते समय सम्पूर्ण प्रजा के प्रति (पक्षपात रहित होकर) समान भाव रखे ॥ ५ ॥

हितमासां कुर्वीत ॥ ६ ॥

आसां प्रजानां योगक्षेमयोरवहितः स्यात् ॥ ६ ॥

यत्न पूर्वक प्रजा का हित करे ॥ ६ ॥

तमुपर्यासीनमधस्तादुपासीरन्नन्ये ब्राह्मणेभ्यः ॥ ७ ॥

तमेवंगुणं राजानमुपरि सिंहासनादावुच्चैरासीनमधस्ताद्भूमावेवाऽऽसीरन्। किमविशेषेण। न। अन्ये ब्राह्मणेभ्यो ब्राह्मणव्यतिरिक्ताः। अध उपासीरन्नित्येव सिद्ध उपर्यासीनमिति स्वभावानुवादः। सर्वदाऽयमुपर्यासीनो भवति न तु रहस्यपि भूमाविति ॥ ७ ॥

इस प्रकार के गुणों से युक्त राजा के सिंहासन आदि ऊँचे आसन पर बैठे रहने पर ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य सभी उसके आसन की अपेक्षा नीचे आसन पर बैठें ॥ ७ ॥

तेऽप्येनं मन्येरन् ॥ ८ ॥

तेऽपि ब्राह्मणा एनं राजानं मन्येरन्नाशीर्वादादिभिः पूजयेयुः ॥ ८ ॥

ब्राह्मण भी राजा का (आशीर्वाद द्वारा) आदर करें ॥ ८ ॥

वर्णाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत् ॥ ९ ॥

वर्णा ब्राह्मणादयः आश्रमा ब्रह्मचर्यादयः। तान्न्यायतो यथाशास्त्रं षष्ठांशादिभागस्वीकारेणाभिरक्षेदभितो रक्षेत्। यथा वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानेन निरपायास्ते भवेयुः अथवा न्यायत इति यथा देशादिधर्माणां भङ्गो न भवति यथा रक्षेदिति। अनुलोमादयोऽवान्तरप्रभवा वर्णा एष्वेवान्तर्भूताः। रक्षणं सर्वभूतानामिति चोरादिभ्यो रक्षणं पूर्वोक्तम्। इदं तु वचनं वर्णाश्रमधर्मेषु संकरो मा भूदिति ॥ ९ ॥

राजा वर्णों एवं आश्रमों की न्यायपूर्वक (शास्त्र के अनुसार षष्ठांश लेकर) रक्षा करे (अर्थात् उनमें आने वाले विघ्नों को दूर करे) ॥ ९ ॥

चलतश्चैतान्स्वधर्मे स्थापयेत् ॥ १० ॥

ते यद्यालस्यादिना स्वधर्माच्चलेयुस्ततश्चलत एतान्स्वधर्म एव निगृह्य स्थापयेदिति ॥ १० ॥

जो अपने धर्म से भ्रष्ट हो रहे हों उनका निग्रह करके पुनः स्वधर्म के मार्ग पर स्थापित करे ॥ १० ॥

कस्मात्पुनरेवमसौ करोतीत्याह—

धर्मस्य ह्यंशभाग्भवतीति ॥ ११ ॥

विज्ञायते हि यस्माद्रक्षतो धर्मस्यांशो भवति । उपलक्षणमेतत् । अरक्षतोऽप्यधर्मस्यांशो भवतीति ज्ञेयम् । अत्र मनुः—

सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षणात् ।
अधर्मस्यापि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः ॥ इति ॥ ११ ॥

(इस प्रकार धर्म की रक्षा करने पर वह उन व्यक्तियों के) धर्म का षष्ठांश प्राप्त करता है । (अन्यथा उनके अधर्म का षष्ठांश उसे मिलता है) ॥ ११ ॥

ब्राह्मणं च पुरोदधीत विद्याभिजनवाग्रूपवयःशीलसंपन्नं न्यायवृत्तं तपस्विनम् ॥ १२ ॥

स एष बहुश्रुतो भवतीत्यारभ्योक्ता विद्या । विशिष्टकुले जन्माभिजनः । वाक्संस्कृता भारती । रूपं मनोहरम् । वयो मध्यमं नातिबालो नातिस्थविर इति । शीलमन्तःकरणशुद्धिर्बाह्यं वाऽनुष्ठानम् । एतैर्विद्यादिभिः संपन्नं समृद्धम् । न्यायवृत्तं लोकाविरुद्धाचारम् । तपस्विनमभोगपरम् । एवंभूतं ब्राह्मणं पुरोदधीत पुरोहितं कुर्वीत ॥ १२ ॥

विद्या सम्पन्न, श्रेष्ठकुल में उत्पन्न, वाणी और रूप से युक्त, प्रौढ आयु वाले, शीलवान् एवं लोकानुकूल आचरण वाले ब्राह्मण को पुरोहित बनावे ।

सर्वेषु कर्मसु पुरो धीयत इति पुरोहितस्तद्दर्शयति—

तत्प्रसूतः कर्माणि कुर्वीत ॥ १३ ॥

तेन पुरोहितेन प्रसूतोऽनुज्ञात इदमित्थं कर्तव्यमिति कृतोपदेशः कर्माणि श्रौतस्मार्तादीनि पौराणिकानि नित्यनैमित्तिकानि शान्तिकपौष्टिकान्याभिचारिकाणि कुर्वीत । तत्प्रसूत इत्यस्य मूलत्वेन ब्राह्मणमाकर्षति ॥ १३ ॥

उसकी आज्ञा से (श्रौत एवं स्मार्त) कर्म करे ॥ १३ ॥

ब्रह्मप्रसूतं हि क्षत्त्रमृध्यते न व्यथत इति च विज्ञायते ॥१४॥

ब्रह्म ब्राह्मणस्तेन प्रसूतमनुज्ञातं हि क्षत्त्रं क्षत्त्रियमृ[यजातिर्क्क]-ध्यते समृद्धं भवतीति न व्यथते न कुतश्चिद्बिभेति। निरपायं स्यादित्यर्थः। इत्येवं प्रकारेण विज्ञायते परम्परया दृश्यते ॥ १४ ॥

ब्राह्मण की प्रेरणा से कर्म करने वाला क्षत्रिय (राजा) समृद्धिशाली ही होता है, दुःखी या त्रस्त नहीं होता, ऐसा परम्परा से हमें ज्ञात है ॥ १४ ॥

यानि च दैवोत्पातचिन्तकाः प्रब्रूयुस्तान्याद्रियेत ॥ १५ ॥

दैवचिन्तका ज्योतिर्विदः। उत्पातचिन्तकाः शकुनज्ञाः। उत्पातानां चाग्रे फलानि जानते। ते यत्प्रब्रूयुरिदमन्यग्रहवैकृतमिदमद्य दुःशकुनभयमद्योत्पातोऽयमेषां परिहार इति च तान्यपि सर्वाण्याद्रियेत नोपेक्षेत ॥ १५ ॥

ज्योतिषी और शकुन बताने वाले जो कुछ कहें उसे राजा को मानना चाहिए (उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए) ॥ १५ ॥

किमर्थम्—

तदधीनमपि ह्येके योगक्षेमं प्रतिजानते ॥ १६ ॥

न केवलं रक्षणादिविहितानुष्ठानं किं तर्हि तदधीनमपि दैवोपातचिन्तकैर्ग्रहवैकृतादौ यत्कर्तव्यतया प्रोक्तं 'तदधीनमपि योगक्षेमं भवति। अलब्धस्य लाभो योगः। लब्धस्य रक्षणं क्षेमः। तयोः समाहारद्वंद्वः। आयोगप्रजा विन्देद्योगक्षेमो नः कल्पतामित्यादावेकविंशत्यादिवत्परवल्लिङ्गता। तद्यथा—एकश्च विंशतिश्चैकविंशतिः। तं योगक्षेमं प्रतिजानत एक आचार्या इति ॥ १६ ॥

कुछ आचार्य योग (=अलब्धवस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा) उन (ज्योतिषी एवं शकुन बताने वालों द्वारा निर्दिष्ट कर्मों) के अधीन भी मानते हैं ॥ १६ ॥

शान्तिपुण्याहस्वस्त्ययनायुष्मन्मङ्गलसंयुक्तान्याभ्युदयिकानि विद्वेषणसंवननाभिचारद्विषद्व्यृद्धियुक्तानि च शालाग्नौ कुर्यात् ॥ १७ ॥

तत्राऽऽपस्तम्बो राज्ञस्तु विशेषाद्वक्ष्याम इति प्रकृत्य वेश्माऽऽवसथः, सभेति त्रिस्थानान्यभिसंधायाऽऽह—सर्वेष्वेवाजस्रा अग्नयः स्युरग्निपूजा

च नित्या यथा गृहमेध इति। तेषामन्यतमोऽत्र शालाग्निरौपासनो नापि त्रेताग्निर्गार्ह्येषु श्रौतेषु कर्मसु तयोर्नियतत्वात्। शान्तिसंयुक्तं दैवोत्पातचिन्तकसूचितापचयनिवृत्त्यर्थं यत्क्रियते ग्रहशान्तिमहाशान्त्यादि। पुण्याहसंयुक्तं दिनदोषनाशाय विवाहादौ यत्क्रियते। स्वस्त्ययनसंयुक्तं यात्रादौ यत्क्रियते। आयुष्मत्संयुक्तं जन्मनक्षत्रादावायुर्वृद्ध्यर्थं यत्क्रियते। दूर्वाहोमादि मङ्गलसंयुक्तं गृहप्रवेशादौ यत्क्रियते वास्तुहोमादि। एतान्याभ्युदयिकान्यभ्युदयनिमित्तानि। विद्वेषणसंयुक्तं येनास्य शत्रुः प्रकृतीनां विद्वेष्यो भवति। संवननसंयुक्तं येनास्य शत्रवो वश्याः प्रणिपतन्ति। अभिचारसंयुक्तं येनास्य शत्रवो म्रियन्ते। ऋद्धेरभावो व्यृद्धिः। द्विषतां व्यृद्धिर्द्विषद्व्यृद्धिः। येनास्य शत्रवो विगतैश्वर्या भवन्ति। उच्चाटनादीन्येतानि च शालाग्नौ कुर्यात्। कः। राजा। तस्य च कर्तृत्वमिदमेव। यत्तत्संविधातृत्वमर्थसंप्रदानादिना। तद्यथा योऽप्येकान्ते तूष्णीमासीनो भक्तबीजबलीवर्दैः प्रतिसंविधत्ते सोऽप्युच्यते पञ्चभिर्हलैः कृष्यतीति। अपर आह—आभ्युदयिकानि पुरोहितः स्वयं कुर्यादितराणि कारयेदिति। यस्मिंश्चाग्नावाभ्युदयिकानि न तत्रेतराणि कुर्वन्ति किंत्वग्न्यन्तरे पूर्वोक्तानामन्यस्मिन्॥ १७॥

दैवी उत्पातों के शमन के लिए ग्रहशान्ति या महाशान्ति आदि शान्ति कर्म, दिन के दोष को दूर करने के लिए विवाह आदि में किया जाने वाला पुण्याह कर्म, यात्रा के आरम्भ में किया जाने वाला स्वस्त्ययन, आयु के लिए जन्म नक्षत्र पर किया जाने वाला आयुष्मन् कर्म, गृह प्रवेश आदि के समय वास्तुहोम आदि मंगलसंयुक्त कर्म—ये अभ्युदय के लिए किये जाने वाले कर्म, शत्रुओं के विरुद्ध किये जाने वाले विद्वेष्य कर्म, शत्रुओं को वश में किये जाने वाले संवनन, शत्रुनाश के लिए किए जाने वाले अभिचार संयुक्त कर्म, शत्रु की समृद्धि नष्ट करने के लिए किये जाने वाले कर्म (राजा) शालाग्नि में करे॥ १७॥

यथोक्तमृत्विजोऽन्यानि॥ १८॥

अन्यानि गार्ह्याणि श्रौतानि च तानि कर्माणि यथोक्तं यस्मिन्कर्मणि यावन्त ऋत्विज उक्तास्तावन्तः कुर्युः। तद्यथा—औपासने चाग्निहोत्रे चाध्वर्युरेकः दर्शपूर्णमासयोश्चत्वारः। चातुर्मास्ये पञ्च। पशुबन्धे षट्। ज्योतिष्टोमादौ षोडश। अत्र मनुः—

पुरोहितं च वृणुयाद्वृणुयादेव चर्त्विजः॥ इति।

तत्र येष्वेव ऋत्विक्तत्र पुरोहितोऽध्वर्युर्ब्रह्मेत्यन्ये॥ १८॥

अन्य गृह्य और श्रौत कर्मों को यथोक्त (जिस कर्म में जितनी संख्या में विहित हों उतने) ऋत्विज् करें ॥ १८ ॥

तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम् ॥ १९ ॥

व्यवहरन्त्यनेनेति व्यवहारः। तस्य राज्ञः प्रजापालनेऽधिकृतस्य वेदादीनि व्यवहारसाधनानि। यथा वेदादिष्वभिहितं तथा व्यवहरेदिति। व्यवहारो लोकमर्यादास्थापनम् ॥ १० ॥

उस राजा के व्यवहार के साधन हैं :—वेद, धर्मशास्त्र, वेदांग, उपवेद और पुराण ॥ १९ ॥

देशजातिकुलधर्माश्चाऽऽम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम् ॥ २० ॥

देशधर्मेषु जातिधर्मेषु च प्रतिनियतमनुष्ठीयमानेषु यद्यपि वेदादि मूलभूतं नोपलभ्यते तथाऽपि यदि वेदादिभिर्विरोधो न भवति तथैव ते परिपालनीया न तु मूलानियोगेन विहन्तव्या इति। तत्र देशधर्माः—मेषस्थे सवितरि चौलेषु कुमार्यो नानावर्णै रजोभिर्भूमावादित्यं सपरिवारमालिख्य सायं प्रातः पूजयन्ति। मार्गशीर्ष्यां चालंकृता ग्रामे पर्यट्य यल्लब्धं तद्देवाय निवेदयन्ते। कर्कटस्थे सवितरि पूर्वयोः फल्गुन्योर्भगवतीमुमामाराध्य यथाविभवमरुद्धयोऽङ्कुरितं मुद्गलवणं च प्रयच्छन्ति। मीनस्थे सवितर्युत्तरयोः फल्गुन्योर्गृहमेधिनः श्रियं देवीं पूजयन्ति। जातिधर्माः शूद्रा विवाहे मध्ये स्थूणां निखाय सहस्रवर्तीरेकस्यां स्थाल्यां निधाय प्रतिवर्ति दीपानारोप्य वधूं हस्ते गृहीत्वा प्रदक्षिणयन्ति। अन्यदप्येवंजातीयकं द्रष्टव्यम्। कुलधर्माः—केचिन्मध्यशिखाः। केचित्पृष्ठशिखाः। प्रवचनादयस्तु कालभेदेनोभयतःशिखाः। संबन्धश्चैतैस्तैः स्ववर्गैरिति। ये त्वाम्नायविरुद्धा मातुलसुतापरिणयनम्, अनधीत्य वेदानन्यत्र श्रम इत्यादयो देशधर्मा नेह प्रमाणम् ॥ २० ॥

वेदादि के अनुकूल देश, जाति, कुल के धर्म भी प्रमाण हैं ॥ २० ॥

कर्षकवणिक्पशुपालकुसीदिकारवः स्वे स्वे वर्गे ॥ २१ ॥

कर्षकाः कृषिजीविनः। वणिजः क्रयविक्रयव्यवहारपराः। पशुपाला गोपालाः। कुसीदिनो वार्धुषिकाः। कारवस्तक्षरजकादयः। एते स्वे स्वे वर्गे स्ववर्गसंवेदे प्रमाणम् ॥ २१ ॥

अपने-अपने वर्ग में कृषक, व्यापारी, गोपालक, महाजन और शिल्पी प्रमाण होते हैं ॥ २१ ॥

ततश्च कर्षकादिषु धर्मविप्रतिपत्तौ सत्यां—

तेभ्यो यथाधिकारमर्थान्प्रत्यवहृत्य धर्मव्यवस्था ॥ २२ ॥

तेभ्यस्तत्तद्वर्गेभ्यो यथाधिकारं ये यत्र वर्गे व्यवस्थापकत्वेनाधिकृतास्तेभ्योऽर्थानाचारप्रकारान्प्रत्यवहृत्य श्रुत्वाऽवधार्य धर्मव्यवस्था कार्या। इत्थमस्माकं निकाम आचार इति तैरुक्ते तथैव व्यवस्थाप्यमिति ॥ २२ ॥

उन वर्गों के अधिकार के अनुकूल नियमों को समझकर धर्म की व्यवस्था (राजा) करे ॥ २२ ॥

अथ ते पक्षपातेन मिथ्या ब्रूयुस्तदा कथं तत्त्वं ज्ञातव्यम्—

न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपायः ॥ २३ ॥

न्याययुक्तस्यार्थस्याधिगमेऽवधारणे तर्कोऽनुमानमभ्युपायः। अपिर्धा-त्वर्थानुवादी। तत्र मनुः—

> आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया हर्षितेन च।
> नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥ इति ॥ २३ ॥

न्याययुक्त अर्थ का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तर्क भी एक उपाय है ॥२३॥

ततश्च—

तेनाभ्यूह्य यथास्थानं गमयेत् ॥ २४ ॥

तेन तर्केणाभ्यूह्यैवमयमर्थो भवितुमर्हतीति निश्चित्य यथास्थानं यत्र पक्षेऽर्थस्तत्र गमयेत् ॥ २४ ॥

तर्क द्वारा विचार विमर्श करके यथोचित पक्ष में निर्णय करना चाहिए ॥२४॥

अथाऽऽत्मन एकाकिनस्तर्केणापि दुरधिगमत्वे सति—

विप्रतिपत्तौ त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत् ॥ २५ ॥

विप्रतिपत्तौ सत्यां दुरधिगमत्वे सति त्रैविद्यवृद्धान्समानाय्य तैः सह विचार्यार्थतत्त्वं तेभ्यः प्रत्यवहृत्य निष्ठां गमयेत्। यत्र पक्षेऽर्थो निष्ठितस्तं गमयेत् ॥ २५ ॥

कोई निर्णय करना कठिन हो तो त्रयी विद्या में निष्णात पुरुषों से परामर्श लेकर अर्थ का निर्धारण करे ॥ २५ ॥

किमेवं कुर्वतो भवति—

तथा ह्यस्य निःश्रेयसं भवति ॥ २६ ॥

एवमस्य निर्णयं कुर्वतो निःश्रेयसमुभयोर्लोकयोर्भवति। इह जनानुरागेणामुत्र धर्मप्राप्त्या चेति हेतोः ॥ २६ ॥

इस प्रकार निर्णय करने पर (राजा का दोनों लोकों में) कल्याण होता है ॥ २६ ॥

न केवलं राज्ञ एव सिद्धिः । किं तर्हि सह निर्णेतॄणां ब्राह्मणानामपीति दर्शयितुं श्रुतिमुदाहरति—

ब्रह्म क्षत्त्रेण संपृक्तं देवपितृमनुष्यान्धारयतीति विज्ञायते ॥२७॥

ब्रह्म त्रैविद्यलक्षणं क्षत्त्रेण संयुक्तं राज्ञा सह धर्मं विविञ्चद्देवपितृमनुष्यान्धारयतीति श्रुतिसिद्धम् । एवं निर्णये कृते यथोक्तं कर्मानुतिष्ठन्ति मनुष्याः । तच्च धर्म्यं कर्म देवा उपजीवन्ति पितरश्च न क्षीयन्त इति न्यायेन सर्वेषां धारणं भवतीति ॥ २७ ॥

क्षत्र अर्थात् राजा के साथ मिलकर ब्रह्म (अर्थात् विद्यात्रयी के ज्ञाता ब्राह्मण) देवताओं, पितरों और मनुष्यों का धारण करता है (उन्हें समृद्धि प्रदान करता है) ऐसा परम्परा से ज्ञात है ॥ २७ ॥

अथ दौःशील्याद् व्यवस्थां नानुमन्यन्ते ततः—

दण्डो दमनादित्याहुस्तेनादान्तान्दमयेत् ॥ २८ ॥

दमनयोगाद्दण्डशब्दस्य दण्डत्वमित्याहुर्धर्मज्ञाः । तेनादान्तानवश्यान्दमयेद्वशं नयेत् । दण्डेनादान्तान्दमयेदित्येवं सिद्धे दण्डः—

धिग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्वाग्दण्डं तदनन्तरम् ।
तृतीयं धनदण्डं तु वधदण्डं ततः परम् ॥
देवदानवगन्धर्वा रक्षांसि पतगोरगाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः ॥ इति ॥२८॥

दमन करने के कारण ही दण्डविधि को दण्ड कहा गया है, उसके द्वारा (राजा) उच्छृङ्खल व्यक्तियों को अपने वश में करे ॥ २८ ॥

अथैवं शास्त्रवश्यतया राज्ञा च स्वधर्मे स्थाप्यमानानां वर्णानामाश्रमाणां च कथं सिद्धिरित्यत आह—

वर्णाश्रमाः स्वस्वधर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतचित्र(वृत्त)वित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते ॥ २९ ॥

वर्णा ब्राह्मणादयः । आश्रमा ब्रह्मचर्यादयः । ते स्वधर्मनिष्ठा वर्णप्रयुक्तानाश्रमप्रयुक्तानुभयप्रयुक्तांश्च धर्माननुष्ठितवन्तः प्रेत्य मरणेन लोकान्तरं गत्वा तस्य तस्य कर्मणः फलं स्वर्गादिकमनुभूय ततस्तदनन्तरं शेषेण भुक्तावशिष्टेन कर्मणा विशिष्टदेशादिकान्भुक्त्वा जन्म प्रतिपद्यन्ते । तत्र विशिष्टशब्दो देशादिभिः सर्वैः संबध्यते । विशिष्टो देश आर्यावर्तादिः ।

विशिष्टजातिर्ब्राह्मणजातिः। विशिष्टकुलमध्ययनादिसंपन्नम्। विशिष्टरूपं कान्तिमत्। विशिष्टायुः सहषोडशं वर्षशतम्। सहषोडशं वर्षशतमजीवदिति दर्शनात्। रोगरहितत्वमप्यायुषो विशेषः। विशिष्ट श्रुतंब्राह्मणश्च बहुश्रुत इत्यत्र व्याख्यातम्। विशिष्टवृत्तमनुपाधि चारित्रम्। विशिष्टवित्तं धर्मार्जितं धर्मे प्रयुज्यमानं च। सुखं निरपायस्थानाधिष्ठानेनानिषिद्धसुखसेवनम्। विशिष्टमेधा ग्रन्थार्थयोर्ग्रहणशक्तिरिति। मेधाशब्दे सकारान्तत्वमार्षं सुमेधसो दुर्मेधस इत्यादिष्वेव दर्शनात्। कर्माणि भुज्यमानानि पुण्यान्यपुण्यानि च सशेषाण्येवं भुज्यन्ते। ऐहिकस्य शरीरग्रहणादेरपि पुण्यापुण्यनिबन्धनत्वात् ॥ २९ ॥

ब्राह्मणादि वर्णों और ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों के लोग अपने-अपने धर्म में रत रहने पर मृत्यु के बाद अपने कर्मों के फल का भोग करते हैं और उसके अनन्तर शेष बचे हुए कर्म के अनुसार विशेष देश, जाति, कुल, आयु, विद्या, आचार, धन, सुख और बुद्धि से युक्त होकर जन्म लेते हैं ॥ २९ ॥

विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति ॥ ३० ॥

ये वर्णाश्रमाः स्वानि कर्माणि यथावन्नानुतिष्ठन्ति ते विपरीता विष्वञ्चो नानायोनीर्गच्छन्तो नश्यन्ति। अनर्थपरम्परामनुभवन्तीति ॥ ३० ॥

इसके विपरीत आचरण वाले (अर्थात् स्वधर्म का पालन न करने वाले) अनेक योनियों में भटकते हुए नष्ट हो जाते हैं ॥ ३० ॥

तानाचार्योपदेशो दण्डश्च पालयते ॥ ३१ ॥

तान्विपरीतान्यथोक्तमकुर्वतो वर्णानाश्रमांश्चाऽऽचार्योपदेशस्तावत्पालयते। तत्राप्यतिष्ठतो राजदण्डः ॥ ३१ ॥

उन्हें (अर्थात् विपरीत आचरण वालों को) आचार्यों का उपदेश और राजा का दण्ड सँभालते हैं ॥ ३१ ॥

यत एवम्—

तस्माद्राजाचार्यावनिन्द्यावनिन्द्यौ ॥ ३२ ॥

तस्माद्धेतो राजाचार्यौ मान्यावनिन्द्याविति। यद्यपि नियमनकाले हितैषितया प्रमुखपुरुषौ भवतस्तथाऽपि तयोर्निन्दा न कार्या। [अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः] ॥ ३२ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
द्वितीयप्रश्ने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अतएव राजा और आचार्य की निन्दा न करे ॥ ३२ ॥

द्वितीय प्रश्न में द्वितीय अध्याय समाप्त।

अथ द्वितीयप्रश्ने तृतीयोऽध्यायः

दण्डेनादान्तान्दमयेदित्युक्तम् । तत्र कियत्यपराधे कियान्दण्ड इत्यत आह—

शूद्रो द्विजातीनभिसंधायाभिहत्य च वाग्दण्डपारुष्याभ्यामङ्गमोच्यो येनोपहन्यात् ॥ १ ॥

शूद्रश्चतुर्थो वर्णः । स द्विजातीन्ब्राह्मणादींस्त्रीन्वर्णान् । वाक्पारुष्येणाभिसंधायाभिभूय दण्डपारुष्येणाभिहत्य च । अभिरभिसंधिपूर्वं बुद्धिपूर्वं ताडयित्वा । दण्डग्रहणं हस्तादेरप्युपलक्षणम् । एवं कुर्वन्नङ्गमोच्योऽवयवेन वियोजनीया येनाङ्गेनोपहन्यादपराधं कुर्यात्तदङ्गं मोच्यः । हस्तेन ताडने हस्तच्छेदः पादेन ताडने पादच्छेदो वाचा जिह्वाच्छेदः । अत्र मनुः—

येनाङ्गेनावरो वर्णो ब्राह्मणस्यापराध्नुयात् ।
तदङ्गं तस्य च्छेत्तव्यं तन्मनोरनुशासनम् ॥ इति ।

पारुष्यग्रहणात्परिहासेनाप्रियवचने परिहासादिना ताडने च नेदं भवति ॥ १ ॥

शूद्र के जान बूझकर वाणी द्वारा या प्रहार द्वारा द्विजातियों को कष्ट पहुँचाने पर जिस अंग द्वारा शूद्र ने अपराध किया हो उसे (राजा) कटवा ले ॥ १ ॥

आर्यस्त्र्यभिगमने लिङ्गोद्धारः स्वहरणं च ॥ २ ॥

शूद्र इति प्रकृतं षष्ठ्यन्तमपेक्षते । आर्यास्त्रैवर्णिकाः । तेषां चेत्स्त्रियं शूद्रोऽभिगच्छेत्तस्य लिङ्गोद्धारो लिङ्गोत्पाटनं कार्यं यच्च यावच्च स्वं तस्य च हरणं दण्डः । आर्याभिगमनमित्येव सिद्धे स्त्रीग्रहणम्, आर्यगृहीतायां शूद्रायामपीति सूचनार्थम् । तत्र वैश्यस्त्रियां स्वहरणं क्षत्रियायां लिङ्गोद्धारः । ब्राह्मण्यामुभयमिति ॥ २ ॥

द्विजाति स्त्री के साथ सम्भोग करने पर शूद्र की जननेन्द्रिय कटवाकर उसकी सारी सम्पत्ति छीन ले ॥ २ ॥

गोप्ता चेद्वधोऽधिकः ॥ ३ ॥

स यदि शूद्रस्तासां गोप्ता रक्षिता भवति तदा वधः कार्यः अधिकग्रहणात्पूर्वोक्तदण्डद्वयमपि भवति ॥ ३ ॥

यदि वह शूद्र उस द्विजाति स्त्री का रक्षक हो तो पूर्वोक्त दण्डों के अतिरिक्त उसे वध दण्ड भी दे ॥ ३ ॥

अथ हास्य वेदमुपश्शृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः ॥ ४ ॥

अथ हेति वाक्यालंकारे। उपश्रुत्य बुद्धिपूर्वमक्षरग्रहणमुपश्रवणम्। अस्य शूद्रस्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां त्रपुणा जतुना च द्रवीकृतेन श्रोत्रे प्रतिपूरयितव्ये। उपश्रवणशब्देन यदृच्छया ध्वनिमात्रश्रवणे न दोषः। स चेद् द्विजातिभिः सह वेदाक्षराण्युदाहरेदुच्चरेत्। तस्य जिह्वा छेद्या। धारणे सति यदाऽन्यत्र गतोऽपि स्वयमुच्चारयितुं शक्नोति ततः परश्वादिना शरीरमस्य भेद्यम् ॥ ४ ॥

शूद्र के (अक्षर ग्रहण करने की इच्छा से) वेदपाठ सुनने पर (पिघलाये गए) सीसे और जस्ते से उसके कान भर दिये जाँय, (द्विजातियों के साथ) वेद के अक्षर का उच्चारण करने पर उसकी जीभ काट ली जाय तथा वेद मन्त्र धारण करने पर उसका शरीर काट डाला जाय ॥ ४ ॥

आसनशयनवाक्पथिषु समप्रेप्सुर्दण्ड्यः ॥ ५ ॥

शूद्रश्चेदासनादिषु द्विजातिभिः सह साम्यं प्रेप्सति तत्तुल्यभावं ततोऽसौ दण्ड्यः। दण्डश्चाऽऽपस्तम्बेन दर्शितः—

वाचि पथि शय्यायामासन इति समीभवतो दण्डताडनम्। इति। दण्डेनासौ ताड्य इति। अत्र मानवो विशेषः—

सहासनमभिप्रेप्सुरुत्कृष्टस्यापकृष्टकः।
कट्यां कृताङ्को निर्वास्यः स्फिजौ वाऽस्यस्य कर्तयेत् ॥ इति ॥ ५ ॥

द्विजातियों के साथ आसन, शयन, वार्तालाप और मार्ग में समानता प्राप्त करने का यत्न करने वाला शूद्र दण्ड्य होता है ॥ ५ ॥

शतं क्षत्रियो ब्राह्मणाक्रोशे ॥ ६ ॥

क्षत्रियश्चेद् ब्राह्मणमाक्रोशेद्वाचा परुषया निन्देत्ततः शतं दण्ड्यः। दण्डप्रकरणे सर्वत्र ताम्रिकस्य कार्षापणस्य ग्रहणमिति स्मार्तो व्यवहारः। शतं कार्षापणानि दण्ड्यः। दण्डपारुष्ये द्विगुणम्। अथाऽऽह बृहस्पतिः—

वाक्पारुष्ये कृते यस्य यथा दण्डो विधीयते।
तस्यैव द्विगुणं दण्डं कारयेन्मरणादृते ॥ १ ॥ इति ॥ ६ ॥

ब्राह्मण को कठोर वचन कहने पर क्षत्रिय को एक सौ (कार्षापण) दण्ड होता है ॥ ६ ॥

अध्यर्धं वैश्यः ॥ ७ ॥

वैश्यस्तु ब्राह्मणाक्रोशेऽध्यर्धं शतं दण्ड्योऽर्धाधिकं पञ्चाशदधिकं शतं दण्ड्यः ॥ ७ ॥

(ब्राह्मण को कठोरवचन कहने पर) वैश्य को डेढ़ गुना अर्थात् एक सौ पचास कार्षापण दण्ड होता है ॥ ७ ॥

ब्राह्मणस्तु क्षत्रिये पञ्चाशत् ॥ ८ ॥

क्षत्रियाक्रोशे ब्राह्मणस्तु पञ्चाशत्पणान्दण्ड्यः ॥ ८ ॥

वाणी द्वारा क्षत्रिय का अपमान करने पर ब्राह्मण को पचास कार्षापण दण्ड होता है ॥ ८ ॥

तदर्धं वैश्ये ॥ ९ ॥

वैश्याक्रोशे तदर्धं पञ्चविंशतिपणान्दण्ड्यः ॥ ९ ॥

वैश्य को कठोर वचन कहने पर पूर्वोक्त का आधा अर्थात् पचीस कार्षापण दण्ड ब्राह्मण को होता है ॥ ९ ॥

न शूद्रे किंचित् ॥ १० ॥

शूद्रे त्वाक्रुष्टे न किंचिदपि द्रव्यं ब्राह्मणो दण्ड्यः । तदिदं न वक्तव्यमवचनादेव दण्डाभावः सिध्येत् । किंतु क्षत्रियवैश्ययोः शूद्राक्रोशे दण्डप्रापणार्थमुक्तम् । तदुक्तमुशनसा—

शूद्रमाक्रुश्य क्षत्रियश्चतुर्विंशतिपणान्दण्डभाग्वैश्यः षट्त्रिंशत् इति ॥ १० ॥

शूद्र का वाणी द्वारा तिरस्कार करने पर ब्राह्मण किसी दण्ड का भागी नहीं होता ॥ १० ॥

ब्राह्मणराजन्यवत्क्षत्रियवैश्यौ ॥ ११ ॥

ब्राह्मणराजन्ययोः परस्पराक्रोशे यादृशो दण्डस्तादृशः क्षत्रियवैश्ययोः परस्पराक्रोशे । ततश्चैवं सूत्रमूहितव्यम् । शतं वैश्यः क्षत्रियाक्रोशे । क्षत्रिस्तु वैश्यं पञ्चाशत् । एवमन्तरप्रभवेष्वपि द्रष्टव्यम् । अत्र जमदग्निः—मातृतुल्यमनुलोमानां पितृतुल्यं प्रतिलोमानामिति ॥ ११ ॥

ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए परस्पर वचन द्वारा अपमान करने पर जो दण्ड होते हैं वे ही दण्ड क्षत्रिय और वैश्य को परस्पर वाणी द्वारा तिरस्कृत करने पर मिलते हैं ॥ ११ ॥

उक्तः साहसदण्डः । स्तेयदण्डमाह—

अष्टापाद्यं स्तेयकिल्बिषं शूद्रस्य ॥ १२ ॥

स्तेयं चौर्यम् । स्तेयोपात्तं द्रव्यं किल्बिषनिमित्तत्वात्किल्बिषमुच्यते । स्तेयेनोपात्तं द्रव्यमष्टगुणमापादनीयं शूद्रस्य । कर्तरि षष्ठ्येषा । स्तेयकिल्बिषं शूद्रोऽष्टगुणमापादयेद्राज्ञे दण्डरूपेण प्रतिपादयेदिति । तत्रैको गुणः स्वामिने देयः । शेषो राज्ञे । उक्तं च चोरहृतमवजित्येत्यादिना ॥ १२ ॥

शूद्र द्वारा चुराए गये धन का आठ गुना उससे दण्ड लें ॥ १२ ॥

द्विगुणोत्तराणीतरेषां प्रतिवर्णम् ॥ १३ ॥

इतरेषां वैश्यादीनां स्तेयकिल्बिषाणि प्रतिवर्णं द्विगुणोत्तराण्यापादनीयानि । वैश्यस्य षोडशगुणं क्षत्रियस्य द्वात्रिंशद्गुणं ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिगुणमिति ॥ १३ ॥

वैश्य आदि अन्य जातियों द्वारा चुराए गये धन का क्रमानुसार पूर्व वर्ण के लिए निर्धारित दण्ड का दूना दण्ड हो अर्थात् वैश्य को शूद्र से दूना अर्थात् चुराए गये धन का सोलह गुना, उससे दूना अर्थात् चुराये गये धन का बत्तीस गुना क्षत्रिय को और उससे दूना अर्थात् चुराये गये धन का चौंसठ गुना ब्राह्मण को दण्ड मिले ॥ १३ ॥

कस्मादिदमेवमित्याह—

विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम् ॥ १४ ॥

यथा यथा वर्णोत्कर्षेण विद्योत्कर्षस्तथा तथा विहितातिक्रमे दण्डभूयस्त्वं भवति । निषेधदोषं ज्ञात्वाऽपि प्रवर्तमानस्य दोषाधिक्यं भवति । अजानतस्त्वन्धकूपपतनवदनुग्रहोऽस्ति । अष्टापाद्यमित्यादेरपवादः ॥१४॥

वर्ण के उत्कर्ष के अनुसार विद्या का उत्कर्ष होने से अधिक दण्ड होता है। (जो नियम जानते हुए भी अपराध करे वह अधिक दोषी होता है) ॥ १४ ॥

फलहरितधान्यशाकादाने पञ्चकृष्णलमल्पम् ॥ १५ ॥

फलमाम्रादि । हरितधान्यं स्तम्बेऽवस्थितं व्रीह्यादि । शाकं वास्तूकादि । एतेषां स्तेयेनाऽऽदाने पञ्चकृष्णलं दण्डः । कृष्णलं गुञ्जाबीजप्रमाणम् ।

माषो विंशतिभागस्तु ज्ञेयः कार्षापणस्य हि ।
कृष्णलस्तु चतुर्थांशो माषस्यैष प्रकीर्तितः ॥ इति ।

पञ्चानां कृष्णलानां समाहारः पञ्चकृष्णलम्। अल्प तच्चेत्फलादि अल्पमुदरपूरणमात्रम्। अधिके त्वष्टापाद्यमेव ॥ १५ ॥

अल्प फल, हरे धान्य और शाक की चोरी करने पर पांच कृष्णल दण्ड होता है ॥ १५ ॥

पशुपीडिते स्वामिदोषः ॥ १६ ॥

पशुभिरुपहृते सस्यादौ पशुमतो दोषः। दण्डपरिमाणं वक्ष्यति ॥१६॥

किसी पशु के फसल आदि नष्ट करने पर पशु के स्वामी का दोष होता है ॥ १६ ॥

पालसंयुक्ते तु तस्मिन् ॥ १७ ॥

स चेत्पशुः पालाय स्वामिना समर्पितस्तदा तस्मिन्पाले दोषः। पालयतीति पालो गोपालः। इदं प्रमादकृते, बुद्धिपूर्वे तु द्विगुणो दण्डः। तथा स्मृत्यन्तरे दर्शनात् ॥ १७ ॥

पशु के साथ चरवाहा लगा हो तो (पशु द्वारा फसल आदि की हानि होने पर) चरवाहे का दोष होता है ॥ १७ ॥

पथि क्षेत्रेऽनावृते पालक्षेत्रिकयोः ॥ १८ ॥

क्षेत्रिकः क्षेत्रवान् यस्य क्षेत्रं पथ्यनावृतं भवति तत्र पशुपीडिते पालक्षेत्रिकयोरुभयोर्दण्डोऽर्धमर्धम्। पालस्यानवधानात्क्षेत्रिकस्य वृत्त्यकरणाच्च।

वृतिं च तत्र कुर्वीत यामुष्ट्रो नावलोकयेत्।

इति मानवे दर्शनात् ॥ १८ ॥

मार्ग से सटे हुए खेत के घिरा न होने पर (यदि पशु हानि करे तो) खेत के स्वामी और पशु के स्वामी दोनों का दोष होता है ॥ १८ ॥

दण्डपरिमाणमाह—

पञ्च माषा गवि ॥ १९ ॥

उशनसा माषो दर्शितः—

माषो विंशतिभागस्तु ज्ञेयः कार्षापणस्य हि।
काकिणी तु चतुर्थांशो माषस्यैव प्रकीर्तितः ॥ इति ॥

माषाः पञ्च गोपीडिते सस्यादौ दण्डः ॥ १९ ॥

गाय के द्वारा (खेत को क्षति पहुँचाने पर) पांच माष दण्ड होता है ॥१९॥

षडुष्ट्रखरे ॥ २० ॥

द्वंद्वैकवद्भावः। उष्ट्रखरे तूपहर्तार प्रत्येकं षण्माषा दण्डः ॥ २० ॥

ऊँट और गधे द्वारा क्षति होने पर छः छः माष दण्ड होता है ॥ २० ॥

अश्वमहिष्योर्दश ॥ २१ ॥

लिङ्गमविवक्षितम्। अश्वे महिषे च प्रत्येकं दश माषा दण्डः ॥ २१ ॥

घोड़े और भैंस द्वारा हानि होने पर दश माष दण्ड होता है ॥ २१ ॥

अजाविषु द्वौ द्वौ ॥ २२ ॥

अजेष्वविषु चोपसंहन्तृषु द्वौ द्वौ माषौ। संभूय चरन्तीति बहुवचनम्। प्रत्यजं प्रत्यविकं द्वौ द्वौ दण्डः ॥ २२ ॥

बकरी और भेंड़ द्वारा क्षति होने पर दो-दो माष दण्ड होता है ॥ २२ ॥

सर्वविनाशे शदः ॥ २३ ॥

यथा पुनः प्ररोहो न भवति तथा सर्वविनाशे शदो दण्डः। शद इति भागाभिधानम्। यावांस्तत्र भाग उत्पत्स्यते तावत्स्वामिने देयम्। राज्ञे चानुरूपो दण्डः ॥ २३ ॥

फसल के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर (अर्थात् इस प्रकार नष्ट हो जाय कि पुनः अंकुर न उगें तो) उसकी पूरी उपज राजा स्वामी को अपराधी से दिलावे ॥ २३ ॥

शिष्टाकरणे प्रतिषिद्धसेवायां च नित्यं चैलपिण्डादूर्ध्वं स्वहरणम् ॥ २४ ॥

शिष्टं विहितम्। नित्यं शिष्टस्याकरणे नित्यं च 'प्रतिषिद्धसेवायां चैलपिण्डादूर्ध्वं चैलमाच्छादनं पिण्डो ग्रासस्ताभ्यामूर्ध्वं यावता तयोर्निवृत्तिस्ततोधिकं यत्स्वं तस्य हरणं कार्यम्। आच्छादनासनार्थं यत्किंचित्परिहाप्यावशिष्टमस्य स्वं हर्तव्यमित्येवमतो निवृत्तेः ॥ २४ ॥

विहित कर्म के न करने एवं निषिद्ध कर्म करने पर राजा उस व्यक्ति से नित्य ही भोजन वस्त्र के अतिरिक्त धन का हरण कर ले ॥ २४ ॥

अदत्तादाननिषेधविषयेऽपवादमाह—

गोग्न्यर्थे तृणमेधान्वीरुद्वनस्पतीनां च पुष्पाणि स्ववदाददीत फलानि चापरिवृतानाम् ॥ २५ ॥

अग्निः श्रौतस्मार्तोऽग्निर्न लौकिकः। गवार्थे तृणानि। अग्न्यर्थ एधान्वीरुद्वनस्पतीनाम्। लतानां वृक्षाणां पुष्पाणि देवतार्चनार्थानि नोपभोगार्थानि। गवाग्निसाहचर्याद्देवतार्थानीति गम्यते। एतानि। तृणादीनि स्वा-

भिर्भिरदत्तान्यपि स्ववदाददीत। यथा स्वामी निःशङ्कमादत्ते तद्वदाददीत। ते वीरुद्वनस्पतयोऽपरिवृताश्चेत्तेषां फलान्यपि स्ववदाददीत न स्वाम्यपेक्षा। फलविषयमेतदपरिवृतत्वं न तृणादिविषयम्। पृथग्वाक्यत्वात्॥ २५॥

गाय के लिए चारा, श्रौत एवं स्मार्त अग्नि के लिए ईन्धन, (देवता की पूजा के लिए) लताओं एवं वृक्षों के फूल तथा अरक्षित पेड़ों के फल बिना स्वामी की आज्ञा के भी स्वेच्छापूर्वक ग्रहण किये जा सकते हैं॥ २५॥

कुसीदवृद्धिर्धर्म्या विंशतिः पञ्चमाषिकी मासम्॥ २६॥

वृद्ध्यर्थं प्रयुक्तस्य द्रव्यस्य कुसीदसंज्ञा। माषः कार्षापणस्य विंशतितमो भाग इत्युशनसोक्तम्। पञ्च माषा वृद्धिरूपेण दीयन्ते यत्र विंशतौ सा पञ्चमाषिकी। तदस्मिन्वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयत इत्यत्रार्थे प्राग्वहतेष्ठक्। अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायामिति लुक्प्राप्तो न कृतः स्वाच्छन्द्यादृषिणा। कार्षापणानां विंशतिः प्रतिमासं पञ्चमाषिकी यथा भवति तथा भवन्ती कुसीदवृद्धिर्धर्मादनपेता।

अत्र मनुः—

> वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम्।
> अशीतिभागं गृह्णीयान्मासाद्वार्धुषिकः शतः॥ इति।

अत्रापीयमेव वृद्धिरुक्ता। कथम्। पणस्य विंशतितमो भागो माषः। पणानां विंशतिश्चतुःशती माषाणां संपद्यते। चतुःशत्याः पञ्च माषा वृद्धिरशीतेरेका। पञ्चशतीति यश्चतुरशतीति (?)।

याज्ञवल्क्यस्तु—

> अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके।
> वर्णक्रमाच्छतं द्वित्रिचतुःपञ्चकमन्यथा॥ इति।

विश्वासार्थं यदाधीयते सुवर्णादि तद्बन्धकम्। तदुक्ते धनप्रयोगे वर्णानुपूर्व्याद् ब्राह्मणादिष्वधमर्णेषु धनं पित्र्यादियुक्तं क्रमाद्भवति॥ २६॥

धर्मसम्मत व्याज प्रतिमास बीस कार्षापण पर पाँच माष होता है॥ २६॥

नातिसांवत्सरीमेके॥ २७॥

येयमशीतिभागलक्षणा धर्म्या वृद्धिस्तामतिसांवत्सरीं संवत्सरेऽतिक्रान्ते भवां न गृह्णीयात्, एकस्मिन्नेव संवत्सरे प्रतिमासमशीतिभागो ग्राह्यस्तत ऊर्ध्वं न किंचिदपि ग्राह्यमेषा धर्म्या भवतीत्येके मन्यन्ते। अतिसांवत्सरीमिति रूपसिद्धिश्चिन्त्या॥ २७॥

कुछ आचार्यों का मत है कि एक वर्ष हो जाने पर व्याज नहीं लेना चाहिए॥ २७॥

स्वमतमाह—

चिरस्थाने द्वैगुण्यं प्रयोगस्य ॥ २८ ॥

यावता कालेन प्रयुक्तं धनं द्विगुणं भवति तावन्तमेव कालं धर्म्यया वृद्ध्या विवर्धते नातः परमिति सुवर्णादिद्रव्यविषयमेतत् ।

अत्र वसिष्ठः—

द्विगुणं हिरण्यं त्रिगुणं धान्यम् । धान्येनैव रसा व्याख्याताः । वृक्ष-मूलफलानि च तुलाधृतमष्टगुणमिति । चिरग्रहणात्सहस्रेणापि संवत्सरैर्न द्वैगुण्यात्परं वर्धत इति ॥ २८ ॥

जितने समय में मूलधन दूना हो जाय उतने समय तक ही ब्याज लेना धर्म सम्मत है ॥ २८ ॥

भुक्ताधिर्न वर्धते ॥ २९ ॥

विश्वासार्थं यदाधीयते कांस्याभरणादि स आधिः । स चेद् भुक्तः प्रयुक्तोऽर्थो न वर्धते । भोग एव तत्र वृद्धिरिति ॥ २९ ॥

बन्धक रखी हुई वस्तु का ऋणदाता भोग करे तो ऋण पर ब्याज नहीं होता ॥ २९ ॥

दित्सतोऽवरुद्धस्य च ॥ ३० ॥

धनिने धनं दातुमिच्छतोऽधमर्णस्य धनं न वर्धते । धनी वृद्धिलोभाद् व्याजेन न गृह्णाति चेत्तस्मिन्नेव दिवसे परहस्ते स्थाप्यं तदारभ्य वृद्धिर्न वर्धते तथा यो दित्सन्नधमर्णो राजादिनाऽवरुद्धस्तस्यापि दातुमसमर्थस्य द्रव्यं तत आरभ्य न वर्धते ॥ ३० ॥

ऋणी के धन लौटाने की इच्छा करने पर भी यदि ऋणदाता (ब्याज के लोभ से) धन न ले अथवा राजा ऋणी को धन लौटाने से रोक दे तो (उस समय से) ब्याज की वृद्धि नहीं होती है ॥ ३० ॥

अथाऽऽपदि वृद्ध्यन्तराण्याह—

चक्रकालवृद्धिः ॥ ३१ ॥

वृद्धिशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते । यावता कालेन यावती वृद्धिस्तामपि मूलीकृत्य तावतो मूलस्य पुनर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिः ।

यथाऽऽह नारदः—वृद्धेरपि पुनर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिरुदाहृता ॥ इति ।

इयतः कालस्येयती वृद्धिरिति यत्र समयेन गृह्यते सा कालवृद्धिः ॥३१॥

मूलधन और ब्याज दोनों को जोड़कर पुनः उस पर ब्याज लगाने से चक्र-

वृद्धि और समय के आधार पर ब्याज का निर्धारण करने पर कालवृद्धि ब्याज होता है ॥ ३१ ॥

कारिताकायिकाशिखाधिभोगाश्च ॥ ३२ ॥

वृद्धय इति शेषः। प्रयोक्त्रा ग्र(गृ)हीत्रा च देशकालकार्यावस्थापेक्षया प्रभूता न्यूना वा स्वयमेव कल्पिता वृद्धिः कारिता। कायिका कायकर्मसंशोध्या।

यथा बृहस्पतिः—कायिका कर्मसंयुक्ता। इति।

व्यासस्तु—दोह्यबाह्यकर्मयुक्ता कायिका समुदाहृता ॥ इति।

शिखावृद्धिं कात्यायन आह—

प्रत्यहं गृह्यते या हि शिखावृद्धिस्तु सा स्मृता।
शिखेव वर्धते नित्यं शिरश्छेदान्निवर्तते ॥
मूले दत्ते तथैवैषा शिखावृद्धिस्ततः स्मृता ॥ इति।

उदाहरणम्—तण्डुलप्रस्थस्य प्रत्यहं तण्डुलमुष्टिर्गृह्यत इति। आधिभोग आहितस्य क्षेत्रस्य भोगोऽनुभवः। तत्रानुभव एव वृद्धिः। सा च शतेनापि संवत्सरैर्न निवर्तते। क्षेत्रं चोत्तमर्णस्य न भवति। यदा कदाचिदपि मूलप्रदाने सत्यधमर्णस्य भवति। अधिभोग इत्यन्ये। भोगमधिकृत्य वर्तते इत्यधिभोगवृद्धिः। तत्राप्येष एवार्थः। एतासु चक्रवृद्ध्यादिषु वृद्धेर्द्वैगुण्यात्परमपि भवत्येव ॥ ३२ ॥

देश, काल, कार्य और अवस्था के आधार पर निर्धारित अल्प या अधिक ब्याज (कारिता), शारीरिक श्रम द्वारा चुकाया जाने वाला ब्याज (कायिका), प्रतिदिन ग्रहण किया जाने वाला ब्याज (शिखावृद्धि), तथा बन्धक रखी हुई वस्तु या खेत के उपभोग के रूप में ब्याज (ये वृद्धि के चार और भेद हैं) ॥ ३२ ॥

कुसीदं पशूपजलोमक्षेत्रशदवाह्येषु नातिपञ्चगुणम् ॥ ३३ ॥

पशोरुपजातं पशूपजं घृतक्षीरादि। ऊर्णाकम्बलचामरवालव्यजनादि लोम क्षेत्रशदः क्षेत्रभोगः। वाह्यं बलीवर्दादि। बाह्यमिति प्रायेण पठन्ति तत्राप्येष एवार्थः। एतेषु पशूपजादिषु प्रयुक्तेषु तत्कुसीदं यावत्पञ्चगुणं वर्धते पञ्चगुणतां नात्येति। अपर आह—पशूपजादिषु मूलत्वेन कल्पितस्य द्रव्यस्य तदानीमप्रदाने यावत्पञ्चगुणं वर्धते, धर्म्यया च वृद्ध्या पञ्चगुणतां नात्येति ॥ ३३ ॥

पशुओं से उत्पन्न घी, दूध आदि, ऊन, कम्बल, चामर, बालव्यजन आदि

लोम, खेत की उपज, और बैल आदि वाहन के साधनों से संबद्ध व्याज उनके पाँचगुने से अधिक नहीं होता ॥ ३३ ॥

अजडापौगण्डधनं दशवर्षभुक्तं परैः संनिधौ भोक्तुः ॥ ३४ ॥

जड उन्मत्तः पौगण्डो व्याकृतव्यवहारः । यो जडो न भवति पौगण्डो वा न भवति तस्य धनं परैस्तत्संनिधावेव चेद्दश वर्षाणि भुक्तं भवति तदा तद्धनं भोक्तुरेव स्वमिति निश्चीयते । स एव भोगः स्वामिनः सकाशाद्दानादिरूपेण तस्य धनस्य निर्गतं सूचयति । कथमपरथैतावन्तं कालमेवमर्थमपरलोके तूष्णीमासीतेति ।

अत्र क्षेत्रविषये याज्ञवल्क्यः—

पश्यतो ब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी ।
परेण भुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी ॥ इति ।

पश्यन्नन्यस्य ददतः क्षितिं यो न निवारयेत् ।
स्वामी सताऽपि लेखेन न स तल्लब्धुमर्हति ॥ इति बृहस्पतिः ।

अत्र मनुः—

यत्किंचिद्दश वर्षाणि संनिधौ प्रेक्षते धनी ।
भुज्यमानं परैस्तूष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति ॥ इति ।

अनागमं तु यो भुंक्त इत्यादि स्वसंनिधिविषयाणि जडादिविषयाणि वा ॥ ३४ ॥

जो व्यक्ति जड़ (पागल) न हो अथवा बालिग (१६ वर्ष से कम आयु का) न हो उसके उपस्थित रहते यदि कोई दूसरा व्यक्ति उसके धन का दस वर्ष तक भोग करे तो उस धन पर भोक्ता का स्वामित्व हो जाता है ॥ ३४ ॥

अस्यापवादः—

न श्रोत्रियप्रव्रजितराजपूरुषैः ॥ ३५ ॥

श्रोत्रियादिभिर्भुज्यमानं न भोगमात्रात्तेषां भवति । उपेक्षाकारणत्वोपपत्तेः । श्रोत्रियप्रव्रजितयोर्धर्मतृष्णयोपेक्षेति । राजपुरुषस्य तु भयेन । राजपुरुषग्रहणं सर्वेषां बलवतामुपलक्षणम् । एतेन साहसिका व्याख्याता । अपरिग्रहस्यापि प्रव्रजितस्य स्वस्वामिके शून्यगृहादावुपभोगः संभवति ॥ ३५ ॥

वेदज्ञ ब्राह्मण और परिव्राजक राजपुरुषों द्वारा भी किसी का धन एवं भुक्त होने पर (दस वर्ष बाद भी) उनके अधिकार में नहीं जाता ॥ ३५ ॥

पशुभूमिस्त्रीणामनतिभोगः ॥ ३६ ॥

पशवश्चतुष्पादः । भूमिः क्षेत्रारामादिका । स्त्रियः परिचारिका

दास्यः। पश्वादीनां स (स्व) त्वे नातिभोगोऽपेक्षितः। अल्पेनापि भोगेन भोक्तुः स्वं भवति। कथमनन्तरगृहे दृश्यमानां गां स्वयं तक्रादि क्रीत्वोपयुञ्जान उपेक्षेत, कथं वा बहुफलमारामं, कथं वा दासीं यौवनस्थामन्वहं परिचारिकाम् ॥ ३६ ॥

गाय बैल आदि पशु, उपवन, वाटिका आदि भूमि और स्त्रियों (दासी) पर अल्प समय (दस वर्ष से कम समय) तक भी उपभोग करने पर भोक्ता का ही स्वामित्व हो जाता है ॥ ३६ ॥

रिक्थभाज ऋणं प्रतिकुर्युः ॥ ३७ ॥

ये यस्य रिक्थभाजस्ते तदृणं प्रतिदद्युः। पुत्रपौत्रैस्तु रिक्थाभावेऽपि देयम्। तथा च बृहस्पतिः—

ऋणमात्मीयवत्पित्र्यं पुत्रैर्देयं विभावितम्।
पैतामहं समं देयं न देयं तत्सुतस्य तत् ॥ इति।

नारदः—क्रमादभ्यागतं प्राप्तं पुत्रैर्यन्नर्णमुद्धृतम्।
दद्युः पैतामहं पौत्रास्तच्चतुर्थान्निवर्तते ॥

याज्ञवल्क्यः—पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि च।
पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम् ॥ इति ॥३७॥

ऋणी व्यक्ति की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी उसके ऋण का भुगतान करें ॥ ३७ ॥

प्रातिभाव्यवणिक्शुल्कमद्यद्यूतदण्डाः पुत्रान्नाभ्याभवेयुः ॥ ३८ ॥

अत्र नारदः—

उपस्थानाय दानाय प्रत्ययाय तथैव हि।
त्रिविधः प्रतिभूर्दृष्टस्त्रिष्वेवार्थेषु सूरिभिः ॥ इति।
तस्य प्रतिभुवि प्रेते दायादानपि दापयेत् ॥ इति।

विष्णुयाज्ञवल्क्यौ—दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते।
आद्यौ तु वितथे दाप्यावितरस्य सुता अपि ॥ इति।

तस्मादिदमपि दानप्रतिभूव्यतिरिक्तविषयं द्रष्टव्यम्।

अहमेनं दर्शयिष्यामीति प्रातिभाव्यं तमदर्शयित्वा पितरि प्रेते न तत्पुत्रेणासौ दर्शयितव्य इति। वणिग्वाणिज्यार्थमुपात्तं द्रव्यं तदपि न पुत्रानभ्याभवति। यदा सलाभमूलं दास्यामीति परिभाष्य कस्यचित्सकाशाद् द्रव्यं गृहीत्वा वाणिज्याय देशान्तरं गतो म्रियेत तदा तत्पुत्रेण न तत्प्रतिकर्तव्यमिति। तथा शुल्कं प्रतिश्रुत्य विवाहं कृत्वा मृते तत्पुत्रं न तच्छुल्कमभ्याभवति। तथा मूलं दास्यामीति मद्यं बहु पीत्वा मृते न

तत्पुत्रेण तद्दातव्यम्। तथा द्यूतं कृत्वा पराजितस्तत्पणद्रव्यमदत्त्वैव यदि म्रियते तदा तत्पुत्रो न दातुमर्हति। य(त) था व्यवहारे पराजितो राज्ञे दण्डमदत्त्वैव यदि म्रियते तदा न सोऽपि दण्डः पुत्रानभ्याभवति ॥३८॥

प्रतिभू होकर, व्यापार के लिए ऋण लेने पर, विवाह में देय धन न देकर, मद्यपान और द्यूतक्रीडा के लिए ऋण लेने पर तथा राजा द्वारा लगाये गए किसी दण्ड का भागी होने वाले व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसके पुत्र देनदार नहीं होते ॥ ३८ ॥

निध्यन्वाधियाचितावक्रीताधयो नष्टाः सर्वाननिन्दिता-न्पुरुषापराधेन ॥ ३९ ॥

निधिर्निक्षेपः। 'स्वं द्रव्यं यत्र विस्रम्भान्निक्षिपत्यविशङ्कितः' स निक्षेपः। अन्वाधिरुपनिधिः। औपनिधिकमिति स्मृत्यन्तरे प्रसिद्धम्। तत्र याज्ञवल्क्यः—

भाजनस्थमनाख्याय हस्ते न्यस्य यदर्प्यते।
द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत् ॥ इति।

याचितमुत्सवादिष्वाभरणादि। अवक्रीतमदत्तमौल्यमर्धदत्तमौल्यं वा। आधिर्गोप्याधिः। एते निध्यादयो यदि पुरुषापराधेन विना नष्टा भवन्ति चोरादिभिरपहृताः [वा] सर्वांस्ताननिन्दितानाहुरदोषानाहुः। न केवलं पुत्रानेव नाभ्याभवेयुः किं तर्हि येषां सकाशे निध्यादयः कृता-स्तानपि नाभ्याभवन्ति। अनिन्दितेति ते यदि पूर्वं दृष्टदोषा भवन्ति तदा पूर्वमिदम्। पुरुषापराधस्तु यदि धारयितारः स्वद्रव्यवन्न रक्षयेयुः, यद्यग्निभयादौ स्वद्रव्यं गृहीत्वा निध्याद्युपेक्षेरन्स्वद्रव्यं वा गुप्तं निधाय बहिर्निध्यादि स्थापयेयुः। एतस्मिन्पुरुषापराधे सति दद्युरेव ॥ ३९ ॥

धरोहर रखा हुआ, भूमि में छिपाया गया, माँग कर लाया गया, विश्वास पर खरीदा गया और बन्धक रखा गया धन यदि किसी व्यक्ति के अपराध के बिना नष्ट हो जाय तो वह व्यक्ति दोषी नहीं होता है ॥ ३९ ॥

स्तेनः प्रकीर्णकेशो मुसली राजानमियात्कर्माऽऽचक्षाणः ॥४०॥

स्तेनः सुवर्णस्तेयकृत्।

सुवर्णस्तेयकृद्विप्रो राजानमभिगम्य तु।
स्वकर्म ख्यापयन्ब्रूयान्मां भवाननुशास्त्विति ॥ इति मानवम्।

प्रकीर्णकेशो मुक्तकेशः। आयसः खादिरो वा मुसल इति स्मृत्य-न्तरम्। तद्वान्। अंसे मुसलमाधायेत्यापस्तम्बः। राजानमियात्कर्माऽऽ-चक्षाणः। एवंकर्माऽस्मि प्रशाधि मामिति ब्रुवाणः ॥ ४० ॥

चोर अपने केशों को बिखराये हुए, हाथ में मूसल लेकर राजा के पास अपने अपराध की घोषणा करते हुए पहुँचे ॥ ४० ॥

पूतो वधमोक्षाभ्याम् ॥ ४१ ॥

वधस्ताडनं मरणान्तिकम्। तेनैनं हन्यादित्यापस्तम्बः। सकृदेव ताडनम्।

गृहीत्वा मुसलं राजा सकृद्धन्यात्तु तं स्वयम्।

इति स्मरणात्। मोक्षो मोचनम्। पुनरेवंविधं मा कार्षीर्गच्छेति। ताभ्यां च वधमोक्षाभ्यां स्तेनः पूतो भवति। हतोऽपि शुध्यति मुक्तोऽपि शुध्यतीति ॥ ४१ ॥

उसी मूसल के द्वारा एक बार प्रहार करने से उसकी मृत्यु हो जाय अथवा राजा (चेतावनी देकर) छोड़ दे तो वह चोर दोषमुक्त हो जाता है ॥ ४१ ॥

अघ्नन्नेनस्वी राजा ॥ ४२ ॥

यदि दयादिना तं न हन्याद्राजा स्वयमेनस्वी भवति। चोरस्य यदेनस्तदस्य भवतीति ॥ ४२ ॥

दया के वशीभूत होकर अपराधी को दण्ड न देने पर राजा स्वयं उस पाप से युक्त होता है ॥ ४२ ॥

अयं तु दण्डो ब्राह्मणवर्जमिति दर्शयति—

न शारीरो ब्राह्मणदण्डः ॥ ४३ ॥

स्वयमुपस्थितस्यापि ब्राह्मणस्य शारीरो दण्डो न कर्तव्यो मोक्ष एव। तथा च मनुः—

वधेन शुध्यति स्तेनो ब्राह्मणस्तपसैव च ॥ इति।

अत्रैवकारबलात्तदानीं तस्यापि ब्राह्मणस्य तपसा मोक्षः। न क्वापि निमित्ते हस्तच्छेदादिकर्मापि कर्तव्यमित्येवमर्थः। तथा च मनुः—

त्रिषु वर्णेषु तानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत्। इति।

तपस्विब्राह्मणविषयमिदम् ॥ ४३ ॥

स्वयं उपस्थित होने पर भी ब्राह्मण को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता ॥ ४३ ॥

अन्यस्य तु यथापराधं दण्डमाह—

कर्मवियोगविख्यापनविवासनाङ्ककरणानि ॥ ४४ ॥

यथा पुनस्तत्कर्म न करोति तथा करणं कर्मवियोगः। सर्वस्वहरणं प्रतिभूग्रहणमित्यादि। विख्यापनं चौर्यचिह्नेन ग्रामनगरादिष्वाघोषणम्।

विवासनं निर्वासनम्। यथापराधं ग्रामनगराद्राष्ट्राद्वा। अङ्ककरणं चिह्नकरणम्।

तत्र मनुः—गुरुतल्पे भगः कार्यः सुरापाने सुराध्वजः।
स्तेये तु श्वपदं कार्यं ब्रह्महण्यशिराः पुमान्॥ इति।

एषां कर्मवियोगादीनामेनःसु गुरुषु गुरूणि लघुषु लघूनीति न्यायेनापराधानुरूपा व्यवस्था। एतन्महापातकविषयम्। अङ्ककरणं तु तपस्विब्राह्मणस्यापि भवत्येव॥ ४४॥

(अपराधी ब्राह्मण के लिए) पाप कर्म से विमुख करने, अपराध की घोषणा करने, राज्य से निष्कासित करने और शरीर पर विशेष चिह्न लगाने का दण्ड होता है॥ ४४॥

अप्रवृत्तौ प्रायश्चित्ती सः॥ ४५॥

यस्तु राजा चोरविषयेष्वेवंदण्डको न वर्तते तस्यामप्रवृत्तौ स्वयं प्रायश्चित्ती भवति। तत्र वसिष्ठः—दण्डयोत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्त्रिरात्रं पुरोहितः। कृच्छ्रमदण्ड्यदण्डने पुरोहित एकरात्रं त्रिरात्रं राजेति॥४५॥

यदि राजा चोर को दण्ड नहीं देता तो वह स्वयं प्रायश्चित्त करे॥ ४५॥

चोरसमः सचिवो मतिपूर्वे॥ ४६॥

साचिव्यं प्रतिश्रयाशनदानादि साहाय्यम्। तच्चेन्मतिपूर्वं चोरोऽयमिति ज्ञात्वाऽपि यदि साचिव्यं करोति स चोरसमश्चोरवद्दण्ड्यः। अज्ञाते पुनरज्ञानमेव शरणम्॥ ४६॥

पहले से जानते हुए भी चोर को सहायता और आश्रय देने वाला चोर के समान ही अपराधी होता है॥ ४६॥

प्रतिग्रहीताऽप्यधर्मसंयुक्ते॥ ४७॥

अपिशब्दान्मतिपूर्वं इत्यनुवर्तते। योऽन्यस्य द्रव्यमनेन चोरितमिति जानन्नेव ततः प्रतिगृह्णाति सोऽपि तस्मिन्नधर्मसंयुक्ते प्रतिग्रहे चोरसमः। प्रकरणादेव सिद्धेऽधर्मसंयुक्तग्रहणमन्यत्रापि पापविषये प्रतिग्रहीतुस्तत्तत्पापं भवतीति ज्ञापनार्थम्॥ ४७॥

अधर्मयुक्त (चोरी के) धन को जानबूझकर ग्रहण करने वाला भी चोर के समान ही दण्ड का भागी होता है॥ ४७॥

पुरुषशक्त्यपराधानुबन्धविज्ञानाद्दण्डनियोगः॥ ४८॥

पुरुषो ब्राह्मणादिजातिः। शक्तिरर्थदण्डे बह्वर्थोऽल्पार्थ इति, शरीर-

दण्डे दुर्बलः प्रबलो वेति चिन्ता। अपराधः साक्षात्कर्तृत्वं साचिव्यकर्तृत्वं वेति। अनुबन्धोऽभ्यासः। एतान्पुरुषान्विज्ञाय तदनुरूपो दण्डो नियोक्तव्य इति ॥ ४८ ॥

पुरुष की (आर्थिक और शारीरिक) शक्ति, अपराध और अपराध के अभ्यास का ज्ञान प्राप्त करके ही उसके अनुरूप दण्ड देना चाहिए ॥ ४८ ॥

अनुज्ञानं वा वेदवित्समवायवचनाद्वेदवित्समवायवचनात् ॥४९॥

वेदविदां त्रयाणां चतुर्णां वा समवायः संघः। अत्र मनुः—

चत्वारो वा त्रयो वाऽपि यं ब्रूयुर्वेदपारगाः।
स धर्म इति विज्ञेयो नेतरेषां सहस्रशः॥ इति।

तस्य संघस्य वचनादनुज्ञानं वा कर्तव्यम्। अनुपरोधो धर्मो वचनीय इति यदि ते ब्रूयुस्तदा वक्तव्यमनुजानामि त्वां गच्छ यथेष्टमिति [अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः] ॥ ४९ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
द्वितीयप्रश्ने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथवा वेदज्ञ (तीन या चार) व्यक्तियों के संघ की आज्ञा के अनुसार दण्ड देना चाहिए या अपराधी को छोड़ देना चाहिए ॥ ४९ ॥

द्वितीयप्रश्ने तृतीयोऽध्यायः समाप्तः।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

विप्रतिपत्तौ साक्षिनिमित्ता सत्यव्यवस्था ॥ १ ॥

विप्रतिपत्तौ साक्षिणः प्रष्टव्याः। तैर्यथोक्तं तथा सत्यं व्यवस्थाप्यम्। अत्र नारदः—एकादशविधः साक्षी शास्त्रे दृष्टो मनीषिभिः।

कृतः पञ्चविधस्तेषां षड्विधोऽकृत उच्यते ॥
लिखितः स्मारितश्चैव यदृच्छाभिज्ञ एव च।
गूढश्चोत्तरसाक्षी च साक्षी पञ्चविधः कृतः ॥
अन्ये पुनरनुद्दिष्टाः साक्षिणः समुदाहृताः।
ग्रामश्च प्राड्विवाकश्च राजा च व्यवहारिणाम् ॥
कार्येष्वभ्यन्तरो यश्च अर्थिना प्रहितश्च यः।
कुल्याकुल्यविवादेषु भवेयुस्तेऽपि साक्षिणः ॥ इति ॥१॥

जटिल विवाद होने पर साक्षियों की सहायता से सत्य का निर्णय करे ॥१॥

ते पुनः कीदृशाः कियन्तो वेत्याह—

बहवः स्युरनिन्दिताः स्वकर्मसु प्रात्ययिका राज्ञां निष्प्रीत्यनभितापाश्चान्यतरस्मिन् ॥ २ ॥

वर्णप्रयुक्तान्याश्रमप्रयुक्तान्युभयप्रयुक्तानि स्वानि कर्माणि श्रौतानि स्मार्तानि च। तेष्वनिन्दिता अकरणादन्यथाकरणाद्वा। अत्र याज्ञवल्क्यः—

त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः। इति।

प्रत्ययो विश्वासस्तेन ये चरन्ति ते प्रात्ययिकाः। य एवंभूता [स्ते] राज्ञामदृष्टदोषतया विश्वसनीयाः। अर्थिप्रत्यर्थिनोरन्यतरास्मिन्निष्प्रीतयो निःस्नेहा अनभितापा अकृतद्वेषाः। एवंभूता बहवः साक्षिणः स्युः। अत्र याज्ञवल्क्यः—

उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि धर्मवित्। इति।
अभ्यन्तरस्तु निक्षेपे साक्ष्यमेकोऽपि वाच्यते।
अर्थिना प्रहितः साक्षी भवत्येकोऽपि याचितः ॥ इति कात्यायनः।
प्रमाणमेकोऽपि भवेत्साहसेषु विशेषतः। इति व्यासः ॥ २ ॥

अपने कर्म में प्रतिष्ठित, राजाओं के विश्वासपात्र, (अर्थी और प्रत्यर्थी दोनों पक्षों में से किसी के प्रति) पक्षपात या द्वेष न रखने वाले अनेक साक्षी होने चाहिए ॥ २ ॥

अपि शूद्राः ॥ ३ ॥

शूद्रा अप्येवंविधाश्चेत्साक्षिणो भवेयुः किं पुनर्द्विजातय इति। एवं च गुणवद्द्विजात्यभावे शूद्रा अप्येवंविधा भवन्तीति द्रष्टव्यम् ॥ ३ ॥

इस प्रकार के शूद्र भी साक्षी हो सकते हैं ॥ ३ ॥

ब्राह्मणस्त्वब्राह्मणवचनादनवरोध्योऽनिबद्धश्चेत् ॥ ४ ॥

ब्राह्मणो नात्र श्रोत्रियः। अस्य वृत्तान्तस्यासौ ब्राह्मणः साक्षीत्यब्राह्मणेनोक्ते राज्ञा साक्षित्वेन नावरोध्यो न निर्बन्धेन ग्राह्यः। अनिबद्धश्चेत्। स चेल्लेखनिबद्धो न भवति। लेख्यारूढस्तु भवत्येव साक्षी। नात्र कश्चिद्धेतुरस्ति वचनमेव प्रमाणम्। अत्र नारदः—

असाक्ष्यपि हि शास्त्रेषु दृष्टः पञ्चविधो बुधैः।
वचनाद्दोषतो भेदात्स्वयमुक्तेर्मृतान्तरात् ॥
श्रोत्रियाद्या वचनतः स्तेनाद्या दोषदर्शनात्।
भेदाद्विप्रतिपत्तिः स्याद्विवादे यत्र साक्षिणाम् ॥
स्वयमुक्तिरनिर्दिष्टः स्वयमेवैत्य यो वदेत्।
मृतान्तरोऽर्थिनि प्रेते मुमूर्षुः श्रावितादृते ॥ इति।

तदिह श्रोत्रियः क्वचिदपि साक्षी न भवतीति नारदस्य पक्षः। इहाब्राह्मणवचनादित्युक्तत्वाद् ब्राह्मणेनोक्तः श्रोत्रियोऽपि भवत्येव साक्षी ॥ ४ ॥

यदि पहले साक्षी के रूप में नाम न लिखा गया हो तो कोई ब्राह्मण साक्ष्य के लिए किसी अब्राह्मण के कहने पर पकड़कर नहीं लाया जा सकता ॥ ४ ॥

नासमवेतापृष्टाः प्रब्रूयुः ॥ ५ ॥

असमवेता असमुदिता राज्ञा प्राड्विवाकेन वाऽपृष्टाः सन्तो न ब्रूयुः। किंतु समवेताः पृष्टाश्च प्रब्रूयुः ॥ ५ ॥

राजा द्वारा न बुलाये गये और न पूछे गए लोग न बोलें (साक्ष्य न दें) ॥ ५ ॥

अवचनेऽन्यथावचने च दोषिणः स्युः ॥ ६ ॥

ते चैवंभूता यदि जानन्त एव न [ब्रूयुरन्यथा वा] ब्रूयुस्तदा दोषिणो दुष्टाः स्युः। इह राज्ञा दण्ड्याः परत्र च नारकिणः ॥ ६ ॥

(बुलाये जाने पर) जानते हुए भी न बोलने वाले और अन्यथा बोलने वाले दोषी होते हैं ॥ ६ ॥

स्वर्गः सत्यवचने विपर्यये नरकः ॥ ७ ॥

ब्रुवन्तस्तु यदि सत्यं ब्रुवन्ति तदा स्वर्गो भवति। विपर्यये सत्यवचने नरको भवतीति ॥ ७ ॥

सत्य बोलने पर (साक्षी को) स्वर्ग मिलता है और विपरीत अर्थात् असत्य बोलने पर नरक की प्राप्ति होती है ॥ ७ ॥

अनिबद्धैरपि वक्तव्यम् ॥ ८ ॥

निबद्धा निर्दिष्टा यूयमत्र साक्षिण इति। तद्विपरीता अनिबद्धास्तैरपि साक्ष्यं वक्तव्यम्। ते च नारदेनान्ये पुनरनिर्दिष्टा इत्यारभ्य कथिता द्रष्टव्याः ॥ ८ ॥

जिनके नाम साक्ष्य के लिए न लिखे गये हों उन्हें भी साक्ष्य देने के लिए बोलना चाहिए ॥ ८ ॥

न पीडाकृते निबन्धः ॥ ९ ॥

पीडाकृतं पीडाकरणम्। निबन्धो निबन्धनमर्थसंबन्धादि। पीडाकरणे हिंसाविषये साक्षिणां निबन्धो न निरूप्यः। अर्थसंबन्धादि न किंचिदपि दूषणं भवति। आह व्याघ्रः—

स्तेये च साहसे चैव संसर्गे च स्त्रियास्तथा।
गरादीनां प्रयोगे च न दोषः साक्षिषु स्मृतः ॥ इति ॥ ९ ॥

हिंसा आदि के विवाद में साक्षियों के नियुक्त होने के नियम का विचार नहीं किया जाता ॥ ९ ॥

प्रमत्तोक्ते च ॥ १० ॥

प्रमादोऽनवधानम्। अन्त्ये परे वाक्ये साक्षिणा यदृच्छया यदुक्तं तत्रापि निबन्धो न भवति। अर्थसंबन्धादिदूषणं न भवति ॥ १० ॥

साक्षी के असावधानी से कुछ कह देने पर भी उस पर आक्षेप नहीं होता (अर्थसंबन्धी दोष नहीं होता) ॥ १० ॥

विपर्यये नरक उक्तः। न स केवलं साक्षिण एव किं तर्हि—

साक्षिसभ्यराजकर्तृषु दोषो धर्मतन्त्रपीडायाम् ॥ ११ ॥

तन्त्रं लोकव्यवहारः। धर्मतन्त्रयोः पीडायां सत्यां साक्षिषु सभ्येषु राजनि कर्तरि च सर्वेषु दोषो भवति। कर्तृग्रहणं दृष्टान्तार्थम्। यावान्कर्तुर्दोषस्तावान्साक्ष्यादीनामपीति। यद्यपि साक्षिणः पूर्वं दोष उक्तस्तथाऽपीह ग्रहणं सभ्यादीनां ससाक्षिकेऽपि दोषग्रहणार्थम्। अन्यथा साक्षिक-

व्यवहारे सभ्यादीनां दोषः। ससाक्षिके तु साक्षिणामेवेत्युक्तं स्यात् ॥११॥

धर्म और लोक-व्यवहार की हानि होने पर, साक्षियों, सभासदों, राजा और अपराधी सभी पर दोष आता है ॥ ११ ॥

शपथेनैके सत्यकर्म ॥ १२ ॥

यत्र साक्षिषु तथा विश्वासो न भवति तत्र शपथेन सत्यकर्म शपथं कारयित्वा सत्यं वाचनीयमित्येके मन्यन्ते ॥ १२ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि साक्षियों को शपथ दिलाकर उनसे सत्यभाषण कराया जाय ॥ १२ ॥

तद्देवराजब्राह्मणसंसदि स्यादब्राह्मणानाम् ॥ १३ ॥

तच्छपथेन सत्यकर्म देवसंसदि, उग्राणां देवतानां संनिधौ ब्राह्मणानां संसदि परिषदि वा भवति। क्षत्रियादीनामर्थगुरुत्वलघुत्वापेक्षो विकल्पः। महत्यर्थे देवतासंनिधावल्पीयस्यन्यत्रेति। अब्राह्मणानामिति वचनाद् ब्राह्मणानां शपथकर्म न भवति। अत्र विष्णुः—पृच्छेद् ब्रूहीति ब्राह्मणम्। सत्यं ब्रूहीति राजन्यम्। गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यम्। सर्वपातकैः शूद्रम्। एवं हि साक्षिणः पृच्छेद्वर्णानुक्रमतो नृप इति। मनुस्तु—

> सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः।
> गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वैस्तु पातकैः॥ इति ॥ १३ ॥

ब्राह्मणेतर वर्णों को (उग्र) देवताओं के निकट, राजा के समक्ष या ब्राह्मणों की सभा में शपथ दिलाई जाय ॥ १३ ॥

विपर्यये नरक इति सामान्येन साक्षिणो दोष उक्तः। इदानीं व्यवहारविशेषे दोषविशेषमाह—

क्षुद्रपश्वनृते साक्षी दश हन्ति ॥ १४ ॥

क्षुद्रपशवोऽजाविकादयः। तद्विषयेऽनृतवदने साक्षी दश हन्ति। तेषां दशानां वधे यावान्दोषस्तावानस्य भवतीति। दण्डप्रायश्चित्ते अपि तदनुगुणे द्रष्टव्ये ॥ १४ ॥

(भेड़, बकरी आदि) छोटे पशुओं के विषय में असत्य भाषण करने पर साक्षी को दश पशुओं के वध का पाप लगता है ॥ १४ ॥

गोऽश्वपुरुषभूमिषु दशगुणोत्तरान् ॥ १५ ॥

उक्तानामुत्तरं दशगुणान्दशगुणोत्तरान्। गवादिविषयेऽनृते साक्षी पूर्वोक्ताद्दशगुणोत्तरं तत्तद्वधयुक्तदोषो भवति। एतदुक्तं भवति। गवानृते साक्षिणो गोशतहननदोषः। अश्वानृतेऽश्वसहस्रहननदोषः। पुरुषानृते-

ऽयुतपुरुषहननदोषः । भूम्यनृते यस्य सा भूमिस्तज्जातीयानां लक्षहनन-नदोष इति ।

पञ्च पश्वनृते हन्ति दश हन्ति गवानृते ।
शतमश्वानृते हन्ति सहस्रं पुरुषानृते ॥

इत्येतत्त्वत्यन्तक्षुद्रपश्वादिविषयम् ॥ १५ ॥

गाय, अश्व, मनुष्य और भूमि के विषय में असत्य भाषण करने पर साक्षी क्रमशः उत्तरोत्तर दशगुने तत्तत् प्राणियों के वध के पाप का भागी होता है (अर्थात् गाय के विषय में असत्य बोलने पर सौ गायों के वध का दोषी होता है, अश्व के विषय में एक हजार अश्व के वध का, मनुष्य के विषय में झूठा साक्ष्य देने पर दस सहस्र मनुष्यों के वध का तथा भूमि के विषय में असत्य बोलने पर उस भूमि का स्वामी जिस जाति का हो उस जाति के एक लाख पुरुषों के वध के पाप का भागी होता है) ॥ १५ ॥

सर्वं वा भूमौ ॥ १६ ॥

यदि वा भूमिविषयेऽनृते सर्वमेव मनुष्यजातं हन्ति । ग्रामदेशादि-महाभूमिविषयो विकल्पः ॥ ॥ १६ ॥

भूमि के विषय में असत्य बोलने पर साक्षी सम्पूर्ण मनुष्य जाति की हत्या का दोषी होता है ॥ १६ ॥

हरणे नरकः ॥ १७ ॥

प्रासङ्गिकमिदम् । भूमेरिति विपरिणामेन संबन्धः । भूमेर्हरणे नरको भवति । कालान्तरावधिः शास्त्रान्तरावसेयः ॥ १७ ॥

भूमि का अपहरण करने पर नरक मिलता है ॥ १७ ॥

प्रकृतमाह—

भूमिवदप्सु ॥ १८ ॥

अब्विषयेऽनृते भूमिवल्लक्षहननदोषो हरणे नरक इति च समानम् । अप्शब्देन कूपतडागादिरुपलक्षितः ॥ १८ ॥

जल के विषय में असत्य बोलने पर साक्षी को भूमिविषयक असत्य भाषण के समान ही दोष होता है ॥ १८ ॥

मैथुनसंयोगे च ॥ १९ ॥

मैथुनसंयुक्ते चानृते परदारानसौ गच्छतीत्यादौ भूमिवदिति चकाराद्गम्यते ॥ १९ ॥

मैथुन (व्यभिचार) विषयक असत्यभाषण में भी वैसा ही (भूमिविषयक असत्यभाषण के समान ही) दोष साक्षी को लगता है ।। १९ ।।

पशुवन्मधुसर्पिषोः ।। २० ।।

मधुसर्पिर्विषयेऽनृते क्षुद्रपशुवद्दोषः ।। २० ।।

मधु और घृत के विषय में असत्य बोलने पर क्षुद्र पशुविषयक असत्यभाषण के समान दोष लगता है ।। २० ।।

गोवद्वस्त्रहिरण्यधान्यब्रह्मसु ।। २१ ।।

ब्रह्म वेदः । वस्त्रादिविषयेऽनृते गोवद्दोषः । अधीत्य नास्मान्मयाऽधीतमित्यादि ब्रह्मानृतम् ।। २१ ।।

वस्त्र, स्वर्ण, धान्य और वेद विद्या के विषय में असत्य बोलने पर गोविषयक असत्यभाषण के समान दोष साक्षी को लगता है ।। २१ ।।

यानेष्वश्ववत् ।। २२ ।।

हस्तिशकटशिबिकादीनि यानानि । तद्विषयेऽनृतेऽश्ववद्दोषः । अन्ये तु क्षुद्रपश्वनृत इत्यारभ्य साक्षिश्रावणे योजयन्ति । क्षुद्रपश्वनृते साक्षिणो दशपशुहननदोषः । तस्मात्त्वया सत्यमेव वक्तव्यमिति साक्षी श्रावयितव्य इति । एवं सर्वत्रोपरिष्टादपि ।। २२ ।।

किसी यान (गाड़ी, रथ, पालकी आदि) के विषय में झूठा साक्ष्य देने पर अश्वविषयक असत्यभाषण के समान दोष होता है ।। २२ ।।

एवमदृष्टविषये दोषमुक्त्वा दृष्टविषये साक्षिणो दण्डमाह—

मिथ्यावचने याप्यो दण्ड्यश्च साक्षी ।। २३ ।।

मिथ्यावचने दृष्टे साक्षी याप्यो गर्ह्यः सर्वैरयमसंव्यवहार्य इति, दण्ड्यश्च राज्ञा ।

अत्र मनुः—लोभात्सहस्रं दण्ड्यस्तु मोहात्पूर्वं तु साहसम् ।
भयाद् द्वौ मध्यमौ दण्ड्यौ मैत्र्यात्पूर्वं चतुर्गुणम् ।।
कामाद्दशगुणं पूर्वं क्रोधात्तद्द्विगुणं परम् ।
अज्ञानाद् द्वे शते पूर्णे बालिश्याच्छतमेव तु ।।
कूटसाक्ष्यं तु कुर्वाणांस्त्रीन्वर्णान्धार्मिको नृपः ।
प्रवासयेद्दण्डयित्वा ब्राह्मणं तु विवासयेत् ।। इति

विष्णुः—कूटसाक्षिणां सर्वस्वापहार उक्तश्चोपजीविनां च ।।इति।।२३।।

साक्षी का असत्यभाषण प्रकट होने पर उसे निर्वासित करना चाहिए और राजा द्वारा दण्ड दिया जाना चाहिए ॥ २३ ॥

नानृतवचने दोषो जीवनं चेत्तदधीनम् ॥ २४ ॥

यदा सत्यवचनात्परस्परवधोऽनृतवदने तु तदधीनमनृतवचननिबन्धनमन्यस्य जीवनं भवति न वधस्तत्रानृतवचने न पूर्वोक्तो दोष इति । अत्र याज्ञवल्क्यः—

वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत् ।
तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः ॥ इति ॥ २४ ॥

यदि असत्य भाषण से किसी के प्राणों की रक्षा होती हो तो उस असत्य भाषण से पूर्वोक्त दोष साक्षी को नहीं लगते हैं ॥ २४ ॥

न तु पापीयसो जीवनम् ॥ २५ ॥

यदि त्वनृतवचनेन पापीयसः पापवत्तरस्य परपीडारतस्य जीवनं भवति तदा न तु न दोषः । अपि तु दोष एवेति ॥ २५ ॥

किन्तु किसी पापी का जीवन असत्यभाषण पर आश्रित हो (अर्थात् असत्य भाषण से बचता हो) तो वह असत्य भाषण दोषहीन नहीं होता (उसका दोष साक्षी को लगता है) ॥ २५ ॥

अथ साक्षिणः केन प्रष्टव्यास्तमाह—

राजा प्राड्विवाको ब्राह्मणो वा शास्त्रवित् ॥ २६ ॥

पृच्छतीति प्राट् । विविच्य वक्तीति विवाकः । न्यङ्क्वादिषु दर्शनाद् वृद्धिकुत्वे । राजा प्राड्विवाकः स्यात् । अन्यपरे तु तस्मिंस्तेन नियुक्तो ब्राह्मणो वा शास्त्रवित् । अत्र मनुः—

यदा स्वयं न कुर्यात्तु नृपतिः कार्यनिर्णयम् ।
तदा नियुञ्ज्याद्विद्वांसं ब्राह्मणं कार्यनिर्णये ॥ इति ॥ २६ ॥

राजा स्वयं ही न्यायकर्ता (पूछकर विचार करने वाला) बने अथवा कोई शास्त्रज्ञ ब्राह्मण (राजा द्वारा नियुक्त होकर) न्यायकर्ता बने ॥ २६ ॥

प्राड्विवाकमध्याभवेत् ॥ २७ ॥

अधिरुपरिभाव ऐश्वर्ये वा । आङागमनार्थे । एनमुक्तलक्षणं प्राड्विवाकमुपर्यासीनमधःस्थितश्चिरं वा गुणभूतः सन्नागच्छेत्कार्यार्थी । न तु प्राड्विवाकः स्वयं कार्यमुत्पाद्याऽऽह्वयेदिति । तथा च मनुः—

नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ॥ इति ॥ २७ ॥

अभ्यर्थी स्वयं न्यायकर्ता के निकट जाय ॥ २७ ॥

संवत्सरं प्रतीक्षेताप्रतिभायाम् ॥ २८ ॥

यदाऽभियुक्तस्यार्थिनः साक्षिणो वाऽप्रतिभा भवति वक्तव्यं न प्रतिभाति स्वयं जाड्याद्युपेतत्वादर्थस्य वा चिरनिर्वृत्तत्वादिना दुर्निरूप्यत्वात्तदा संवत्सरं प्रतीक्षेत। एतावता कालेन निरूप्य ब्रूहीति कालं दद्यात्। अत्र कात्यायनः—

अस्वतन्त्रजडोन्मत्तबालदीक्षितरोगिणाम्।
कालः संवत्सरादर्वाक्स्वयमेव यथेप्सितम्॥

नारदः—गहनत्वाद्विवादानामसामर्थ्यात्स्मृतेरपि।
ऋणादिषु हरेत्कालं कामं तत्त्वबुभुत्सया॥ इति॥

प्रजापतिः—दिनमेकमथ द्वे वा त्रीणि वा पञ्च सप्त वा।
कालस्त्वृणादौ गहन आत्रिपक्षादपि स्मृतः॥ २८॥

अभियुक्त या साक्षी के उत्तर न देने पर एक वर्ष तक उनके उत्तर की प्रतीक्षा करनी चाहिए ॥ २८ ॥

धेन्वनडुत्स्त्रीप्रजननसंयुक्ते च शीघ्रम् ॥ २९ ॥

संयुक्तशब्दः प्रत्येकं संबध्यते। धेन्वादिसंयुक्ते विवादे शीघ्रं विवादयेत्। प्रजननं विवाहस्तद्धेतुत्वात्। स्त्री दास्यादिः। तथाऽऽह कात्यायनः—

धेनावनडुहि क्षेत्रे स्त्रीषु प्रजनने तथा।
न्यासे चारित्रके दत्ते तथैव क्रयविक्रये॥
कन्याया दूषणे स्तेये कलहे साहसे निधौ।
उपधौ कूटसाक्ष्ये च सद्य एव विवादयेत्॥ इति॥२९॥

गाय, बैल, स्त्री (दासी आदि) और विवाह से संबद्ध विवाद का शीघ्र निर्णय करे ॥ २९ ॥

आत्ययिके च ॥ ३० ॥

व्यपैति गौरवं यत्र विनाशस्त्याग एव च।
कालं तत्र न कुर्वीत कार्यमात्ययिकं हि तत्॥ इति कात्यायनः।

एवमादावात्ययिके शीघ्रं विवादयेन्न कालं दद्यादिति।

याज्ञवल्क्यः—साहसस्तेयपारुष्यगोभिशापात्यये स्त्रियाम्।
विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः॥ इति॥३०॥

जिन विषयों से सम्बद्ध विवाद में विलम्ब होने पर हानि होने की सम्भावना हो उनका निर्णय शीघ्र करना चाहिए ॥ ३० ॥

सर्वधर्मेभ्यो गरीयः प्राड्विवाके सत्यवचनं सत्यवचनम् ॥ ३१ ॥

श्रुतिस्मृतिचोदितेभ्यः सर्वधर्मेभ्यो गुरुतरमिदं यत्प्राड्विवाके पृच्छति सति सत्यं ब्रूयात् । द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था ॥ ३१ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
द्वितीयप्रश्ने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥
इति वर्णधर्मः ।

न्यायकर्ता द्वारा पूछे जाने पर सत्य बोलना ही (श्रुति और स्मृति द्वारा विहित) सभी धर्मों में श्रेष्ठ धर्म है ॥ ३१ ॥

द्वितीयप्रश्ने चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ पञ्चमोऽध्यायः

अथाशौचनिर्णयः ।

शावमाशौचं दशरात्रमनृत्विग्दीक्षितब्रह्मचारिणां सपिण्डानाम् ॥ १ ॥

शवनिमित्तं शावम् । अशुचिभाव आशौचम् । दशरात्रं दशाहोरात्रं भवति सपिण्डानामृत्विगादिवर्जितानाम् । ऋत्विग्याजकः कर्मणि वर्तमानः । दीक्षितः कृतदीक्षणीयः कर्मणि वर्तमानः । ब्रह्मचारी प्रसिद्धः । आऽवभृथं पूर्वयोः । आ ब्रह्मचर्यपर्यन्तं परस्य । किं पुनरिदमाशौचलक्षणम् । कर्मण्यनधिकारोऽभोज्यान्नताऽस्पृश्यता दानादिष्वनधिकारिता ।

अत्र मनुः—उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते ।
दानं प्रतिग्रहो यज्ञः स्वाध्यायश्च निवर्तते ॥
न स्पृशेयुरनासन्नाः प्रेतस्याऽऽसन्नबान्धवान् । इति च ।

अङ्गिराः—सूतके तु यदा विप्रो ब्रह्मचारी विशेषतः ।
पिबेत्पानीयमज्ञानात्समश्नीयात्स्पृशेत वा ॥
पानीयपाने कुर्वीत पञ्चगव्यस्य भक्षणम् ।
त्रिरात्रं भोजने प्रोक्तं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥ इति ॥

याज्ञवल्क्यः—उदक्याशौचिभिः स्नायात्संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत् । इति ।

संवर्तः—अस्थिसंचयनादूर्ध्वमङ्गस्पर्शो विधीयते ॥ इति ।

व्याघ्रः—मरणादेव कर्तव्यं संयोगो यस्य नाग्निभिः ।
दहनादेव कर्तव्यं यस्य वैतानिको विधिः ॥ इति ।

शङ्खः—चतुर्थे दशरात्रं स्यात्षण्निशाः पुंसि पञ्चमे ।
षष्ठे चतुरहाच्छुद्धिः सप्तमे तु दिनत्रयम् ॥ इति ।

एतत्सर्वं निर्गुणविषयम् । गुणवद्विषये पराशरः—
एकाहाच्छुध्यते विप्रो योऽग्निवेदसमन्वितः ।
त्र्यहात्केवलवेदस्तु निर्गुणो दशभिर्दिनैः ॥ इति ।

बृहस्पतिः—त्रिरात्रेण विशुध्येत विप्रो वेदाग्निसंयुतः ।
पञ्चाहेनाग्निहीनस्तु दशाहाद् ब्राह्मणब्रुवः ॥ इति ।

अत्र ब्रह्मचारिग्रहणं गृहस्थव्यतिरिक्तानामाश्रमाणामुपलक्षणार्थम् । अत्र बृहस्पतिः—

नैष्ठिकानां व्रतस्थानां यतीनां ब्रह्मचारिणाम् ।
नाऽशौचं सूतके प्रोक्तं शावे वाऽपि तथैव च ॥ इति ।

दीक्षितग्रहणं चान्द्रायणादिव्रतप्रवृत्तानामुपलक्षणार्थम् । अत्र वसिष्ठः—

न राज्ञामथ दोषोऽस्ति व्रतिनां सत्रिणां तथा ।
ऐन्द्रस्थानमुपासीनां न चापूता हि ते सदा ॥ इति ॥ १ ॥

ऋत्विज्, यज्ञ में दीक्षित, तथा ब्रह्मचारी को छोड़कर सपिण्डों के लिए मृत्युविषयक आशौच दस दिन (और रात) का होता है ॥ १ ॥

एकादशरात्रं क्षत्रियस्य ॥ २ ॥

दीक्षितब्रह्मचारिव्यतिरिक्तस्य ज्ञातिमरणे क्षत्रियस्यैकादशरात्रं भवति । द्वादशरात्रेणेति याज्ञवल्क्यः । पञ्चदशरात्रेणेति वसिष्ठः । दशरात्रेणेति पराशरः । षोडशाहमिति पैठीनसिः । एतेषां वृताग्निस्वाध्यायसमासव्यासापेक्षो विकल्पः ॥ २ ॥

(दीक्षित ब्रह्मचारी आदि के अतिरिक्त) क्षत्रिय को सपिण्ड की मृत्यु पर ग्यारह रात्रि का आशौच होता है ॥ २ ॥

द्वादशरात्रं वैश्यस्यार्धमासमेके ॥ ३ ॥

एकादशरात्रं पराशरः । विंशतिरात्रं वसिष्ठपैठीनसी । पूर्ववद्विकल्पः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार वैश्य को बारह रात्रियों का आशौच होता है; कुछ आचार्यों के अनुसार वैश्य को आधे मास का आशौच होता है ॥ ३ ॥

मासं शूद्रस्य ॥ ४ ॥

सच्छूद्राणामर्धमासमित्युशना । ये त्रैवर्णिकान्परिचरन्तस्तेभ्यो वृत्तिं लिप्सन्ते ते सच्छूद्राः । सा हि तेषामुत्तमा वृत्तिरित्यवोचाम । दासविषये बृहस्पतिः—

दासान्तेवासिभृतकाः शिष्याश्चैकत्रवासिनः ।
स्वामितुल्येन शौचेन शुध्यन्ति मृतसूतके ॥ इति ।

अत्र क्रमविवाहे बौधायनः—

क्षत्रविट्शूद्रजातीया ये स्युर्विप्रस्य बान्धवाः ।
तेषामशौचे विप्रस्य दशाहाच्छुद्धिरिष्यते ॥
राजन्यवैश्यावप्येवं हीनजातिषु बन्धुषु ।
स्वमेवाऽऽशौचं कुर्यातां विशुद्ध्यर्थमसंशयः ॥ इति ।

बृहस्पतिस्तु—शुध्येद्विप्रो दशाहेन जन्महान्योः स्वयोनिषु ।
सप्तपञ्चत्रिरात्रैस्तु क्षत्रविट्शूद्रयोनिषु ॥ इति ।

अत्र विष्णुर्विशेषमाह—ब्राह्मणस्य क्षत्रियविट्शूद्रेषु षड्रात्रत्रिरात्रैकरात्रैः । क्षत्रियस्य विट्शूद्रयोः षड्रात्रत्रिरात्राभ्याम् । वैश्यस्य शूद्रे षड्रात्राच्छुद्धिरिति प्रकृतम् । एषां वृत्ताद्यपेक्षया व्यवस्था । अधिकवर्णविषये मनुः—

सर्वे तूत्तमवर्णानामाशौचं कुर्युरादृताः ।
तद्वर्णविधिदृष्टेन स्वं त्वाशौचं स्वयोनिषु ॥ इति ।

उत्तमवर्णानां मरणप्रयुक्तमाशौचमुक्तं तद्वर्णविधिदृष्टेन प्रकारेण कुर्युः स्वयोनिषु तु स्वाशौचं स्वजातिनिमित्तं कुर्युरिति । अत एव ज्ञायते मातृजातियुक्ता अनुलोमानां धर्मा इति ॥ ४ ॥

शूद्र को एकमास तक आशौच होता है ॥ ४ ॥

तच्चेदन्तः पुनरापतेच्छेषेण शुद्ध्येरन् ॥ ५ ॥

अन्तरितस्य प्रतियोग्यपेक्षायां शावमाशौचं दशरात्रमिति प्रकृतं दशरात्राद्यभिसंबध्यते । शावस्य दशरात्रादेराशौचस्य मध्ये तस्मिन्वर्तमाने यद्यन्यच्छावाशौचं समानकालं न्यूनकालं वा पुनरापतेदागच्छेत्ततः शेषेण पूर्वं वर्तमानस्य दशरात्रादेर्यानि शिष्टान्यहानि तैरेव शुध्येरन् । न पुनरापतितस्य कालप्रतीक्षेति । अत्र जननेऽप्येवमित्यतिदेशात्पूर्णस्य जननाशौचस्य मध्ये समानकालं वा न्यूनकालं या जननाशौचमागच्छेच्छेषेण शुध्येरन् । यत्र न्यूनकालस्याऽऽशौचस्य मध्ये पूर्णकालमापतेत्तेनैव गच्छति ।

अत्र मनुः—अन्तर्दशाहे स्यातां चेत्पुनर्मरणजन्मनी ।
तावत्स्यादशुचिर्विप्रो यावत्तत्स्यादनिर्दशम् ॥ इति ।

देवलः—आद्यानां यौगपद्ये तु ज्ञेया शुद्धिर्गरीयसी ॥ इति ।

अङ्गिराः—मातर्यग्रे प्रमीतायामशुद्धौ म्रियते पिता ।
पितुः शेषेण शुद्धिः स्यान्मातुः कुर्यात्तु पक्षिणीम् ॥ इति ।
सूतकाद् द्विगुणं शावं शावाद् द्विगुणमार्तवम् ।
आर्तवाद् द्विगुणा सूतिस्ततोऽधिशवदाहके ॥ इति ।

वृद्धात्रिः—अनेन दाहकस्य सूतिकायाश्च पूर्वाशौचविशेषेणोत्तरस्य शुद्धिरिति । अत्र षट्त्रिंशन्मतम्—

शावाशौचे समुत्पन्ने सूतकं तु यदा भवेत् ।
शावेन शुध्यते सूतिर्न सूतिः शावशोधनो ॥ इति ॥ ५ ॥

एक मृत्युविषयक आशौच के काल के भीतर ही अन्य मृत्युविषयक आशौच होने पर पूर्व आशौच के अवशिष्ट दिनों में ही शुद्धि हो जाती है ॥ ५ ॥

रात्रिशेषे द्वाभ्याम् ॥ ६ ॥

पूर्वस्मिन्नाशौचे रात्रिशेषे सति यद्यन्यदापतेत्ततो द्वाभ्यामहोभ्यां शुध्येरन् ॥ ६ ॥

यदि प्रथम आशौच की एक रात्रि शेष रहने पर दूसरा आशौच लग जाय तो दो दिनों में शुद्धि होती है ॥ ६ ॥

प्रभाते तिसृभिः ॥ ७ ॥

अथ दशाहादौ व्यतीतेऽपरेद्युः प्रभाते संगवे यद्यन्यदापतेत्ततस्तिसृभी रात्रिभिः शुध्येरन् । अत्र मनुः—

विगतं तु विदेशस्थं शृणुयाद्यो ह्यनिर्दशम् ।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ इति ॥ ७ ॥

यदि प्रथम आशौच की समाप्ति के प्रातः काल ही दूसरा आशौच हो तो तीन दिनों में (उसकी शुद्धि होती है) ॥ ७ ॥

गोब्राह्मणहतानामन्वक्षम् ॥ ८ ॥

गवार्थे ब्राह्मणार्थे वा हतानां ये सपिण्डास्तेषामाशौचमन्वक्षम् । अन्वक्ष्यते प्रत्यक्ष्यते शवस्तावत्संस्कारान्ते स्नात्वा शुध्येरन्निति । अत्र सद्यःशौचाधिकारे मनुः—

गवा ब्राह्मणेन वा ये हतास्तज्ज्ञातीनामाशौचमन्वक्षमिति चार्थः । तथाऽऽहोशना—गोभिर्हतानां ब्राह्मणैर्हतानां च सद्यः शौचम् ॥ इति ॥ ८ ॥

गौ और ब्राह्मण के लिए मरे हुए व्यक्तियों के सपिण्डों का आशौच शव-संस्कार के उपरान्त स्नान से ही दूर हो जाता है ॥ ८ ॥

राजक्रोधाच्च ॥ ९ ॥

हतानामित्युपसमस्तमपेक्ष्यते । राजक्रोधाद्ये हतास्तज्ज्ञातीनामप्यन्वक्षमाशौचम् ॥ ९ ॥

राजा के क्रोध से मृत व्यक्तियों के सपिण्डों का भी (आशौच शवसंस्कारोत्तर स्नान द्वारा दूर हो जाता है) ॥ ९ ॥

युद्धे ॥ १० ॥

चकारोऽनुवर्तते । युद्धे च हतानामन्वक्षमाशौचम् ।

अत्र मनुः—डिम्बाहवहतानां च विद्युता पार्थिवेन च ॥ इति ।

डिम्बो जनसंमर्दः । सद्यः शौचं प्रकृतम् । पाठान्तरं त्वसमञ्जसं न रोचते । यदि वा स एव पाठः । आयुद्धे इति पदच्छेदः । आयुद्धमायोधनम् संग्राम इति यावत् । सर्वथा नञ्समासो न रोचते ॥ १० ॥

युद्ध में भी (मृत व्यक्तियों के सपिण्डों की शुद्धि शवसंस्कारोत्तर स्नान द्वारा होती है) ॥ १० ॥

प्रायोनाशकशस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनप्रपतनैश्चेच्छताम् ॥११॥

प्रायो महाप्रस्थानम् । तदनिच्छतोऽपि राजभयादिना संभवतीतीच्छतामित्युक्तम् । एवमुत्तरेष्वपि यथासंभवमिच्छानिच्छे द्रष्टव्ये । अश भोजनेऽशनमाशः । स एवाऽऽशकस्तद्विपर्ययोऽनाशकः । सत्येव भोज्यद्रव्ये क्रोधादिना भोजननिवृत्तिः शस्त्राग्निविषोदकोद्बन्धनानि प्रसिद्धानि । प्रपतनं वृक्षात्पर्वताद्वा पातः । एतैः प्रायादिभिरात्मव्यापादने चकारादन्यैरप्येवंविधैरन्वक्षमाशौचमिति । अत्र ब्रह्मपुराणे—

> क्रोधात्प्रायं विषं वह्निः शस्त्रमुद्बन्धनं जलम् ।
> गिरिवृक्षप्रपातं च ये कुर्वन्ति नराधमाः ॥
> ब्रह्मदण्डहता ये च ये चैव ब्राह्मणैर्हताः ।
> महापातकिनो ये च पतितास्ते प्रकीर्तिताः ॥
> पतितानां न दाहः स्यान्न च स्यादस्थिसंचयः ।
> न चाश्रुपातः पिण्डो वा कार्या श्राद्धक्रिया न च ॥ इति ।

अत्राङ्गिराः—यदि कश्चित्प्रमादेन म्रियेताग्न्युदकादिभिः ।

> तस्याऽऽशौचं विधातव्यं कर्तव्या चोदकक्रिया ॥ इति ॥११॥

महाप्रस्थान (स्वेच्छा से मरने वालों), उपवास, शस्त्र, अग्नि, विष, जल, बन्धन (फाँसी), एवं गिरने से इच्छापूर्वक (अथवा अनिच्छापूर्वक) आत्मघात करने वालों के सपिण्डों को शवसंस्कारोत्तर स्नान तक आशौच होता है ॥ ११ ॥

सपिण्डानामित्युक्तम् । के ते सपिण्डास्तानाह—

पिण्डनिवृत्तिः सप्तमे पञ्चमे वा ॥ १२ ॥

कूटस्थमारभ्य षष्ठपर्यन्तं सापिण्ड्यम् । सप्तमे तु निवृत्तिः । केवलं सप्तमे सोदकत्वम् । सप्तमे तु निवर्तेत इत्युक्तत्वात् । ततः परं सगोत्रत्वमेव । पञ्चमे वेति यदुक्तं तदौरसव्यतिरिक्तविषयम् । तत्रापि यथासंभवं द्रष्टव्यम् । एवं चार्थः—पितृपितामहप्रपितामहेभ्यस्तत्परमपि द्वाभ्यामि-

त्यात्मना सह षष्ठपर्यन्तं पिण्डं दद्यात्। सप्तमे तु निवृत्तिः। पञ्चमे वेति पुत्रिकापुत्रविषयमेतत्। अत्र बौधायनः—कथं खलु पुत्रिकापुत्रस्य पिण्डदानम्। एतत्तेऽमुष्यै पितः, मम पितामह ये च त्वामनु, एतत्तेऽमुष्यै पितामह मम प्रपितामह ये च त्वामनु, एतत्तेऽमुष्यै प्रपितामह मम प्रपितामह ये च त्वामन्विति। अस्यैवं पिण्डं ददतः पञ्चमे प्राप्ते पिण्डनिवृत्तिः। मात्स्यपुराणे—

लेपभाजश्चतुर्थाद्याः पित्राद्याः पिण्डभागिनः।
सप्तमः पिण्डदस्तेषां सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्॥ इति॥ १२॥

सातवीं या पाँचवी पीढ़ी में पिण्ड की निवृत्ति हो जाती है (छठीं पीढ़ी तक सपिण्डता रहती है, सातवीं में उसकी निवृत्ति हो जाती है, उसके उपरान्त सगोत्रता होती है और पुत्री के पुत्र के विषय में पाँचवी पीढ़ी में ही पिण्डनिवृत्ति होती है)॥ १२॥

जननेऽप्येवम्॥ १३॥

शावमाशौचं दशरात्रमित्यादेः प्रभाते तिसृभिरित्यन्तस्यातिदेशः। यथा शावमाशौचं तथा जननेऽपीति द्रष्टव्यम्॥ १३॥

जिस प्रकार मृत्यु का आशौच होता है उसी प्रकार जन्म का भी आशौच समझना चाहिए॥ १३॥

मातापित्रोस्तन्मातुर्वा॥ १४॥

तज्जननाशौचं मातापित्रोर्वा मातुरेव वा। मुख्यत्वाज्जनन्याः पितुः प्रागेव। ज्ञातीनां तत्र व्याघ्रः—

सूतकं तु सपिण्डानां पित्रोर्वा मातुरेव वा॥ इति।

मातापित्रोर्वा तन्निमित्तत्वादिति। मनुस्तु—

जननेऽप्येवमेव स्यान्निपुणां शुद्धिमिच्छताम्।
सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम्॥ इति।

याज्ञवल्क्यः—त्रिरात्रं दशरात्रं वा शावमाशौचमिष्यते।
ऊनद्विवर्ष उभयोः सूतकं मातुरेव हि॥ इति।

बौधायनः—जनने तावन्मातापित्रोर्दशाहमाशौचे। मातुरित्येके। तत्परिहरणात्। पितुरित्येके। शुक्रप्राधान्यात्। अयोनिजा ह्यपि पुत्राः श्रूयन्ते। मातापित्रोरेव तु संसर्गसामान्यात्।

अङ्गिराः—नाशौचं सूतके प्रोक्तं सपिण्डानां कथंचन।
मातापित्रोरशौचं स्यात्सूतकं मातुरेव च॥

सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
मातुर्वा सूतकं तस्मादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ इति ।

शङ्खलिखितौ—जननेऽप्येवम् । तत्र मातापितरावशुचो इति । मातेत्येके ॥ इति ।

पैठोनसिः—जनने सपिण्डाः शुचयो मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥ इति ।

अत्र वृत्ताद्यपेक्षो दशाहो नैषां विकल्पः । अन्ये भणन्ति अनधिकारलक्षणमाशौचं सर्वेषां भवति । 'उभयत्र दशाहानि कुलस्यान्नं न भुज्यते' इति मानवे दर्शनात् । अस्पर्शितालक्षणं तु मातापित्रोरेवेति । गृहान्तरे वसतस्तत्संसर्गमगच्छतः पितुश्च नेति । 'सूतके सूतकावर्जं संस्पर्शो न निषिध्यते' इति च पठन्ति ॥ १४ ॥

जन्म का सूतक माता और पिता को होता है, अथवा केवल माता को ही होता है ॥ १४ ॥

गर्भमाससमा रात्रीः स्रंसने गर्भस्य ॥ १५ ॥

आ चतुर्थाद्भवेत्स्राव. पातः पञ्चमषष्ठयोः ।
अत ऊर्ध्वं तु नारीणां स्रवः प्रसव उच्यते ॥ इति ।

तिस्रो गर्भविपदस्ताः सर्वाः स्रंसनशब्देनोच्यन्ते । यावतिथे मासे गर्भस्य स्रंसनं तन्माससमा रात्रीराशौचं भवति । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । द्वितीयमासादियथामाससंख्यान्यहानीति ॥ १५ ॥

गर्भपात होने पर जितने मास का गर्भ रहा हो उतने दिन आशौच होता है ॥ १५ ॥

त्र्यहं वा ॥ १६ ॥

द्वितीयेऽपि मासे त्र्यहं वाऽपि भवति । चतुर्षु तूत्कर्षः ॥ १६ ॥

अथवा कम से कम (दूसरे मास में गर्भपात होने पर) तीन दिन आशौच होता है ॥ १६ ॥

श्रुत्वा चोर्ध्वं दशम्याः पक्षिणीम् ॥ १७ ॥

दशमीग्रहणं दशाहादेः परिपूर्णाशौचस्योपलक्षणम् । अहर्द्वयमध्यगता रात्रिः पक्षिणी रात्रिद्वयमध्यगतमहर्वा । पूर्ववद् द्वितीयाप्राप्तिर्विपत्तिप्रकरणात् । मरणनिमित्तमूर्ध्वं दशाहादाशौचकालेऽतिक्रान्ते यदि ज्ञातिमरणं शृणुयात्ततः पक्षिणीमाशौचं भवति । दिवा श्रवणे तदहरन्तरा रात्रिश्च(र) परेद्युश्चाहः । रात्रौ श्रवणे सा रात्रिरपरेद्युरहोरात्र इति ।

अत्र मनुः—अतिक्रान्ते दशाहे तु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥ इति ।

तथा जाबालिः—अतीते सूतके स्वे स्वे त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥ इति ।

अत्र सूतकशब्द आशौचपर्यायः । विष्णुस्तु—व्यतीते त्वासंवत्सरस्यान्त एकरात्रेणेति । एषा देशकालधर्मापेक्षया व्यवस्था ।

वृद्धवसिष्ठः—मासत्रये त्रिरात्रं तु षण्मासे पक्षिणी भवेत् ।

एतच्च सर्वं संवत्सरादर्वाक् । अत्र मनुः—

संवत्सरे व्यतीते तु स्पृष्ट्वैवापो विशुध्यति ॥ इति ।

अत्र पैठीनसिः—पितरौ चेन्मृतौ स्यातां दूरस्थोऽपि हि पुत्रकः ।

श्रुत्वा तद्दिनमारभ्य दशाहं सूतकी भवेत् ॥ इति ।

स्मृत्यन्तरे—पितृपत्न्यां व्यतीतायां मातृवर्जं द्विजोत्तमः ।

संवत्सरे व्यतिक्रान्ते त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥

निर्दशं ज्ञातिमरणं श्रुत्वा पुत्रस्य जन्म च ।

एतत्तु समानोदकविषयम् ॥ १७ ॥

मृत्युविषयक दस रात्रियों का आशौच समाप्त होते ही किसी सपिण्ड की मृत्यु का समाचार सुने तो पक्षिणी (दो दिन और उनके मध्य की रात्रि अथवा दो रात्रियों और उनके मध्य के दिन का) आशौच होता है (अर्थात् दिन में सुनने पर उस दिन, उसके बाद की रात्रि और दूसरे दिन तक आशौच रहता है; रात्रि में सुनने पर, वह रात्रि, उसके बाद का दिन और दूसरी रात तक आशौच रहता है) ॥ १७ ॥

असपिण्डे योनिसंबन्धे सहाध्यायिनि च ॥ १८ ॥

सपिण्डता यस्य निवृत्ता सोऽसपिण्डः समानोदकः । योनिसंबन्धो मातामहमातृष्वसृतत्पुत्रादयः स्त्रीणां प्रत्तानां पित्रादयः स्वस्रादयश्च । सहाध्यायी एकस्मादुपाध्यायादधीतकृत्स्नवेदः । चकारात्स्मृत्यन्तरपठिताः पितृष्वसृतदपत्यादयोऽन्ये च । एतेषु मृतेषु परस्परं पक्षिणीमाशौचं भवति । पक्षिणीकाले त्वतीते स्नानमेव । मनुस्तु समानोदके त्रिरात्रमाह—

रजन्याऽहैव चैकेन त्रिरात्रैरेव च त्रिभिः ।

शवस्पृशो विशुध्यन्ति त्र्यहात्तूदकदायिनः ॥ इति ।

अनयोः पूर्ववद् व्यवस्था । एतद्द्वयमप्यनुपनीतमरणविषयम् । ततोऽर्वाक्स्नानमेव । जननेऽपि समानोदकानां मनुना त्र्यहो दर्शितः-

जन्मन्येकोदकानां तु त्र्यहाच्छुद्धिरिहेष्यते ॥ इति ॥ १८ ॥

असपिण्ड और योनि सम्बन्ध वाले (मातामह, मौसी, उनके पुत्र आदि

विवाहिता के पिता आदि, बहन आदि) एवं एक साथ एक गुरु के यहाँ अध्ययन करने वाले की मृत्यु पर पक्षिणी आशौच होता है ॥ १८ ॥

सब्रह्मचारिण्येकाहम् ॥ १९ ॥

समानो ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी सुहृत्। तस्मिन्मृत एकमहोरात्रमाशौचं भवति ॥ १९ ॥

(एक साथ ब्रह्मचर्याश्रम में रहने वाले) समान ब्रह्मचारी की मृत्यु पर दिन-रात का आशौच होता है ॥ १९ ॥

श्रोत्रिये चोपसंपन्ने ॥ २० ॥

श्रोत्रियोऽधीतवेदः। उपसंपन्न आश्रितो गृहवासादिना। तस्मिन्मृत एकाहमाशौचम्। चकारादेकाहमित्यनुवर्तते। अत्राङ्गिराः—

गृहे यस्य मृतः कश्चित्तत्सपिण्डः कथंचन।
तस्याप्यशौचं विज्ञेयं त्रिरात्रं नात्र संशयः ॥ इति।

मनुः—श्रोत्रिये तूपसपन्ने त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् ॥ इति।

आङ्गिरसमपि वचनं श्रोत्रियविषयम्। अत्र विष्णुः—स्त्रीणां विवाहः संस्कारः संस्कृतासु स्त्रीषु नाऽऽशौचं पितृपक्षे। तत्प्रसवमरणे पितृगृहे चेद्भवेतां तदैकरात्रं त्रिरात्रं चेति। प्रसव एकरात्रं मरणे त्रिरात्रमिति व्यवस्थितो विकल्पः ॥ २० ॥

घर में निवास आदि द्वारा आश्रित वेदज्ञ की मृत्यु पर भी (एक दिन-रात का) आशौच होता है ॥ २० ॥

प्रेतोपस्पर्शने दशरात्रमाशौचमभिसंधाय चेत् ॥ २१ ॥

नात्रोपस्पर्शनशब्देन स्पर्शमात्रं विवक्षितम्। पतितचण्डालेत्यादिना सचैलस्नानस्य तद्विषये वक्ष्यमाणत्वात्। किं तर्ह्युपस्पर्शनं प्रेतनिर्हरणम्। तस्मिन्दशरात्रमाशौचं भवति। तच्चेन्निर्हरणमभिसंधाय वेतनादिप्रयोजनाभिसंधानेन भवति न धर्मार्थम्। सत्यप्याशौचाधिकारे पुनराशौचग्रहणं पूर्वस्मादाशौचादस्य वैधर्म्यज्ञापनार्थम्। तेन वक्ष्यमाणमधःशय्यासनादिकमस्मिन्विषये न भवति। अस्पृश्यताधिकारलक्षणमेव ॥ २१ ॥

यदि वेतनादि प्रयोजन से शव का उपस्पर्शन किया गया हो तो उसके लिए दस दिन का आशौच होता है (किन्तु इस आशौच में पूर्वोक्त आशौच के समान अधःशय्यासन आदि नहीं होता) ॥ २१ ॥

उक्तं वैश्यशूद्रयोः ॥ २२ ॥

अस्मिन्नभिसंधाय प्रेतोपस्पर्शनादिविषये वैश्यशूद्रयोरनुक्तमाशौचं द्वादशरात्रमर्धमासमिति पूर्वोक्तम् ॥ २२ ॥

वेतनादि प्रयोजन से शव को ले जाने में वैश्य और शूद्र के लिए पूर्वोक्त (बारह रात्रि या अर्धमास का) आशौच होता है ॥ २२ ॥

आर्तवीर्वा ॥ २३ ॥

ऋतुसमानसंख्या वा रात्रीराशौचम् । षड् ऋतवः । पञ्च वा हेमन्त-शिशिरयोः समासेन ॥ २३ ॥

अथवा ऋतुओं की संख्या के बराबर रात्रियों तक का आशौच हो ॥ २३ ॥

पूर्वयोश्च ॥ २४ ॥

पूर्वयोर्ब्राह्मणक्षत्रिययोरपि वर्णयोरुक्तमाशौचमार्तवीर्वा रात्रीरा-शौचम् । उक्तस्यापि ब्राह्मणस्य पूर्वयोरिति पुनरुपादानमार्तवीर्वेति विक-ल्पसिद्ध्यर्थम् । पूर्ववद्देशकालावस्थाद्यपेक्षो विकल्पः । अत्र भृतिरहिते निर्हारे मनुः—

असपिण्डं द्विजं प्रेतं विप्रो निर्हृत्य बन्धुवत् ।
विशुध्यति त्रिरात्रेण मातुराप्तांश्च बान्धवान् ॥
यद्यन्नमत्ति तेषां यः स दशाहेन शुध्यति ।
अनदन्नन्नमह्नैव न चेत्तस्मिन्गृहे वसेत् ॥ इति ।

बन्धुवत्स्नेहादिना । ग्रामाद्बहिर्वासे वोढॄणां सज्योतिः । यथाऽह हारीतः—प्रेतस्पृशो ग्रामं न प्रविशेयुरा नक्षत्रदर्शनाद्रात्रौ चेदाऽऽदित्य-दर्शनात्ततः शुद्धिरिति । ग्रामप्रवेशे तु अनदन्नन्नमह्नैवेति मानवमेकाहः । अनाथविषये पराशरः—

अनाथं ब्राह्मणं प्रेतं वे वहन्ति द्विजातयः ।
पदे पदे क्रतुफलमानुपूर्व्याल्लभन्ति ते ॥
प्रेतस्पर्शनसंस्कारैर्ब्राह्मणो नैव दुष्यति ।
वोढा चैवाग्निदाता च सद्यः स्नात्वा विशुध्यति ॥ इति ॥ २४ ॥

अथवा पूर्ववर्ती ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों के लिए भी यह आशौच ऋतु की संख्या के बराबर रात्रियों तक का हो ॥ २४ ॥

त्र्यहं वा ॥ २५ ॥

प्रेतोपस्पर्शन इत्यारभ्य सर्वेषां वर्णानां त्र्यहं वा । अत्युत्कृष्टविषय-मिदम् ॥ २५ ॥

अथवा (प्रेतोपस्पर्शन में सभी वर्णों के लिए) तीन दिन का आशौच होता है ॥ २५ ॥

आचार्यतत्पुत्रस्त्रीयाज्यशिष्येषु चैवम् ॥ २६ ॥

उपनीय तु यः शिष्यमित्युक्तलक्षण आचार्यः। तत्पुत्र आचार्यपुत्रः। आचार्यस्त्री। याज्यो यजनीय ऋत्विगपेक्षया यजमानः। शिष्यः प्रसिद्धः। एतेषु मृतेषु चैवं त्र्यहमिति ॥ २६ ॥

आचार्य, उनके पुत्र, आचार्य की पत्नी, यजमान और शिष्य की मृत्यु पर तीन दिन का आशौच होता है ॥ २६ ॥

विजातीयनिर्हारविषयमाह—

अवरश्चेद्वर्णः पूर्ववर्णमुपस्पृशेत्पूर्वो वाऽवरं तत्र शवोक्तमाशौचम् ॥ २७ ॥

अवरो जघन्यः क्षत्रियादिर्ब्राह्मणापेक्षया। पूर्वो ब्राह्मणादिः क्षत्रियाद्यपेक्षया। तयोरन्योन्यनिर्हारे शवजात्युक्तमाशौचं भवति। ब्राह्मणशवनिर्हरणे क्षत्रियस्य दशरात्रम्। क्षत्रियस्य शवनिर्हरणे ब्राह्मणस्यैकादशरात्रमित्यादि। अत्रैव भृत्यर्थं व्याघ्रः—

अवरश्चेद्वरं वर्णमवरं वा वरो यदि।
चरेच्छावं तदाऽऽशौचं दृष्टार्थे द्विगुणं भवेत् ॥ २७ ॥

यदि कोई निम्नवर्ण का व्यक्ति किसी उच्च वर्ण के व्यक्ति का शव ले जाय अथवा कोई उच्च वर्ण का व्यक्ति निम्न वर्ण के व्यक्ति का शव ले जाय तो उस मृत व्यक्ति के वर्ण के अनुसार आशौच काल होता है। यथा क्षत्रिय ब्राह्मण का शव ले जाय तो उसे दस दिन-रात्रि का आशौच होता है ॥ २७ ॥

बुद्धिपूर्वशवस्पर्शमात्रे प्रासङ्गिकेन सह शुद्धिमाह—

पतितचण्डालसूतिकोदक्याशवस्पृष्टितत्स्पृष्ट्युपस्पर्शने सचैलोदकोपस्पर्शनाच्छुध्येत् ॥ २८ ॥

पतितो ब्रह्महादिः। चण्डालसूतिकोदक्याशवाः प्रसिद्धाः। एतेषां स्पृष्टौ तत्स्पृष्टौ स्प्रष्टॄणां च स्पृष्टावुपस्पर्शने तदुपस्पर्शने, स्प्रष्टॄणां स्पर्शने च सचैलोदकोपस्पर्शनात्स्नानाच्छुध्येत्। स्नानेन सचैलत्वेन शुद्धौ। अतः क्रियाविशेषणपाठोऽयुक्तः। अबुद्धिपूर्वं मानवम्—

दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।
शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुध्यति ॥ इति ॥ २८ ॥

ब्रह्महत्यादि पापों से युक्त पतित, चण्डाल, सूतिका स्त्री, रजस्वला स्त्री, और शव छूने पर अथवा इनका स्पर्श किये हुए व्यक्ति को छूने पर पहने हुए वस्त्रों के साथ स्नान करने पर शुद्धि होती है ॥ २८ ॥

शवानुगमने च ॥ २९ ॥

अनुगम्येच्छयाऽप्येतं ज्ञातिमज्ञातिमेव वा।
स्नात्वा सचैलं स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ इति ।

घृतप्राशनादूर्ध्वमपि स्नानं केचिदिच्छन्ति। तत्र मूलं मृग्यम्। याज्ञवल्क्योऽपि स्पृष्ट्वाऽग्निं घृतभुक्शुचिरित्येतावदेवाऽऽह। इदं सजातीयविषयम्। ब्राह्मणस्य क्षत्रियानुगमने वसिष्ठोक्तम्। 'मानुष्यास्थि स्पृष्ट्वा त्रिरात्रमाशौचमस्थिघ्ने त्वहोरात्रं शवानुगमने चैवमिति'। एवमिति त्रिरात्राहोरात्रयोरतिदेशः। अत्र क्षत्रियानुगमन एकरात्रं वैश्यानुगमने त्रिरात्रमिति व्यवस्था। शूद्रानुगमने त्वङ्गिराः—

प्रेतीभूतं तु यः शूद्रं ब्राह्मणो ज्ञानदुर्बलः।
अनुगच्छेन्नीयमानं त्रिरात्रं सोऽशुचिर्भवेत् ॥
त्रिरात्रे तु ततः पूर्णे नदीं गत्वा समुद्रगाम्।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ इति ।

क्षत्रियवैश्ययोर्वैश्यशूद्रानुगमने ब्राह्मणवत्कल्प्यम्। क्षत्रियस्य शूद्रानुगमन एकरात्रं प्राणायामशतं च। मनुः—

नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्।
आचम्यैव तु निःस्नेहं गां स्पृष्ट्वा वीक्ष्य वा रविम् ॥ इति ।

इदमबुद्धिपूर्वविषयम्। वृद्धमनुः—

दहनं वहनं चापि प्रेतस्यान्यस्य गर्भवान्।
न कुर्यादुभयं तत्र कुर्यादेव पितुः सदा ॥
ज्येष्ठस्य वाऽनपत्यस्य मातुलस्य सुतस्य वा ॥ इति ।

पितुरिति मातुरप्युपलक्षणम्। आतुररोदने पारस्करः—

अस्थिसंचयनादर्वाग्रुदित्वा स्नानमाचरेत्।
अन्तर्दशाहे विप्रस्य ऊर्ध्वमाचमनं स्मृतम् ॥ इति ।

विप्रस्य मृतस्यान्तर्दशाहे रुदतां सर्वेषां वर्णानां समानमिदम्। अत्र विष्णुः—सर्वस्यैव प्रेतस्य बान्धवैः सहाश्रुपातं कृत्वा स्नानेन। अकृतास्थिसंचये सचैलस्नानेन शुद्धिरिति प्रकरणाद् गम्यते। इदं क्षत्रियादिमरणे समानापकृष्टानां रोदने शूद्रवर्जम्। त्रिवर्णविषयातुररोदने ब्रह्मपुराणे पठन्ति—

अनस्थिसञ्चयो विप्रो रौति चेत्क्षत्त्रवैश्ययोः।
तदा स्नातः सचैलस्तु द्वितीयेऽहनि शुध्यति ॥
कृते तु संचये विप्रः स्नानेनैव शुचिर्भवेत् ॥ इति ।

क्षत्रियस्य वैश्यातुरव्यञ्जनेऽप्येवमेवोहितव्यम् । शूद्रातुरव्यञ्जने पारस्करः—

अस्थिसंचयनादर्वाग्यदि विप्रोऽश्रु पातयेत् ।
मृते शूद्रे गृहं गत्वा त्रिरात्रेण विशुध्यति ॥
अस्थिसंचयनादूर्ध्वं मासो यावद् द्विजातयः ।
अहोरात्रेण शुध्यन्ति वाससां क्षालनेन च ॥

इत्यलं प्रसक्तानुप्रसङ्गेन ॥ २९ ॥

अथवा (दाहकर्म के लिये ले जाये जाते हुए) शव के पीछे जाने पर भी वस्त्रों सहित स्नान करने पर शुद्धि होती है ॥ २६ ॥

शुनश्च ॥ ३० ॥

उपसमस्तमप्यपेक्षते । शुनश्चोपस्पर्शने सचैलोदकोपस्पर्शनाच्छुध्येत् । पृथक्करणं तत्सृष्टिन्यायनिवृत्त्यर्थम् ॥ ३० ॥

कुत्ते को छूने पर भी (वस्त्रसहित स्नान करने पर ही शुद्धि होती है) ॥३०॥

यदुपहन्यादित्येके ॥ ३१ ॥

एके तु यदङ्गं श्वोपहन्यात्तस्यैव प्रक्षालनमिच्छन्ति । अत्राऽऽपस्तम्बीयो विशेषः—शुनोपहतः सचैलोऽवगाहेत । प्रक्षाल्य वा तं देशमग्निना संस्पृश्य पुनः प्रक्षाल्य पादौ चाऽऽचम्य प्रयतो भवतीति । ऊर्ध्वाङ्गस्पर्शे स्नानमधः प्रक्षालनमिति व्यवस्थां जातूकर्ण्य आह—

ऊर्ध्वं नाभेः करौ मुक्त्वा स्पृश्यत्यङ्गं खरो यदि ।
स्नानं तत्र विधातव्यं शेषे प्रक्षाल्य शुध्यति ॥ इति ॥ ३१ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि जिस अंग को कुत्ते ने छू लिया है उसे धोने से ही शुद्धि हो जाती है ॥ ३१ ॥

उदकदानं सपिण्डैः कृतचूडस्य ॥ ३२ ॥

कृतचूडान्तस्य प्रेतस्य सपिण्डैरुदकदानं कर्तव्यं यावदाशौचम् । न ततोऽर्वागिति । अग्निसंस्कारोऽप्यस्यैव । यथाऽऽह लौगाक्षिः—

तूष्णीमेवोदकं दद्यात्तूष्णीमेवाग्निमेव च ।
सर्वेषां कृतचूडानामन्यत्रापोच्छया द्वयम् ॥ इति ।

एवं च कृतचूडस्य नियतोऽग्निसंस्कार उदकदानं च । अकृतचूडस्य त्वनियतं तदकरणे न प्रत्यवायः । चूडाकरणेन कालो लक्ष्यते तृतीयं वर्षम् । बहुषु स्मृतिषु तथा दर्शनात् । मनुरपि—

नात्रिवर्षस्य कर्तव्या ब्राह्मणैरुदकक्रिया ।
जातदन्तस्य वा कुर्यान्नाम्नि चापि कृते सति ॥ इति ।

अग्न्युदकग्रहणमौर्ध्वदेहिकस्योपलक्षणम् । तत्र देवलो विशेषमाह—

द्वादशाद्वत्सरादर्वाक्पौगण्डमरणे सति ।
सपिण्डीकरणं न स्यादेकोद्दिष्टानि कारयेत् ॥ इति ॥ ३२ ॥

जिस मृत व्यक्ति का चूडान्त संस्कार किया गया हो उसे ही सपिण्डों द्वारा उदकदान दिया जाना चाहिए ॥ ३२ ॥

तत्स्त्रीणां च ॥ ३३ ॥

तदुदकदानं स्त्रीणां च कृतचूडानां कार्यम् ॥ ३३ ॥

जिन का चूडाकरण हुआ हो उन्हीं की स्त्रियों एवं पुत्रियों को मरने पर जल दिया जाय ॥ ३३ ॥

एके प्रत्तानाम् ॥ ३४ ॥

एके मन्यन्ते प्रत्तानामेव स्त्रीणामुदकदानमप्रत्तानां तु नैवेति । प्रत्तानां च भर्तृपक्षैर्देयम् ॥ ३४ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि विवाहिता स्त्रियों को ही मरने पर जल दिया जाय ॥ ३४ ॥

अथाऽऽशौचकाले ज्ञातयः कथं वर्तेरन्—

अधःशय्यासनिनो ब्रह्मचारिणः सर्वे ॥ ३५ ॥

भूमावेव शयीरन्नासीरंश्च न कटासनादिषु । मैथुनं च वर्जयेयुः । सर्वग्रहणं समानोदकार्थम् ॥ ३५ ॥

(आशौच काल में) सभी सपिण्ड भूमि पर ही सोवें और बैठें (चटाई और आसन आदि पर नहीं) तथा ब्रह्मचारी रहें (मैथुन से विरत रहें) ॥ ३५ ॥

न मार्जयीरन् ॥ ३६ ॥

मार्जनं गात्रमलापकर्षणम् । तच्च न कुर्युः ॥ ३६ ॥

शरीर की मैल न साफ करें ॥ ३६ ॥

न मांसं भक्षयेयुरा प्रदानात् ॥ ३७ ॥

प्रदानं श्राद्धम् । आ तदन्तं मांसं न भक्षयेयुः ॥ ३७ ॥

श्राद्ध समाप्त होने तक मांस का भक्षण न करे ॥ ३७ ॥

प्रथमतृतीयसप्तमनवमेषूदकक्रिया ॥ ३८ ॥

प्रथमादिष्वहःसु सपिण्डैः प्रेताय तिलमिश्रमुदकं देयमेवंगोत्रायै-वंशर्मणे प्रेतायैतत्तिलोदकं ददामीति । प्रथमे त्रीन् । तृतीये नव । सप्तमे त्रिंशत् । नवमे त्रयस्त्रिंशत् । इति पञ्चसप्ततिर्जलाञ्जलयो देयाः । आचारस्तु प्रथमेऽह्नि त्रयः । द्वितीयादिष्वेकोत्तरं दीयते ॥ ३८ ॥

पहले, तीसरे, सातवें और नवें दिन (तिल युक्त) जल की अंजलि प्रेत के लिए प्रदान करें ॥ ३८ ॥

वाससां च त्यागः ॥ ३९ ॥

उदकदानकाले परिहितानि वासांसि प्रथमतृतीयसप्तमनवमेषु त्याज्यानि । अन्यानि क्रमेण परिधेयानि ॥ ३९ ॥

उदकदान के समय धारण किये गये वस्त्रों का त्याग (करके दूसरे वस्त्र धारण) करें ॥ ३९ ॥

अन्ते (न्त्ये) त्वन्त्यानाम् ॥ ४० ॥

वर्णेष्वन्त्याः शूद्रास्तेषामन्त्ये नवमेऽहनि वाससां त्यागः ॥ ४० ॥

शूद्र अन्तिम उदकदान के समय अर्थात् नवे दिन वस्त्र त्याग करे ॥ ४० ॥

दन्तजन्मादि मातापितृभ्याम् ॥ ४१ ॥

दन्तजन्मप्रभृति पुत्रस्य मातापितरौ जलं दद्याताम् । तूष्णीं माता ॥ ४१ ॥

दाँत निकलने के बाद (मृत) पुत्र को माता और पिता उदकाञ्जलि दें ॥४१॥

बालदेशान्तरितप्रव्रजितासपिण्डानां सद्यःशौचम् ॥ ४२ ॥

बालोऽकृतचूडः । देशान्तरितो देशेन व्यवहितो देशान्तरस्थः । प्रव्रजिता नैष्ठिकवानप्रस्थपरिव्राजकाः असपिण्डाः समानोदकाः । तेषां मरणे ज्ञातीनां सद्यःशौचं स्नानेन शुद्धिः । बालविषये याज्ञवल्क्यः—

ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निखनेन्नोदकं ततः ।
आ दन्तजन्मनः सद्य आ चूडान्नैशिकी स्मृता ॥
त्रिरात्रमा व्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम् । इति ।

अङ्गिराः-यद्यप्यकृतचूडो वै जातदन्तस्तु संस्थितः ॥
दाहयित्वा तथाऽप्येनमाशौचं त्र्यहमाचरेत् ॥ इति ।

मनुस्तु—ऊनद्विवार्षिकं प्रेतं निदध्युर्बान्धवा बहिः ।
अलंकृत्य शुचौ भूमावस्थिसंचयनादृते ॥
नास्य कार्योऽग्निसंस्कारो नास्य कार्योदकक्रिया ।
अरण्ये काष्ठवत्त्यक्त्वा क्षपेत त्र्यहमेव तु ॥ इति ।

आश्वलायन—अदन्तजाते परिजात एकाहम् । इति । आपस्तम्बस्तु—मातुश्च योनिसंबन्धेभ्यः पितुश्चा सप्तमात्पुरुषाद्यावता वा संबन्धो ज्ञायते तेषां प्रेतेषूदकोपस्पर्शनं गर्भान्परिहाप्यापरिसंवत्सरान्मातापितरावेव तेषु हर्तारश्चेति । एतेषां देशकुलधर्मापेक्षया व्यवस्था । अत्र कन्याविषय आपस्तम्बः—

अप्रौढायां तु कन्यायां सद्यःशौचं विधीयते । इति ।

अप्रौढाऽकृतचूडा ।

[याज्ञवल्क्यः—] अहस्त्वदत्तकन्यासु बालेषु च विशोधनम् ॥ इति । इदं चौलादूर्ध्वम् । व्याघ्र आह—

बाले मृते सपिण्डानां सद्यःशौचं विधीयते ।
दशाहेनैव दंपत्योः सोदराणां तथैव च ॥ इति ।

इदं तु सूतकं दशाहान्तर्मरणविषयम् तथा च—

अन्तर्दशाहे जातस्य शिशोर्निष्क्रमणं यदि ।
सूतकेनैव शुद्धिः स्यात्पित्रोः शातातपोऽब्रवीत् ॥ ४२ ॥

जिसका चूडान्त संस्कार न हुआ हो ऐसे बालक, परदेश गये हुए की, नैष्ठिक या वानप्रस्थ परिव्राजक तथा असपिण्ड की मृत्यु पर उनकी जातिवाले तत्काल स्नान द्वारा शुद्ध हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

राज्ञां च कार्यविरोधात् ॥ ४३ ॥

राज्ञश्च सद्यःशौचं कार्यविरोधात् । कार्यं प्रजारक्षणादि । बहुवचननिर्देशाद्ये चान्येऽमात्यादयस्तत्कार्यवन्तस्तेषामपि । यस्य चेच्छति पार्थिव इति मनुः ॥ ४३ ॥

राजकार्य में विघ्न न हो अतः राजा सदैव पवित्र होते हैं (अमात्य आदि भी) ॥ ४३ ॥

ब्राह्मणस्य च स्वाध्यायनिवृत्त्यर्थं स्वाध्यायनिवृत्त्यर्थम् ॥४४॥

ब्राह्मणस्य च सद्यःशौचं स्वाध्यायनिवृत्तिर्मा भूदिति । 'बहुशिष्यस्याध्यापयत इदमुक्तम् । [अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः] इत्याशौचम् ॥४४॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
द्वितीयप्रश्ने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

ब्राह्मण भी सदैव पवित्र रहता है जिससे उसके दैनिक अध्यवसाय में विघ्न न हो पड़े ॥ ४४ ॥

द्वितीयप्रश्ने पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

अथ षष्ठोऽध्यायः

अथ श्राद्धम् ॥ १ ॥

अथशब्दोऽधिकारार्थः । श्राद्धं नाम कर्माधिक्रियते । श्रद्धा यत्र विद्यते तच्छ्राद्धम् । तच्च पञ्चविधम्

नित्यं नैमित्तिकं काम्यं वृद्धिश्राद्धमथापरम् ।
पार्वणं चेति विज्ञेयं श्राद्धं पञ्चविधं बुधैः ॥

तत्र नित्यं मनुराह—

दद्यादहरहः श्राद्धमन्नाद्येनोदकेन वा ।
पयोमूलफलैर्वाऽपि पितृभ्यः प्रीतिमावहन् ॥
एकमप्याशयेद्विप्रं पित्रर्थे पाञ्चयाज्ञिके ।
न चैवात्राऽशयेत्किंचिद्वैश्वदेवं प्रतिद्विजम् ॥ इति ।

ग्रहणादिषु यत्क्रियते तन्नैमित्तिकम् । तस्य प्रयोगः पार्वणवत् । एकोद्दिष्टं सपिण्डीकरणमष्टकेत्येतान्यपि नैमित्तिकान्येव । तत्रैकोद्दिष्टं षोडशविधम् ।

मृतेऽहनि तु कर्तव्यं प्रतिमासं तु वत्सरम् ।
प्रतिसंवत्सरं चैवमाद्यमेकादशेऽहनि ॥ इति याज्ञवल्क्यः ।

एकोद्दिष्टं तु कर्तव्यमित्याद्यपादे लौगाक्षिः ।

व्याघ्रः—एकादशेऽह्नि कर्तव्यं त्रिपक्षे च तथैव च ।
षण्मासे च ततः कुर्यादेकोद्दिष्टं प्रयत्नतः ॥ इति ।
तत संवत्सरे पूर्णे त्रिपक्षे वा तथैव च ।
सपिण्डीकरणं कुर्यादर्वाग्वा वृद्धिसंभवे ॥ इति ।

जातूकर्ण्यः—चतुर्थे पञ्चमे चैव नवमैकादशे तथा ।
यदन्नं दीयते जन्तोस्तन्नवश्राद्धमुच्यते ॥

इति च पठन्ति । वर्णानुपूर्व्यव्यवस्थितानि चत्वार्येतानि । तदेव श्राद्धमेकमेकादशेऽहनीति प्रधानम् । एकादशग्रहणमाशौचान्तोपलक्षणम् । तत्र च मासे तदैव मासिकम् । सपिण्डीकरणे प्रेतस्यैकोद्दिष्टं पित्रादिभ्यः पार्वणम् । तत्रापि मासे तदेव मासिकम् । मध्ये दश मासिकानि त्रिपक्षषाण्मासिकयोः प्रतिसंवत्सरं चापरं मृताहे सांवत्सरिकमिति षोडशैकोद्दिष्टानि ।

पठन्ति च—

नवत्रिपक्षषण्मास्यसांवत्सरिकमासिकम् ।
श्राद्धैः षोडशभिः प्रेतः पिशाचत्वं विमुञ्चति ।।
यस्यैतानि न कुर्वन्ति एकोद्दिष्टानि षोडश ।
पिशाचत्वं स्थिरं तस्य कृतैः श्राद्धशतैरपि ॥ इति ।

हेमन्तशिशिरयोश्चतुर्णामपरपक्षाणामष्टमीष्वष्टका एकस्यां वा । प्रथमेऽहनि क्रियमाणे स्त्र्यपत्यं जायत इत्यादि कामसंयोगेन क्रियमाणं काम्यम् । तदपि पार्वणवदेव । विवाहादिवृद्धिकर्मसु पूर्वेद्युः कर्तव्यं वृद्धिश्राद्धम् । तस्मात्पितृभ्यः पूर्वेद्युः क्रियत इति ब्राह्मणमूलम् । तत्र युग्मा ब्राह्मणा यवास्तिलार्थाः । अन्यत्पार्वणवत् । पार्वणं तु वक्ष्यते ।। १ ।।

अब श्राद्ध का विवेचन किया जाता है ।। १ ।।

अमावास्यायां पितृभ्यो दद्यात् ।। २ ।।

सूर्याचन्द्रमसौ यस्यां सह वसतः साऽमावास्या । पितृभ्य इति बहुवचनात्पितृपितामहप्रपितामहेभ्यो दद्यात् । दानप्रकारो गृह्येपूक्तः 'होमो ब्राह्मणभोजनं पिण्डनिर्वपणम्' इति । इह तु ब्राह्मणभोजने विशेषः ।। २ ।।

अमावस्या को पितरों के लिए (होम, ब्राह्मण, भोजन और पिण्ड का दान) देना चाहिए ।। २ ।।

पञ्चमीप्रभृतिषु वाऽपरपक्षस्य ।। ३ ।।

अपरपक्षः कृष्णपक्षः । तस्य पञ्चमीप्रभृति वा दद्यात् ।। ३ ।।

अथवा कृष्णपक्ष की पञ्चमी आदि तिथियों पर देना चाहिए ।। ३ ।।

यथाश्रद्धं सर्वस्मिन्वा ।। ४ ।।

सर्वस्मिन्वाऽपरपक्षे दद्याद्यथाश्रद्धं यथा श्रद्धा भवतीति ।। ४ ।।

अथवा कृष्णपक्ष की सभी तिथियों में अपनी श्रद्धा के अनुसार देना चाहिए ।। ४ ।।

द्रव्यदेशब्राह्मणसंनिधाने वा कालनियमः ।। ५ ।।

तिलमाषेत्यारभ्य वक्ष्यमाणं तत्तत्प्रशस्तं द्रव्यम् । देशो गयापुष्करादिः ।

पुष्करेष्वक्षयं श्राद्धं कुरुक्षेत्रे तथैव च ।
दद्यान्महोदधौ चैव ह्रदगोष्ठे गिरौ तथा ॥ इति व्यासः ।

यद्ददाति गयास्थश्च सर्वमानन्त्यमश्नुते । इति याज्ञवल्क्यः ।

ब्राह्मणाः पङ्क्तिपावना वक्ष्यमाणाः षडङ्गविदादयः। एतेषां द्रव्यादीनां संनिधाने समवाये कालनियमः संनिधिरेव काल इति। वाशब्दो विकल्पार्थः ॥ ५ ॥

अथवा (तिल, माष इत्यादि) द्रव्य, (गया, पुष्कर आदि) देश, और (पवित्र, षडङ्गविद्) ब्राह्मण के संयोग होने पर श्राद्ध का समय समझना चाहिए ॥ ५ ॥

शक्तितः प्रकर्षेद् गुणसंस्कारविधिरन्नस्य ॥ ६ ॥

अन्नस्य भक्ष्यभोज्यादेर्गुणविधयः पायसत्वविशदसिद्धत्वादयः। संस्कारविधयो भर्जनमरिचजीरकलवणादिभिः सुरभीकरणादयः। एतान्यथाशक्ति प्रकर्षेत्प्रकृष्टान्कुर्यात् ॥ ६ ॥

अपनी शक्ति के अनुसार उत्तम प्रकार के भक्ष्य एवं (मरिच, जीर, लवण आदि द्वारा छौंक बघार कर) संस्कार विधि द्वारा अन्न विशेष रूप से बनवाने चाहिए ॥ ६ ॥

नवावरान्भोजयेदयुजः ॥ ७ ॥

नवसंख्याऽवरा येषां ते नवावरास्तावतो ब्राह्मणान्भोजयेत्। अयुजोऽयुग्मसंख्यान्। नवपक्षे पितुस्त्रीपितामहस्य त्रीन्प्रपितामहस्य त्रीन्। अवरग्रहणादधिका अपि भवन्ति पञ्चदशैकविंशतिरित्यादयः। अयुज इति वचनाद् द्वादशादिव्यावृत्तिः ॥ ७ ॥

कम से कम नौ अथवा नौ से अधिक विषम संख्या में ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ ७ ॥

यथोत्साहं वा ॥ ८ ॥

यथासामर्थ्यं नवभ्योऽर्वागपि भोजयेत्। अयुज इत्यनुवृत्तेस्त्रीनेव। तथा चाऽऽपस्तम्बः—अयुग्मांस्त्र्यवरानिति। शास्त्रान्तरेषु विश्वेभ्यो देवेभ्यो ब्राह्मणभोजनमाम्नातं मातामहानां च। यथाऽऽह याज्ञवल्क्यः—

> द्वौ दैवे प्राक्त्रयः पित्र्य उदगेकैकमेव वा।
> मातामहानामप्येवं तन्त्रं वा वैश्वदेविकम् ॥ इति ॥

दैवे द्वौ ब्राह्मणौ प्राङ्मुखावुपवेश्यौ। पित्रर्थे त्रयोदङ्मुखाः। एकैकस्यैकमेव वेति। देवानामेकः पित्रादीनां त्रयाणामेक इति। मातामहानामप्येवं पितृश्राद्धवत्। द्वौ दैवे मातामहाद्यर्थे त्रयः। वैश्वदेविकं तन्त्रं वा भवति पितुः श्राद्धस्य मातामहश्राद्धस्य च ॥ ८ ॥

अथवा अपनी सामर्थ्य के अनुसार (नौ से कम अयुग्म संख्या में) ब्राह्मणों को भोजन दें ॥ ८ ॥

कीदृशान्भोजयेत्तत्राऽऽह—

श्रोत्रियान्वाग्रूपवयःशीलसंपन्नान् ॥ ९ ॥

श्रोत्रियानधीतवेदान्। वाक्संपत्तिः सुशिक्षितं वाक्यं संस्कृतभाषणादि। रूपसंपन्नान्सौम्यवेषानन्यूनानधिकाङ्गाञ्छ्वित्राद्यदूषितान्वयःसंपन्नाननतिबालान्। शीलमन्तःकरणशुद्धिस्तत्संपन्नान्। एवंगुणान्भोजयेत् ॥ ९ ॥

वेदज्ञ, सुशिक्षित (शुद्ध) वाणी वाले, रूपसम्पन्न, वयस्क (बालक न हों), एवं शीलवान् ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ ९ ॥

युवभ्यो दानं प्रथमम् ॥ १० ॥

एवंगुणेभ्यो युवभ्यः श्राद्धदानं मुख्यः कल्पः ॥ १० ॥

उपरोक्त गुणों से युक्त युवक ब्राह्मणों को श्राद्धदान देना प्रमुख बताया गया है ॥ १० ॥

एके पितृवत् ॥ ११ ॥

एके मन्यन्ते पितृवत्पित्राद्यनुरूपं दानमिति। यथा पित्रे तरुणाः पितामहाय वृद्धाः प्रपितामहाय वृद्धतरा इति ॥ ११ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि पिता आदि के अनुरूप दान देना चाहिये। (अर्थात् पिता के लिए तरुणों को, पितामह के लिए वृद्धों को और प्रपितामह के लिए अत्यन्त वृद्ध ब्राह्मणों को दान दे) ॥ ११ ॥

न च तेन मित्रकर्म कुर्यात् ॥ १२ ॥

न च तेन श्राद्धेन मित्रकर्म कुर्यात्। येन मैत्री कार्या तस्मिन्नर्थापेक्षितं न भोजयेत्। मित्रलाभकारार्थं न भोजयेदित्यर्थः। आपस्तम्बस्तु—अनर्थापेक्षो भोजयेदिति विशेषेणाऽऽह ॥ १२ ॥

उस श्राद्धदान द्वारा किसी से मित्रता स्थापित करने का (स्वार्थपूर्ण) प्रयोजन नहीं सिद्ध करना चाहिए ॥ १२ ॥

पुत्राभावे सपिण्डा मातृसपिण्डाः शिष्याश्च दद्युः ॥ १३ ॥

पुत्रा दद्युरिति प्रथमः कल्पः। तदभावे सपिण्डा भ्रातृतत्पुत्रादयः। तदभावे मातृसपिण्डा मातृभ्रातृतत्पुत्रादयः। तदभावे शिष्यः ॥ १३ ॥

पुत्रों के न होने पर सपिण्ड अर्थात् भाई या उनके पुत्र श्राद्ध करें, उनके भी

भी अभाव में माता के भाई (मामा) अथवा उनके पुत्र आदि श्राद्ध करें; इनके भी न होने पर शिष्य श्राद्ध-दान दे ॥ १३ ॥

तदभाव ऋत्विगाचार्यौ ॥ १४ ॥

शिष्याभाव ऋत्विक्। तदभाव आचार्यश्च दद्युरिति ॥ १४ ॥

शिष्य के भी न होने पर ऋत्विक् और उसके अभाव में आचार्य श्राद्ध दान करें ॥ १४ ॥

श्रोत्रियाधीनत्वे सत्यपि वर्ज्यानाह—

न भोजयेत्स्तेनक्लीबपतितनास्तिकतद्वृत्तिवीरहाग्रेदिधिषुपतिस्त्रीग्रामयाजकाजापालोत्सृष्टाग्निमद्यपकुचरकूटसाक्षिप्रातिहारिकान् ॥ १५ ॥

स्तेनो हिरण्यस्तेनः। क्लीबो मोघवीर्यो न तृतीयाप्रकृतिः। अश्रोत्रियत्वात्पतितो ब्रह्महादिः। नास्तिकः प्रेत्यभावापवादी। तद्वृत्तिर्नास्तिकवृत्तिः। प्रेत्यभावमङ्गीकृत्यापि यस्तदनुकूलं न चेष्टते संसर्गवशात्। वीरहा यो बुद्धिपूर्वमग्नीनुद्वासयीत सत्यामप्युपपत्तौ। श्रूयते हि—वीरहा एष देवानां योऽग्निमुपासयत इति। अग्रेदिधिषू इति दीर्घान्तं केचित्पठन्ति। पतिशब्दः प्रत्येकं संबध्यते। अग्रेदिधिषुपतिर्दिधिषुपतिरिति।

ज्येष्ठायां यद्यनूढायां कन्यायामुह्यतेऽनुजा।
सा त्वग्रेदिधिषूर्ज्ञेया पूर्वा तु दिधिषूः स्मृता ॥ इति।

तयोः पती। नैघण्टुकास्तु—

पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः।
स तु द्विजोऽग्रेदिधिषुः सैव यस्य कुटुम्बिनी ॥ इति।

स्त्रीग्रामयाजकः। स्त्रीणां व्रतानामुपदेष्टाऽनुष्ठापयिता स स्त्रीयाजकः। ग्रामयाजको बहुयाजकः अजापालोऽजारक्षणजीविकः। उत्सृष्टाग्निराशौचाद्यनुपपत्त्या प्रमादाद्वा विच्छिन्नाग्निः। मद्यपः सुराव्यतिरिक्तमदकरद्रव्यस्य पाता। सुरापस्तु पतितत्वेनोक्तः। कुचरः कुत्सिताचारः। साक्ष्येऽनृतवक्ता कूटसाक्षी। प्रातिहारिको द्वारपालवृत्तिः। एतान्न भोजयेत्। येषां पतितादीनां दर्शनस्पर्शनादिकं प्रतिषिद्धं तेषां प्रतिषेधः कृतप्रायश्चित्तानामपि वर्जनार्थः ॥ १५ ॥

चोर, निःसन्तान (मोघवीर्य), ब्रह्महत्यादि या अध्ययन के तिरस्कार से पतित, नास्तिक, नास्तिक वृत्ति वाले (अर्थात् प्रेत्यभाव स्वीकार करके भी उसके अनुकूल आचरण न करने वाले) जान बूझ कर पवित्र अग्नि

का ध्वंस करने वाले, जिस पुरुष से बड़ी बहन के अविवाहिता रहते छोटी बहन का विवाह हुआ हो, जिस पुरुष के साथ ऐसी स्त्री का विवाह हुआ हो जिसके अविवाहिता रहते उसकी छोटी बहन का विवाह हो गया हो, स्त्रियों के लिये यज्ञकार्य कराने वाले, अथवा अनेक मनुष्यों के लिये यज्ञ कराने वाले, बकरी रखने वाले, अग्निकर्म त्यागने वाले, सुरापान करने वाले, दुराचारी, झूठी गवाही देने वाले और चौकीदारी करने वालों को भोजन नहीं कराना चाहिए ॥ १५ ॥

उपपतिः ॥ १६ ॥

उपपतिर्जारः ॥ १६ ॥

जार को भोजन न करावे ॥ १६ ॥

यस्य च सः ॥ १७ ॥

स उपपतिर्यद्विषये स च साक्षात्पतिस्तावुभावपि न भोजनीयौ ॥१७॥

जिस पुरुष की पत्नी का जार हो उस पुरुष को भी भोजन न करावे ॥१७॥

कुण्डाशिसोमविक्रय्यगारदाहिगरदावकीर्णिगणप्रेष्यागम्यागामिहिंस्रपरिवित्तिपरिवेत्तृपर्याहितपर्याधातृत्यक्तात्मदुर्वालकुनखिश्यावदन्तश्वित्रिपौनर्भवकितवाजपराजप्रेष्यप्रातिरूपिकशूद्रापतिनिराकृतिकिलासिकुसीदिवणिक्शिल्पोपजीविज्यावादित्रतालनृत्यगीतशीलान् ॥ १८ ॥

परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः ॥ इति मनुः ।

तस्य कुण्डस्यान्नमश्नातीति कुण्डाशी । कुण्डग्रहणं गोलकस्याप्युपलक्षणम् । कुण्डादीनां तु प्रतिषेधो दण्डापूपिकया सिद्धः । अपर आह—पाकभाजनं कुण्डं तत्रैव क्वचिद्दशेऽश्नन्ति तन्न त्यजन्ति ते कुण्डाशिनः । सोमविक्रयी यज्ञे सोमस्य विक्रेता । अगारदाही वेश्मदाहकः । गरदो विषस्य दाता । अवकीर्णी व्रतभ्रष्टः । अथवा यो ब्रह्मचारी स्त्रियमुपेयात्सः । गणप्रेष्यो गणानां प्रेषणकृत् । अगम्यागामी समानप्रवरस्त्रीगामी । हिंस्रः प्राणिवधरुचिः ।

परिवेत्ताऽनुजोऽनूढे ज्येष्ठे दारपरिग्रहात् ।
परिवित्तिस्तु तज्ज्यायान् ॥ इति निघण्टुः ॥

ज्येष्ठेऽकृताधाने कृताधानः कनिष्ठः पर्याधाता ज्येष्ठः पर्याहितः ।

वसिष्ठः—उन्मत्तः किल्बिषी कुष्ठी पतितः क्लीब एव च ।
यक्ष्मामयावी च तथा न त्याज्यः स्यात्परीक्षितुम् ॥ इति ।
शातातपः—क्लीबे देशविनष्टे च पतिते प्रव्रजिते तथा ।
योगशास्त्राभियुक्ते च न दोषः परिवेदने ॥ इति च ।

त्यक्तात्मा साहसिक उद्बन्धनादौ प्रवृत्तः । दुर्बालः खलतिः । वेष्टितशफे इत्यन्ये । कुनखी विना कारणेन विवर्णनखः । विनष्टनख इत्यन्ये । श्यावदन्तः स्वभावतः कृष्णदन्तः । श्वित्री श्वेतकुष्ठी । पौनर्भवो द्विरूढा पुनर्भूस्तस्याः पुत्रः । कितवो द्यूतकरः कितं वातीति पणपूर्वजीवी वा । अजपो विहितस्य सावित्र्यादिजपस्याकर्ता । राजप्रेष्यो दूतादिः । प्रातिरूपिकः कूटतुलामानादिव्यतिहारी । शूद्रापतिः सैव भार्या यस्य । निराकृतिरस्वाध्यायः । श्रोत्रियानित्युक्तेऽपि पुनः प्रतिषेधाद्वाग्रूपवयःशीलासंपत्तावप्यसत्यां गतौ ग्रहणं भवति । किलासस्त्वग्दोषो बलंलीति द्रविडानां प्रसिद्धः । भूम्नि मत्वर्थीयः । कुसीदो वार्धुषिको वृद्ध्याजीवी । वैश्यवृत्त्या वाणिज्योपजीवी वणिक्, वणिगुपजीवी । चित्रकर्मादिभिरुपजीवी शिल्पोपजीवी । शीलशब्दो ज्यादिभिः प्रत्येकं संबध्यते । ज्याशीलो धनुर्वेदोपजीवी । वादित्रशीलो भेर्यादिताडनवृत्तिः । तालशीलस्तालवृत्तिः । नृत्यगीतशीलौ च तथैतान्न भोजयेत् ॥ १८ ॥

कुण्ड (और गोलक-अवैध संबन्ध से उत्पन्न व्यक्तियों) का अन्न खाने वाले, सोम बेचने वाले, किसी का घर जलाने वाले, ब्रह्मचर्य भंग करने वाले, किसी गण के सेवक, जिन स्त्रियों से संभोग नहीं करना चाहिए उन (समान प्रवर आदि की स्त्रियों) का संभोग करने वाले, हिंसा करने की रुचि वाले, बड़े भाई के विवाह के पूर्व ही अपना विवाह करने वाले, छोटे भाई के विवाह के बाद विवाहित, जिसके छोटे भाई ने उससे पहले अग्निहोत्राग्नि का आधान किया हो, बड़े भाई के अग्निहोत्राग्नि का आधान करने के पूर्व स्वयं अग्नि का आधान करने वाले, स्वयं अपने को आघात पहुँचाने वाले, गंजे व्यक्ति, भद्दे नाखूनों वाले, काले दाँतों वाले, श्वेतकुष्ठ के रोगी, पुनर्भू (दुबारा ब्याही गई स्त्री) के पुत्र, जुआड़ी, सावित्री आदि विहित मन्त्रों के जप का तिरस्कार करने वाले, राजा के दूत आदि, कम तौलने तथा गलत तराजू रखने वाले, जिसकी एक ही शूद्र जाति की पत्नी हो, दैनिक स्वाध्याय आदि का तिरस्कार करने वाले, चर्म रोग से पीडित, ब्याज लेने वाले, व्यापारी, शिल्पी (चित्रकार आदि), धनुष बाण द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले, बाजा बजाकर जीविका निर्वाह करने वाले, भेरी बजाने वाले, नृत्य एवं गान द्वारा जीविका चलाने वाले—इन सबको (श्राद्ध में) भोजन नहीं देना चाहिए ॥ १८ ॥

पित्रा वाऽकामेन विभक्तान् ॥ १९ ॥

ये चानिच्छता पित्रा विभक्तास्तान्न भोजयेत् ॥ १९ ॥

जो पिता की इच्छा के विना विभक्त हुए हैं उन्हें भोजन न करावे ॥१९॥

शिष्यांश्चैके सगोत्रांश्च ॥ २० ॥

एक आचार्याः शिष्यान्सगोत्रांश्चाभोजनीयानाहुः। एकग्रहणाद्भोजनीया इति स्वमतम्। तत्र गुणवदसंभवे तेषां गुणवत्त्वे सतीति। तथा चाऽऽपस्तम्बः-समुदेतः सोदर्योऽपि भोजयितव्य इति ॥ २० ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि शिष्यों और सगोत्रों को भोजन न करावे ॥ २० ॥

भोजयेदूर्ध्वं त्रिभ्यः ॥ २१ ॥

यथोत्साहं वेत्यनेन सर्वार्थमेकस्यापि प्रसङ्गस्तन्निवृत्त्यर्थमिदम्। त्र्यवरान्भोजयेत्। त्र्यवरानित्यापस्तम्बीये दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

तीन से अधिक ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ २१ ॥

गुणवन्तम् ॥ २२ ॥

एकवचनप्रयोगेण गुणवांश्चेदेकमपि भोजयेत्।

वसिष्ठोऽपि—

अपि वा भोजयेदेकं ब्राह्मणं वेदपारगम्।
शीलवृत्तगुणोपेतमवलक्षणवर्जितम् ॥ इति।

मनुरपि—एकैकमपि विद्वांसं दैवे पित्र्ये च भोजयेत्।
पुष्कलं फलमाप्नोति नामन्त्रज्ञान्बहूनपि ॥ इति ॥ २२ ॥

यदि ब्राह्मण गुणवान् हो तो एक को भी भोजन कराया जा सकता है ॥२२॥

सद्यः श्राद्धी शूद्रातल्पगस्तत्पुरीषे मासं नयति पितॄन् ॥२३॥

येन श्राद्धं भुक्तं स तस्मिन्नहोरात्रे श्राद्धीत्युच्यते। श्राद्धमनेन भुक्तमिति, अत इनिठनौ। समानकालः स यदि तदहः शूद्रातल्पं गच्छेत्। तल्पग्रहणं भार्यार्थम्। ऊढामपि शूद्रां यदि गच्छेत्सद्य एव तस्याः पुरीषे पितॄन्मासं नयति ॥ २३ ॥

श्राद्ध भोजन करने वाला यदि उस रात्रि शूद्रा के साथ संभोग करता है तो वह पितरों को उस शूद्रा के पुरीष में एक मास तक डालता है ॥ २३ ॥

इतरासु भार्यासु कल्प्यमत आह—

तस्मात्तदहर्ब्रह्मचारी च स्यात् ॥ २४ ॥

मानवे दातुरपि नियम उक्तः—

निमन्त्रितो द्विजः पित्र्ये नियतात्मा भवेत्सदा ।
न च च्छन्दांस्यधीयीत यस्य श्राद्धं च तद्भवत् ॥ इति ॥२४॥

इसलिए उस रात्रि ब्रह्मचारी रहना चाहिए ॥ २४ ॥

श्वचाण्डालपतितावेक्षणे दुष्टम् ॥ २५ ॥

श्वादिभिरवेक्षितमन्नं दुष्टमभोज्यं भवति । श्राद्धं चावेक्षितं दुष्टमकृतं भवति ॥ २५ ॥

जिस अन्न पर कुत्ता, चाण्डाल और ब्रह्महत्यादि पाप से युक्त व्यक्ति की दृष्टि पड़ी हो वह भोजन करने योग्य नहीं होता (और इसी प्रकार जिस श्राद्ध पर उनकी दृष्टि पड़े वह व्यर्थ हो जाता है) ॥ २५ ॥

यस्मादेवम्—

तस्मात्परिश्रिते दद्यात् ॥ २६ ॥

परिश्रयणं तिरस्करिण्यादिना व्यवधानम् ॥ २६ ॥

अतएव श्राद्धभोजन घिरे हुए स्थान पर कराना चाहिए ॥ २६ ॥

तदशक्तौ—

तिलैर्वा विकिरेत् ॥ २७ ॥

अत्र भृगुः—पानीयमपि यद्दत्तं तिलैर्मिश्रं द्विजस्य तु ।
पितृभ्यः कामधुक्तत्स्यात्पितृगुह्यमिदं ततः ॥ इति ॥२७॥

अथवा (यदि घिरे हुए स्थान पर भोजन न करा सके तो) उस स्थान पर तिल बिखेर दे ॥ २७ ॥

पङ्क्तिपावनो वा शमयेत् ॥ २८ ॥

पङ्क्तिर्येन पाव्यते स पङ्क्तिपावनः । श्वाद्यवेक्षणे यो दोषस्तं शमयेत् ॥ २८ ॥

अथवा पंक्ति को पवित्र करने वाला व्यक्ति उपर्युक्त अपवित्रताओं को दूर करता है ॥ २८ ॥

स कः पुनरसौ तमाह—

पङ्क्तिपावनः षडङ्गविज्ज्येष्ठसामिकस्त्रिणाचिकेतस्त्रिमधुस्त्रिसुपर्णः पञ्चाग्निः स्नातको मन्त्रब्राह्मणविद्धर्मज्ञो ब्रह्मदेयानुसंतान इति ॥ २९ ॥

शिक्षा कल्पो व्याकरणं ज्योतिषं निरुक्तं छन्दोविचितिरिति षडङ्गानि। तेषां पाठतोऽर्थतश्च ज्ञाता षडङ्गवित्। ज्येष्ठसामिकः—तलवकाराणामुदुत्यं चित्रमित्येतयोर्गायको ज्येष्ठसामगः छन्दोगानां तु तदिदासीती तीयं तद्योगयेति(?) ज्येष्ठं साम तद्वेदिता ज्येष्ठसामिकः। त्रिणाचिकेतो नाचिकेतो-बहुषु शाखासु विधीयते तैत्तिरीये कठवल्लीषु शतपथे च। ते यो वेद ब्राह्मणेन सह स त्रिणाचिकेतः। "मधु वाता ऋतायते" इत्येतत्तृचं त्रिमधु। तत्र प्रत्यृचं त्रयो मधुशब्दाः। आश्वलायनोऽप्याह—'तृप्तान्ज्ञात्वा मधुमतीः श्रावयेत्' इति। इह तु तदध्यायी पुरुषस्त्रिमधुः। त्रिसुपर्ण ऋग्वेदे 'एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश' इत्यादिकस्तृचः। तैत्तिरीयके ब्रह्ममेतु माम्' इत्यादयस्त्रयोऽनुवाकाः। तत्र हि "य इमं त्रिसुपर्णमयाचितं ब्राह्मणाय दद्यात्" इति श्रूयते। पूर्ववत्पुरुषे वृत्तिः। पञ्चाग्निः सभ्यावसथ्याभ्यां सह पञ्चानामनुवाकानामध्येता। स्नातको विद्याव्रताभ्याम्। मन्त्रब्राह्मणविन्मन्त्रब्राह्मणयोरर्थज्ञः। धर्मज्ञो धर्मशास्त्राणामर्थज्ञः। ब्रह्मदेयानुसंतानो ब्राह्मविवाहोढासंतानः। इतिकरणाद्यश्चान्य एवंयुक्तः। ये मातृतः पितृतश्चेति दशावर्षं समनुष्ठिता विद्यातपोभ्यां पुण्यैश्च कर्मभिर्येषामुभयतो नाब्राह्मणं निनयेयुः। पितृत इत्येक इत्येवमादिलक्षणः। स एष सर्वः पङ्क्तिपावनः॥ २९॥

पंक्ति को पवित्र करने वाले व्यक्ति हैं :—छः वेदाङ्गों का ज्ञाता, ज्येष्ठ साम मन्त्रों का गान करने वाला, नाचिकेत अग्नि का तीन ग्रन्थों के साथ ज्ञान रखने वाला, सुपर्ण के तीन बार उल्लेख से युक्त मन्त्रों को जाननेवाला, पञ्चाग्नि (सभ्य और आवसथ्य के साथ पाँच अनुवाकों का अध्येता, स्नातक मन्त्रों और ब्राह्मणों का अर्थ जानने वाला, धर्मशास्त्रों का ज्ञाता ब्राह्म विवाह से उत्पन्न सन्तान ॥ २९ ॥

हविःषु चैवम् ॥ ३० ॥

हविःशब्देन दैवानि मानुषाणि च कर्माण्युच्यन्ते। ज्येष्ठा अप्येवमुक्तलक्षणा एव ब्राह्मणा भोजयितव्या न तु प्रतिषिद्धाः स्तेनादय इति ॥३०॥

दैव एवं मानुष यज्ञ कर्मों में भी (ब्राह्मणों को भोजन कराने के सम्बन्ध में) उपर्युक्त नियम समझने चाहिएँ ॥ ३० ॥

दुर्वालादींश्राद्ध एवैके ॥ ३१ ॥

एके तु दुर्वालानारभ्य येऽनुक्रान्तास्ताञ्छ्राद्ध एव न भोजयेन्न तु दैवमानुषयोरिति मन्यन्ते । स्वमते तु ते तत्राप्यभोज्या एवेति ॥ ३१ ॥

कुछ आचार्य गंजे मनुष्य आदि पूर्वोक्त व्यक्तियों को खिलाने का निषेध केवल श्राद्ध में करते हैं। (हमारे मत से उन्हें दैव एवं मानुष कर्मों में भी नहीं खिलाना चाहिए) ॥ ३१ ॥

अकृतान्नश्राद्धे चैवं चैवम् ॥ ३२ ॥

द्विरुक्तिः पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

श्राद्ध में विना पका हुआ अन्न देने पर भी उपर्युक्त नियम ही समझना चाहिए ॥ ३२ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
द्वितीयप्रश्ने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रावणादि वार्षिकं प्रोष्ठपदीं वोपाकृत्याधीयीत च्छन्दांसि ॥ १ ॥

श्रवणेन युक्ता पौर्णमासो श्रवणा । नक्षत्रेण युक्तः काल इत्युक्तस्याणो लुबविशेष इति लुप् । युक्तवद्भावस्तु न भवति । विभाषा फाल्गुनीश्रवणेति निर्देशात् । श्रावणीत्यपि भवति । पौर्णमास्यां हि लुबविशेष इति न भवति । फाल्गुनी कार्तिकी चैत्रीति निर्देशात् । श्रवणशब्दं तूभयं भवतीति ।

मेषादिस्थे सवितरि यो यो दर्शः प्रवर्तते ।
चान्द्रमासास्तत्तदन्ताश्चैत्राद्या द्वादश स्मृताः ॥
तेषु या या पौर्णमासो सा सा चैत्र्यादिका स्मृता ।
कादाचित्केन योगेन नक्षत्रस्येति निर्णयः ॥

तदेवं सिंहस्थे सवितरि याऽमावास्या तदन्ते चान्द्रमसे मासे पौर्णमासी सा श्रवणा श्रावणीति चोच्यते । श्रवणयोगस्तु भवतु मा वा भूत् । एतेन प्रोष्ठपदी व्याख्याता । प्रोष्ठपदीमित्यधिकरणे द्वितीया । अत्यन्तसंयोगे वा कथंचित् । श्रवणायां प्रौष्ठपद्यां वा पौर्णमास्यामुपाकृत्योपाकर्माख्यं कर्म यथागृह्यं कृत्वा तदा च्छन्दांसि मन्त्रब्राह्मणलक्षणान्यधीयीत । आचार्योऽध्यापयेच्छिष्या अधीयीरन् । तदिदमध्ययनं वार्षिकमित्याचक्षते वर्षर्तौ प्रतिसंवत्सरं वा भवतीति । अध्यापनमप्यात्मापेक्षयाऽध्ययनं पारायणादिवत् । शिष्यापेक्षया त्वध्यापनम् ॥ १ ॥

श्रावण की पूर्णिमा (या श्रवण से युक्त पौर्णमासी) को वेदाध्ययन आरम्भ करने की वार्षिक तिथि होती है अथवा भाद्रपद की पूर्णिमा को उपाकर्म करके वेदाध्ययन प्रारम्भ करे ॥ १ ॥

कियन्तं कालमधीयीत—

अर्धपञ्चमान्मासान्पञ्च दक्षिणायनं वा ॥ २ ॥

अर्धं पञ्चमं येषां तानर्धपञ्चमानर्धाधिकांश्चतुरो मासान्पूर्णान्वा पञ्च मासान्यावद्वा दक्षिणायनम् । एवमधीयानः ॥ २ ॥

साढ़े चार महीने अथवा पूरे पाँच महीने अथवा जब तक सूर्य दक्षिणायन रहे तब तक (अध्ययन करे) ॥ २ ॥

ब्रह्मचार्युत्सृष्टलोमा न मांसं भुञ्जीत ॥ ३ ॥

ब्रह्मचारी भवेत्स्त्रीसंगं वर्जयेत्। उत्सृष्टलोमा न रूढश्मश्रुः। अकस्मादित्यत्रोक्तं लोमकर्म तदुत्सृष्टं येन स उत्सृष्टलोमा। एवंभूतो भवेन्न मांसं भक्षयेत्। अयमध्यापयितुरुपदेशः। ब्रह्मचारिणः प्राप्त्यभावात्। आपस्तम्बोऽप्याह—प्रवचनयुक्तो वर्षाशरदं मैथुनं वर्जयेदिति। यश्च केवलानि व्रतानि पारं नीत्वा जायामुपयम्य पश्चादधीते सोऽप्येवं तस्यात्र ग्रहणार्थमप्येवम्। आश्वलायनोऽप्याह—समावृत्तो ब्रह्मचारिकल्पेनेति। तत्र त्वृतुगमनं पाक्षिकमभ्युपगतम्। यथाऽऽह जायोपेयेत्येके प्राजापत्यं तदिति ॥ ३ ॥

(इस अध्ययन काल में) ब्रह्मचारी रहे, क्षौरकर्म न करावे और न मांस का भक्षण करे ॥ ३ ॥

द्वैमास्यो वा नियमः ॥ ४ ॥

द्वौ मासौ भूतभाविनौ वा द्विमास्यः। मासाद्यत्ति यत्खञौ। द्विगोर्यबवयस्यपि प्रयुज्यते। स एव द्वैमास्यः। अयं ब्रह्मचर्यादिनियमो मासद्वयं वा भवति। शक्त्यपेक्षो विकल्पः ॥ ४ ॥

अथवा इस नियम का पालन दो मास तक करे ॥ ४ ॥

अथानध्याया उच्यन्ते—

नाधीयीत वायौ दिवा पांसुहरे ॥ ५ ॥

पांसून्हरतीति पांसुहरः। वायौ दिवा पांसुहरे वाति सति नाधीयीत अपांसुहरे न दोषः। पांसुहरेऽपि रात्रौ न दोषः ॥ ५ ॥

दिन में धूलभरी वायु बहने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए ॥ ५ ॥

कर्णश्राविणि नक्तम् ॥ ६ ॥

व्यत्ययेनायं कर्मणि कर्तृप्रत्ययः। कर्णाभ्यां श्रूयत इति कर्णश्रावी। एवं भूते महाघोषे वायौ वाति सति नक्तं नाधीयीत ॥ ६ ॥

प्रवल वायु के चलने की ध्वनि सुनाई पड़ने पर रात्रि को अध्ययन न करे ॥ ६ ॥

वाणभेरीमृदङ्गगर्तार्तशब्देषु ॥ ७ ॥

वाणो वीणाविशेषः। वाणः शततन्तुरिति महाव्रते दर्शनात्। भेरीमृदङ्गौ प्रसिद्धौ। गर्तो रथः। 'आरोहतं वरुण मित्र गर्तम्'। 'स्तुहि श्रुतं गर्तसदम्' इत्यादौ दर्शनात्। आर्तो बन्धुमरणादिना दुःखितः। तेषां शब्दे श्रूयमाणे तावन्तं कालं नाधीयीत ॥ ७ ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

श्रावण्यादि वार्षिकं प्रोष्ठपदीं वोपाकृत्याधीयीत च्छन्दांसि ॥ १ ॥

श्रवणेन युक्ता पौर्णमासी श्रवणा । नक्षत्रेण युक्तः काल इत्युक्तस्याणो लुबविशेष इति लुप् । युक्तवद्भावस्तु न भवति । विभाषा फाल्गुनीश्रवणेति निर्देशात् । श्रावणीत्यपि भवति । पौर्णमास्यां हि लुबविशेष इति न भवति । फाल्गुनी कार्तिकी चैत्रीति निर्देशात् । श्रवणशब्दे तूभयं भवतीति ।

मेषादिस्थे सवितरि यो यो दर्शः प्रवर्तते ।
चान्द्रमासास्तत्तदन्ताश्चैत्राद्या द्वादश स्मृताः ॥
तेषु या या पौर्णमासी सा सा चैत्र्यादिका स्मृता ।
कादाचित्केन योगेन नक्षत्रस्येति निर्णयः ॥

तदेवं सिंहस्थे सवितरि याऽमावास्या तदन्ते चान्द्रमसे मासे पौर्णमासी सा श्रवणा श्रावणीति चोच्यते । श्रवणयोगस्तु भवतु मा वा भूत् । एतेन प्रोष्ठपदी व्याख्याता । प्रोष्ठपदीमित्यधिकरणे द्वितीया । अत्यन्तसंयोगे वा कथंचित् । श्रवणायां प्रौष्ठपद्यां वा पौर्णमास्यामुपाकृत्योपाकर्माख्यं कर्म यथागृह्यं कृत्वा तदा च्छन्दांसि मन्त्रब्राह्मणलक्षणान्यधीयीत । आचार्योऽध्यापयेच्छिष्या अधीयीरन् । तदिदमध्ययनं वार्षिकमित्याचक्षते वर्षर्तौ प्रतिसंवत्सरं वा भवतीति । अध्यापनमप्यात्मापेक्षयाऽध्ययनं पारायणादिवत् । शिष्यापेक्षया त्वध्यापनम् ॥ १ ॥

श्रावण की पूर्णिमा (या श्रवण से युक्त पौर्णमासी) को वेदाध्ययन आरम्भ करने की वार्षिक तिथि होती है अथवा भाद्रपद की पूर्णिमा को उपाकर्म करके वेदाध्ययन प्रारम्भ करे ॥ १ ॥

कियन्तं कालमधीयीत—

अर्धपञ्चमान्मासान्पञ्च दक्षिणायनं वा ॥ २ ॥

अर्धं पञ्चमं येषां तानर्धपञ्चमानर्धाधिकांश्चतुरो मासान्पूर्णान्वा पञ्च मासान्यावद्वा दक्षिणायनम् । एवमधीयानः ॥ २ ॥

साढ़े चार महीने अथवा पूरे पाँच महीने अथवा जब तक सूर्य दक्षिणायन रहे तब तक (अध्ययन करे) ॥ २ ॥

ब्रह्मचार्युत्सृष्टलोमा न मांसं भुञ्जीत ॥ ३ ॥

ब्रह्मचारी भवेत्स्त्रीसंगं वर्जयेत्। उत्सृष्टलोमा न रूढश्मश्रुः। अकस्मादित्यत्रोक्तं लोमकर्म तदुत्सृष्टं येन स उत्सृष्टलोमा। एवंभूतो भवेन्न मांसं भक्षयेत्। अयमध्यापयितुरुपदेशः। ब्रह्मचारिणः प्राप्त्यभावात्। आपस्तम्बोऽप्याह—प्रवचनयुक्तो वर्षाशरदं मैथुनं वर्जयेदिति। यश्च केवलानि व्रतानि पारं नीत्वा जायामुपयम्य पश्चादधीते सोऽप्येवं तस्यात्र ग्रहणार्थमप्येवम्। आश्वलायनोऽप्याह—समावृत्तो ब्रह्मचारिकल्पेनेति। तत्र त्वृतुगमनं पाक्षिकमभ्युपगतम्। यथाऽऽह जायोपेयेत्येके प्राजापत्यं तदिति ॥ ३ ॥

(इस अध्ययन काल में) ब्रह्मचारी रहे, क्षौरकर्म न करावे और न मांस का भक्षण करे ॥ ३ ॥

द्वैमास्यो वा नियमः ॥ ४ ॥

द्वौ मासौ भूतभाविनौ वा द्विमास्यः। मासाद्वयसि यत्खञ्ौ। द्विगोर्यबवयस्यपि प्रयुज्यते। स एव द्वैमास्यः। अयं ब्रह्मचर्यादिनियमो मासद्वयं वा भवति। शक्त्यपेक्षो विकल्पः ॥ ४ ॥

अथवा इस नियम का पालन दो मास तक करे ॥ ४ ॥

अथानध्याया उच्यन्ते—

नाधीयीत वायौ दिवा पांसुहरे ॥ ५ ॥

पांसून्हरतीति पांसुहरः। वायौ दिवा पांसुहरे वाति सति नाधीयीत अपांसुहरे न दोषः। पांसुहरेऽपि रात्रौ न दोषः ॥ ५ ॥

दिन में धूलभरी वायु बहने पर अध्ययन नहीं करना चाहिए ॥ ५ ॥

कर्णश्राविणि नक्तम् ॥ ६ ॥

व्यत्ययेनायं कर्मणि कर्तृप्रत्ययः। कर्णाभ्यां श्रूयत इति कर्णश्रावी। एवं भूते महाघोषे वायौ वाति सति नक्तं नाधीयीत ॥ ६ ॥

प्रबल वायु के चलने की ध्वनि सुनाई पड़ने पर रात्रि को अध्ययन न करे ॥ ६ ॥

वाणभेरीमृदङ्गगर्तार्तशब्देषु ॥ ७ ॥

वाणो वीणाविशेषः। वाणः शततन्तुरिति महाव्रते दर्शनात्। भेरीमृदङ्गौ प्रसिद्धौ। गर्तो रथः। 'आरोहतं वरुण मित्र गर्तम्'। 'स्तुहि श्रुतं गर्तसदम्' इत्यादौ दर्शनात्। आर्तो बन्धुमरणादिना दुःखितः। तेषां शब्दे श्रूयमाणे तावन्तं कालं नाधीयीत ॥ ७ ॥

७. वाण (एक विशेष प्रकार की वीणा), भेरी, मृदङ्ग, रथ और दुःखी व्यक्ति के विलाप का स्वर सुनाई पड़ने पर अध्ययन न करे ॥ ७ ॥

श्वशृगालगर्दभसंह्लादे ॥ ८ ॥

संह्लादः सहशब्दनम् । शुनां शृगालानां गर्दभानां संह्लादे नाधीयीत । त्रयाणां तु सहशब्देन दण्डापूपिकया सिद्धः प्रतिषेधः ॥ ८ ॥

अनेक कुत्ता, शृगाल और गर्दभ के एक साथ बोलने पर अध्ययन न करे ॥ ८ ॥

रोहितेन्द्रधनुर्नीहारेषु ॥ ९ ॥

आकाशे लोहिते, इन्द्रधनुषि दृश्यमाने, नीहारो हिमानी तस्यां च । तावन्तं कालं नाधीयीत ॥ ९ ॥

आकाश के लोहित वर्ण होने, इन्द्रधनुष दिखलाई पड़ने पर तथा ओस गिरते रहने के समय तक अध्ययन न करे ॥ ९ ॥

अभ्रदर्शने चापर्तौ ॥ १० ॥

अपर्तुरवर्षर्तुः । तत्र सोदकस्य मेघस्य दर्शने नाधीयीत ॥ १० ॥

वर्षाऋतु के अतिरिक्त किसी ऋतु में जलमय मेघ दिखाई पड़ने पर अध्ययन न करे ॥ १० ॥

मूत्रित उच्चारिते ॥ ११ ॥

संजातमूत्रेऽल्पे मूत्रितः । उच्चारितोऽपि तथा । तत्र श्रेयानपि नाधीयीत । उत्सर्गे तु मानसमप्यशुचिरिति वक्ष्यति ॥ ११ ॥

मूत्र या पुरीष त्याग करने की आवश्यकता का अनुभव करे तो अध्ययन न करे ॥ ११ ॥

निशायां संध्योदकेषु ॥ १२ ॥

निशा रात्रेर्मध्यमो भागस्तस्मिन्संध्यायामुदके चावस्थितो नाधीयीत ॥ १२ ॥

मध्यरात्रि को, सन्ध्या समय और जल में खड़ा होकर अध्ययन नहीं करना चाहिए ॥ १२ ॥

वर्षति च ॥ १३ ॥

वर्षति च देवे तावन्नाधीयीत । धात्वर्थमात्रं विवक्षितं न परिमाणविशेषः ॥ १३ ॥

वृष्टि होते रहने पर भी (अध्ययन न करे) ॥ १३ ॥

एके वलीकसंतानाम् ॥ १४ ॥

एके मन्यन्ते वलीकसंतानं वलीकं नीध्रं गृहपटलान्तस्तत्र वर्षधारा संतन्यते यथा तथा वर्षति देवे नाध्येयम् ॥ १४ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि जब वर्षा की जलधारा घर की छत के किनारों (ओरी) से गिरे तब वेदाध्ययन नहीं करना चाहिए ॥ १४ ॥

आचार्यपरिवेषणे ॥ १५ ॥

आचार्यौ गुरुशुक्रौ तयोः परिवेषणे नाधीयीत । अपर आह—परिवेषणं भक्षभोज्याद्यन्नोपहरणम् । ब्राह्मणानन्नेन परिवेष्येत्यादौ दर्शनात् । आचार्यस्य परिवेषणे नाधीयीतेति ॥ १५ ॥

जब बृहस्पति और शुक्र नक्षत्रों पर घेरा-सा दृष्टिगोचर होता हो तो अध्ययन न करे । (कुछ भाष्यकारों के अनुसार परिवेषण-भक्ष-भोज्याद्यन्नोपहरण) ॥ १५ ॥

ज्योतिषोश्च ॥ १६ ॥

प्रसिद्धज्योतिषी सूर्याचन्द्रमसौ । तयोश्च परिवेषणे नाधीयीत । पूर्वसूत्रे द्वितीयपक्षेऽत्रानुवृत्तस्य परिवेषणशब्दस्यार्थभेदोऽङ्गीकरणीयः ॥१६॥

जब सूर्य और चन्द्र पर उपर्युक्त प्रकार का घेरा दिखाई पड़े तब भी अध्ययन न करे ॥ १६ ॥

भीतो यानस्थः शयानः प्रौढपादः ॥ १७ ॥

भीतो वर्तमानभयः । यानस्थोऽश्वाद्यारूढः । शयानः शय्यामासेवमानः प्रौढपादः पादे पादान्तराधायी पीठासनाद्यारोपितपादो वा । एवंभूतेन नाध्येयम् ॥ १७ ॥

भयभीत होने पर, अश्व आदि यान पर चढ़कर, सोकर और एक पैर के ऊपर दूसरा पैर रखकर अथवा आसन आदि पर पैर रखकर अध्ययन न करे ॥ १७ ॥

श्मशानग्रामान्तमहापथाशौचेषु ॥ १८ ॥

श्मशानं शवदाहस्थानम् । ग्रामान्तो ग्रामसीमा । महापथः प्रसिद्धः । अशौचं शौचराहित्यम् । एतेषु स्थानेषु नाध्येयम् । अथवाऽशौचं जननमरणनिमित्तमस्पर्शलक्षणं तस्मिन्नपि नाध्येयम् ॥ १८ ॥

श्मशान में, ग्राम की सीमा पर, महापथ में तथा अपवित्र होने पर अध्ययन न करे ॥ १८ ॥

पूतिगन्धान्तःशवदिवाकीर्त्यशूद्रसंनिधाने ॥ १९ ॥

पूतिगन्धे घ्राणगन्धे। दिवाकीर्त्यश्चण्डालः। अन्तःशब्द उभाभ्यां संबध्यते। अन्तःशवेऽन्तर्दिवाकीर्त्ये च ग्राम इति। शूद्रसंनिधाने[च] नाध्येयम्। द्वंद्वैकवद्भावः। आपस्तम्बोऽपि—अन्तःशवेऽन्तश्चण्डाल इति ॥ १९ ॥

जहाँ दुर्गन्ध हो, जिस स्थान (ग्राम) के भीतर शव या चण्डाल हो वहाँ तथा शूद्र के निकट अध्ययन न करे ॥ १९ ॥

भुक्तके चोद्गारे ॥ २० ॥

भुक्त[क]मम्लमम्ले चोद्गारे वर्तमाने नाधीयीत ॥ २० ॥

जब तक खट्टी डकारें आ रही हों तब तक अध्ययन नहीं करना चाहिए ॥ २० ॥

ऋग्यजुषं च सामशब्दो यावत् ॥ २१ ॥

ऋक्च यजुश्च ऋग्यजुषम्। अचतुरेत्यादिना निपातः। यावत्सामशब्दः श्रूयते तावदृग्वेदं यजुर्वेदं च नाधीयीत। षष्ठ्यन्तपाठस्तु नास्मभ्यं रोचते ॥ २१ ॥

जब तक सामगान सुनाई पड़े तब तक ऋग्वेद और यजुर्वेद का अध्ययन न करे ॥ २१ ॥

आकालिका निर्घातभूमिकम्पराहुदर्शनोल्काः ॥ २२ ॥

निर्घातोऽशनिपातः। भूमिकम्पो भूचलनम्। राहुदर्शनं ग्रहणम्। उल्कोल्कापातः। एत आकालिका अनध्यायहेतव इति प्रकरणाद्गम्यते। यस्मिन्काल एते भवन्ति परेद्युस्तत्पर्यन्तं काल आकालः। तत्संबद्ध आकालिकः ॥ २२ ॥

वज्रपात होने पर, भूकम्प होने पर, राहु के दिखलाई पड़ने पर एवं उल्कापात होने पर दूसरे दिन के उसी समय तक अनध्याय रहता है ॥ २२ ॥

स्तनयित्नुवर्षविद्युतश्च प्रादुष्कृताग्निषु ॥ २३ ॥

स्तनयित्नुर्मेघशब्दः। प्रसिद्धमन्यत्। प्रादुष्कृतेष्वग्निहोत्रहोमकाले संध्यायां स्तनयित्नुप्रभृतयो भवन्तः प्रत्येकमाकालिकानध्यायहेतवः। अपर्तोविदम् ॥ २३ ॥

सन्ध्याकाल में अग्निहोत्र के काल में मेघगर्जन, वृष्टि या विद्युत् की चमक होने पर अध्ययन न करे ॥ २३ ॥

ऋतावाह—

अहर्ऋतौ ॥ २४ ॥

वर्षर्तावेते यदि भवेयुः संध्यायां तदा प्रातश्चेदहर्मात्रमनध्यायः। सायं तु रात्रावनध्याय इत्यर्थसिद्धत्वादनुक्तम् ॥ २४ ॥

यदि उपर्युक्त घटनाएँ वर्षा ऋतु में प्रातः काल हों तो दिन भर का अनध्याय होता है (सायंकाल होने पर रात्रि को अनध्याय होता ही है) ॥ २४ ॥

विद्युति नक्तं चाऽऽपररात्रात् ॥ २५ ॥

यदि नक्तं विद्युद् दृश्यते न संध्यायां तदाऽऽपररात्राद्रात्रेस्तृतीयो भागोऽपररात्र आ तस्मादनध्यायः। ततोऽध्येयम्। प्रातस्तु संध्यायां विद्युति जाबाल आह—विद्युति प्रातरहरनध्याय इति ॥ २५ ॥

यदि रात्रि में विद्युत् चमकती दिखाई पड़े तो रात्रि के तीसरे भाग तक अनध्याय होता है ॥ २५ ॥

त्रिभागादिप्रवृत्तौ सर्वम् ॥ २६ ॥

यद्यहस्तृतीयाद्भागादारभ्य विद्युत्प्रवर्तते न केवलायां संध्यायां नापि नक्तं तदा सर्वरात्रमनध्यायः ॥ २६ ॥

यदि दिन के तीसरे पहरे से लेकर विद्युत् चमकती रहे, तो सारी रात अनध्याय रहता है ॥ २६ ॥

उल्का विद्युत्समेत्येकेषाम् ॥ २७ ॥

उल्का च विद्युत्तुल्या। यथा विद्युत्यनध्यायो विद्युति नक्तं चापररात्रादित्येवमुल्कापातेऽपीत्येकेषां मतम् ॥ २७ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि उल्कापात होने पर भी विद्युत् दर्शन के समान ही (रात्रि के तीसरे भाग तक अनध्याय होता है) ॥ २७ ॥

स्तनयित्नुरपराह्णे ॥ २८ ॥

स्तनियत्नुरपराह्णे यदि भवति न संध्यायां तदा विद्युत्समो भवति। आऽपररात्रादनध्यायं करोति ॥ २८ ॥

अपराह्ण में मेघों का गर्जन होने पर (विद्युत् दर्शन के समान ही रात्रि के तीसरे भाग तक अनध्याय होता है) ॥ २८ ॥

अपि प्रदोषे ॥ २९ ॥

प्रदोषेऽपि भवः स्तनयित्नुर्विद्युत्समः। आऽपररात्रादनध्यायहेतुः ॥२९॥

प्रदोष काल में भी मेघगर्जन होने पर (विद्युत् दर्शन के समान ही रात्रि के तीसरे भाग तक अनध्याय रहता है) ॥ २९ ॥

सर्वं नक्तमाऽर्धरात्रात् ॥ ३० ॥

प्रथमाद्रात्रिभागादारभ्याऽर्धरात्रात्प्रवृत्तः स्तनयित्नुः सर्वं नक्तमनध्यायहेतुः ॥ ३० ॥

रात्रि के आरम्भ से लेकर आधीरात तक के समय में मेघगर्जन होने पर सारी रात अनध्याय होता है ॥ ३० ॥

अहश्चेत्सज्योतिः ॥ ३१ ॥

अहश्चेत्स्तनयित्नुर्भवति।प्रागपराह्णात्तदा सज्योतिरनध्यायः। सकलं दिवसमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

यदि (अपराह्ण से पहले) दिन में मेघगर्जन हो तो सूर्य का प्रकाश रहने तक अर्थात् दिन भर अनध्याय होता है ॥ ३१ ॥

विषयस्थे च राज्ञि प्रेते ॥ ३२ ॥

यस्मिन्विषये स्वयं वसति तत्रस्थे तस्याधिपतौ राज्ञि प्रेते सज्योतिरनध्यायः। आकालिकमित्यन्ये ॥ ३२ ॥

जिस स्थान पर निवास किया जा रहा हो वहाँ के अधिपति राजा की मृत्यु होने पर दिन भर अनध्याय होता है ॥ ३२ ॥

विप्रोष्य चान्योन्येन सह ॥ ३३ ॥

यदा सहाध्यायिनः परस्परं विप्रवसेयुः केचिच्चाऽऽचार्येण संगतास्तदा सज्योतिरनध्यायः। आ परेषां मेलनादित्येके। आकालिकमित्यन्ये ॥ ३३ ॥

यदि एक साथ अध्ययन करने वालों में कोई शिष्य बाहर गया हो और अन्य गुरु के साथ हों तो गये हुए शिष्य के वापस लौटकर आने तक अनध्याय रहता है ॥ ३३ ॥

संकुलोपाहितवेदसमाप्तिच्छर्दिश्राद्धमनुष्ययज्ञभोजनेष्वहोरात्रम् ॥ ३४ ॥

संकुलश्चोरादिभिर्ग्रामाद्युपद्रवः। उपाहितोऽग्निदाहः। वेदसमाप्तिः शाखासमाप्तिः। छर्दनं भुक्तोद्गारः। श्राद्धमेकोद्दिष्टादि। मनुष्ययज्ञो वसन्तोत्सवादिः। भोजनशब्द उभाभ्यां संबध्यते। श्राद्धभोजने मनुष्ययज्ञभोजन इति। एतेषु निमित्तेष्वहोरात्रमनध्यायः। मनुष्यप्रकृतीनां

देवानां यज्ञो मनुष्ययज्ञ इत्यन्ये। यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—मनुष्यप्रकृतीनां देवानां यज्ञे भुक्त्वेत्येक इति। ये मनुष्या भूत्वा प्रकृष्टेन तपसा देवाः संपन्नास्तद्यज्ञस्तत्प्रीत्यर्थं ब्राह्मणभोजनम् ॥ ३४ ॥

गाँव में चोरों आदि का उपद्रव होने पर, आग लग जाने पर, एक वेद का अध्ययन पूरा होने पर, कै होने पर, श्राद्ध का भोजन करने पर तथा मनुष्ययज्ञ में भोजन करने पर एक दिन और रात अनध्याय होता है ॥ ३४ ॥

अमावास्यायां च ॥ ३५ ॥

अमावास्यायामहोरात्रमनध्यायः ॥ ३५ ॥

अमावस्या को दिन और रात्रि में अनध्याय होता है ॥ ३५ ॥

द्व्यहं वा ॥ ३६ ॥

तदहः पूर्वेद्युश्च द्व्यहमनध्यायः। शुक्लचतुर्दश्यां त्वनध्यायस्य मूलान्तरं मृग्यम्। एवं प्रतिपत्सु च ॥ ३६ ॥

अथवा दो दिन (अमावस्या का दिन तथा उसके पहले के दिन) अनध्याय रहता है ॥ ३६ ॥

कार्तिकी फाल्गुन्याषाढी पौर्णमासी ॥ ३७ ॥

कार्तिक्याद्यास्तिस्रः पौर्णमास्योऽनध्यायहेतवोऽहोरात्रम्। पौर्णमास्यन्तरेष्वनध्याये मूलं मृग्यम् ॥ ३७ ॥

कार्तिक, फाल्गुन, और आषाढ़ मासों की पौर्णमासी को दिन-रात्रि का अनध्याय रहता है ॥ ३७ ॥

तिस्रोऽष्टकास्त्रिरात्रम् ॥ ३८ ॥

ऊर्ध्वमाग्रहायण्यास्त्रिष्वपरपक्षेषु तिस्रोऽष्टकाः। तास्त्रिरात्रमनध्यायहेतवः तदहः पूर्वेद्युरपरेद्युश्च ॥ ३८ ॥

आग्रहायणी आदि तीन अष्टका तिथियों को भी तीन दिन रात्रि का अनध्याय होता है ॥ ३८ ॥

अन्त्यामेके ॥ ३९ ॥

एकेऽन्त्यामेकाष्टकामनध्यायहेतुं मन्यन्ते ॥ ३९ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि केवल अन्तिम अष्टका के अवसर पर अनध्याय होता है ॥ ३९ ॥

अभितो वार्षिकम् ॥ ४० ॥

श्रवणादि वार्षिकमिति यदुक्तं वार्षिकमनध्ययनं तदभितस्तस्योभयोः पार्श्वयोर्ये कर्मणो उपाकरणोत्सर्जने तयोरपि कृतयोस्त्र्यहमनध्यायमेक इच्छन्ति । तथा च मनुः—

उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्रिरात्रं क्षपणं स्मृतम् । इति ।

उशना—उपाकर्मणि चोत्सर्गे त्र्यहमनध्यायः ॥ इति ॥ ४० ॥

श्रवणादि वार्षिकोत्सव के समय उसके पूर्व और पश्चात् के (उपाकरण एवं उत्सर्जन के) दिनों को लेकर तीन दिन अनध्याय होता है ॥ ४० ॥

सर्वे वर्षाविद्युत्स्तनयित्नुसंनिपाते ॥ ४१ ॥

वर्षादीनां त्रयाणां युगपत्संनिपाते त्रिरात्रमनध्याय इति सर्व एवाऽऽचार्या मन्यन्ते ॥ ४१ ॥

वर्षा, विद्युत और मेघगर्जन के एक साथ होने पर तीन रात्रि का अनध्याय होता है ऐसा सभी आचार्यों का मत है ॥ ४१ ॥

प्रस्यन्दिनि ॥ ४२ ॥

प्रकृष्टं स्यन्दनं वर्षं प्रस्यन्दस्तद्वति च काले यावत्प्रस्यन्दनमनध्यायो द्व्यहं त्र्यहं चतुरहं वा ॥ ४२ ॥

मूसलाधार वर्षा होने पर जब तक वर्षा होती रहे तब तक अनध्याय रहता है ॥ ४२ ॥

ऊर्ध्वं भोजनादुत्सवे ॥ ४३ ॥

उपनयनादावुत्सवे भोजनादूर्ध्वं तदहरनध्यायः ॥ ४३ ॥

(उपनयन आदि) उत्सव में भोजन के बाद उस दिन अनध्याय रहता है ॥ ४३ ॥

प्राधीतस्य च निशायां चतुर्मुहूर्तम् ॥ ४४ ॥

उपकृत्याध्येतुं प्रवृत्तः प्राधीतः । आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च । तस्य निशायां चतुर्मुहूर्तं चतुरो मुहूर्तानष्टौ नाडिका अनध्यायः । 'श्रावण्यां पौर्णमास्यामध्यायमुपाकृत्य मासं प्रदोषे नाधीयीत' इत्यापस्तम्बीयेन समानार्थमिदम् । चकारात्त्रयोदशीप्रदोषेऽपि निशायां चतुर्मुहूर्तं निषेधो दर्शितः ॥ ४४ ॥

उपाकर्म के उपरान्त अध्ययन आरम्भ करने वाले के लिए रात्रि में चार मुहूर्त तक अनध्याय होता है ॥ ४४ ॥

नित्यमेके नगरे ॥ ४५ ॥

एक आचार्या नगरे नित्यमेवाध्ययनं नेच्छन्ति । नित्यग्रहणं निशाधिकारनिवृत्त्यर्थम् ॥ ४५ ॥

कुछ आचार्यों के अनुसार नगर मे वेदाध्ययन करने का सदैव निषेध होता है ॥ ४५ ॥

मानसमप्यशुचिः ॥ ४६ ॥

अप्रयतः सन्मानसमप्यध्ययनं न कुर्यात् । एवं चान्येष्वनध्यायहेतुषु मानसमनिषिद्धम् ॥ ४६ ॥

अपवित्र रहने पर मन से भी वेदाध्ययन का विचार न करे ॥ ४६ ॥

श्राद्धिनामाकालिकम् ॥ ४७ ॥

श्राद्धमस्यास्तीति श्राद्धी श्राद्धस्य कर्ता । अत इनिठनौ । न तु श्राद्धमनेन भुक्तमिति । भोक्तरि पूर्वमेव निषिद्धत्वात् । तेषां श्राद्धदातृणामाकालिकमनध्यायः । अपर आह—ये श्राद्धे केवलं भुक्तवन्तो न पित्राद्यर्थं पात्रतया तेषां पूर्वकोऽहोरात्रनिषेधः । अयं त्वाकालिकनिषेधः पित्राद्यर्थं पात्रतया भुक्तवतामिति ॥ ४७ ॥

श्राद्ध करने वाला दूसरे दिन के उसी समय तक अध्ययन न करे ॥ ४७ ॥

अकृतान्नश्राद्धिकसंयोगेऽपि ॥ ४८ ॥

भोजनासंभवे यद्य (द) कृतान्नं पितृभ्यो दीयते तदकृतान्नश्राद्धिकम् । तत्संयोगेऽप्याकालिकमनध्यायः । न केवलं भुक्तवतः । तत्र मनुः-

प्राणि वा यदि वाऽप्राणि यत्किंचिच्छ्राद्धिकं भवेत् ।
तदालभ्याप्यनध्यायः पाण्यास्या ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ इति ।

आमश्राद्धस्यैतदेव लिङ्गम् ॥ ४८ ॥

श्राद्ध के समय बिना पका हुआ अन्न दिया जाय तो भी उपर्युक्त नियम से अनध्याय होता है ॥ ४८ ॥

प्रतिविद्यं च यान्स्मरन्ति [यान्स्मरन्ति] ॥ ४९ ॥

प्रतिविद्यं प्रतिधर्मशास्त्रं याननध्यायान्स्मरन्ति स्मर्तारस्तेष्वपि हेतुषु नाधीयीत । तत्र वसिष्ठः—दिग्दाहपर्वतप्रपातेषूपलरुधिरपांसुवर्षेष्वाकालिकमिति ।

श्लेष्मातकस्य शाल्मल्या मधूकस्य तथाऽप्यधः।
कदाचिदपि नाध्येयं कोविदारकपित्थयोः॥ इति॥
एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम्। [अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः]॥ ४९॥

प्रत्येक धर्मशास्त्र में जो अनध्याय के नियम बताये गये हैं उनका भी पालन करना चाहिए॥ ४९॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
द्वितीयप्रश्ने सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

अथाष्टमोऽध्यायः

मानसमप्यशुचिरित्युक्तम् । तच्चाशुचित्वमाहारजनितमपि भवतीति भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणमारभ्यते—

प्रशस्तानां स्वकर्मसु द्विजातीनां ब्राह्मणो भुञ्जीत ॥ १ ॥

स्वकर्मसु वर्णप्रयुक्तेष्वाश्रमप्रयुक्तेषूभयप्रयुक्तेषु च ये प्रशस्ताः 'अहो अयं स्वकर्मानुतिष्ठति' इति तेषां द्विजातीनां गृहे ब्राह्मणो भुञ्जीत । क्षुदुपघातार्था भोजने प्रवृत्तिः । शक्या च यस्य कस्यचिद् गृहे भुञ्जानेन क्षुदुपहन्तुम् । तत्र परिसंचष्ट एषामेव गृहे ब्राह्मणो भुञ्जीत नान्येषामिति ॥१॥

अपने वर्ण के कर्म का भली भाँति आचरण करने के लिए प्रख्यात द्विजातियों के घर ही ब्राह्मण भोजन करे ॥ १ ॥

प्रतिगृह्णीयाच्च ॥ २ ॥

प्रतिग्रहोऽप्येषामेव सकाशान्नान्येषामिति ॥ २ ॥

और (ऐसे ही द्विजातियों से) दान भी ग्रहण करे ॥ २ ॥

अस्यापवादः—

एधोदकयवसमूलफलमध्वभयाभ्युद्यतशय्यासनावसथयानपयोदधिधानाशफरीप्रियङ्गुस्रङ्मार्गशाकान्यप्रणोद्यानि सर्वेषाम् ॥३॥

एधः काष्ठम् । उदकं घटादिस्थमपि । यवसं तृणादि । मूलमार्द्रकादि । फलमाम्रादि । मधु माक्षिकम् । अभयं परित्राणम् । अभ्युद्यतमयाचितेनापि दात्रा स्वयमानीतमिदं गृहाणेति । शय्या कटादि । आसनं पीठादि । आवसथः प्रतिश्रयः । यानं शकटादि । दधिपयसी प्रसिद्धे । धाना भृष्टा यवाः । शफरी मत्स्यविशेषः । [प्रियङ्गू राजिका] । स्रङ्माला । मार्गं मृगमांसं पन्था वा मार्गः । शाकं वास्तुकादि । एतान्येषाद्यान्यप्रणोद्यानि सर्वतः प्रतिग्राह्याणि याचित्वाऽपि । अभ्युद्यतं पक्वान्नाद्यप्रणोद्यमप्रत्याख्येयं प्रत्याख्याने दोषः । तथाचाऽऽपस्तम्बः—

> उद्यतामाहृतां भिक्षां पुरस्तादप्रवेदिताम् ।
> भोज्यां मेने प्रजापतिरपि दुष्कृतकारिणः ॥
> न तस्य पितरोऽश्नन्ति दश वर्षाणि पञ्च च ।
> न च हव्यं वहत्यग्निर्यस्तामभ्यवमन्यते ॥ इति ।

अस्यापवादः—चिकित्सकस्य मृगयोः शल्यकृन्तस्य पाशिनः।
कुलटायाश्च षण्ढस्य तेषामन्नमनाद्यम्॥ इति ॥ ३ ॥

ईंधन, जल (घड़े में रखा हुआ भी), घास, (अदरख आदि) मूल, (आम्र आदि) फल, मधु, अभय, विना माँगे ही मिला हुआ अन्न, शय्या, आसन, आश्रयस्थान, गाड़ी इत्यादि यान, दूध, दही, भुने हुए अन्न, छोटी मछलियाँ, प्रियङ्गु, माला, मृगमांस अथवा मार्ग, शाक—ये सभी मिलने पर (या माँगकर भी) किसी भी वर्ण से ग्रहण किये जा सकते हैं ॥ ३ ॥

पितृदेवगुरुभृत्यभरणेऽप्यन्यत् ॥ ४ ॥

पितृभरणमविच्छेदेन श्राद्धकरणम्। देवभरणमग्निहोत्रादि। गुरवः पित्रादयः। भृत्याः पुत्रदासादयः। तेषां भरणं भक्तादिदानम्। एतेषु निमित्तेष्वन्यदप्युक्तादन्यदप्यप्रणोद्यम्।

मनुश्च—गुरून्भृत्यांश्चोद्धरिष्यन्नर्चिष्यन्देवतातिथीन्।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयान्न तु तृप्येत्स्वयं ततः॥ इति ॥ ४ ॥

श्राद्धकर्म, अग्निहोत्रादि देवकर्म, पिता आदि गुरुजनों की सेवा एवं आश्रित जनों (पुत्र, दास आदि) की आवश्यकता की कोई भी अन्य वस्तु (किसी भी वर्ण से मिले तो अस्वीकार नहीं करनी चाहिए) ॥ ४ ॥

वृत्तिश्चेन्नान्तरेण शूद्रात् ॥ ५ ॥

यदि शूद्रप्रतिग्रहमन्तरेण वृत्तिर्जीवनं न निर्वर्तते तदा शूद्रादपि प्रतिगृह्णीयात् ॥ ५ ॥

यदि जीवन-निर्वाह का कोई अन्य उपाय न हो तो ये वस्तुएँ एक शूद्र से भी ली जा सकती हैं ॥ ५ ॥

पशुपालक्षेत्रकर्षककुलसंगतकारयितृपरिचारका भोज्यान्नाः ॥६॥

यो यस्य पशून्पालयति क्षेत्रं च कर्षति, यश्च यस्य कुले संगतः पारम्पर्येण मित्ररूपेणाऽऽगतः, यश्च यस्य परिचारको दासस्ते तेषां भोज्यान्नाः। पक्वमप्यन्नं तेषां भुञ्जीरन्। कारुः कारयिता। 'ऊर्ध्वं नापितः श्मश्रूणि कारयति' इति हि दृश्यते। स च विप्राद्वैश्यायामनूढायां जातः सोऽपि भोज्यान्नः। तत्र मनुः—

क्षेत्रिकः कुलमित्रश्च गोपालो दासनापितौ।
एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चाऽऽत्मानं निवेदयेत्॥ इति ॥

एतच्चात्यन्तापद्विषयम् ॥ ६ ॥

अपने पशुओं के चरवाहे, (हलवाहे), कुल के परम्परा से चले आने वाले मित्र जनों, नाई, और परिचारक का अन्न ग्रहण किया जा सकता है ।।६।।

वणिक्चाशिल्पी ॥ ७ ॥

वणिकच भोज्यान्नः, स चेदशिल्पी कुम्भकारादिको न भवति ॥ ७ ॥

यदि वणिक् शिल्पी यथा कुम्हार आदि न हो तो उसके यहाँ भी भोजन किया जा सकता है ॥ ७ ॥

अथाभोज्यमाह—

नित्यमभोज्यम् ॥ ८ ॥

नित्यं परगृहे न भोक्तव्यम् । गृहस्थस्यायं प्रतिषेधः । 'उपासते गृहस्था ये परपाकमबुद्धयः' इति मानवे दर्शनात् अन्येभ्यो यावत्प्रत्यहं दीयते तन्नित्यमभोज्यम् ॥ ८ ॥

प्रतिदिन दूसरे के घर या दूसरे के द्वारा दिया गया भोजन नहीं खाना चाहिए ॥ ८ ॥

केशकीटावपन्नम् ॥ ९ ॥

यच्चान्नं केशैः कीटैर्वा संबद्धं तदप्यभोज्यम् । अत्र वसिष्ठः—

कामं तु केशकीटानुत्सृज्याद्भिः प्रोक्ष्य भस्मनाऽवकीर्य वाचा प्रशस्तमुपयुञ्जीत । इति ।

मनुस्तु—पक्षिजग्धं गवा घ्रातमवधूतमवक्षुतम् ।
केशकीटावपन्नं च मृत्प्रक्षेपेण शुध्यति ॥ इति ॥

तदेषां रुचितो व्यवस्था । अपर आह—पाकादारभ्य यत्केशकीटावपन्नं तत्र गौतमीयमूर्ध्वं तु वासिष्ठमानव इति ॥ ९ ॥

जिस अन्न में केश या कीट पड़े हों वह अभोज्य होता है ॥ ९ ॥

रजस्वलाकृष्णशकुनिपदोपहतम् ॥ १० ॥

कृष्णशकुनिः काकः । पदग्रहणं तुण्डादेरप्यवयवस्योपलक्षणम् । रजस्वलया कृष्णशकुनिपदेन वोपहतं स्पृष्टमन्नमभोज्यम् । प्रभूते त्वन्ने पराशरः—

शृतं द्रोणाधिकं चान्नं श्वकाकैरुपघातितम् ।
न त्याज्यं तस्य शुद्ध्यर्थं ब्राह्मणेभ्यो निवेदयेत् ॥
गायत्र्यष्टसहस्रेण मन्त्रपूतेन वारिणा ।
भोज्यं तत्प्रोक्षितं विप्रैः पर्यग्निकृतमेव च ॥ इति ।

उपहतं प्रदेशमुद्धृत्येदं कार्यम् ॥ १० ॥

रजस्वला स्त्री द्वारा, और पैर से (या चोंच से भी) कौए द्वारा छुआ गया अन्न अभोज्य होता है ॥ १० ॥

भ्रूणघ्नाऽवेक्षितम् ॥ ११ ॥

भ्रूणहा ब्रह्महा। तथा च वसिष्ठः—'ब्राह्मणं हत्वा भ्रूणहा भवति' इति तेन प्रेक्षितमप्यभोज्यम् ॥ ११ ॥

भ्रूण की हत्या करने वाले (ब्रह्महत्या करनेवाले) द्वारा देखा गया अन्न अभोज्य होता है ॥ ११ ॥

भावदुष्टम् ॥ १२ ॥

भोजयित्राऽवज्ञानेन दत्तं भोक्तुर्वा मनसो दुष्टिकरं भावदुष्टम्। तदप्यभोज्यम् ॥ १२ ॥

खिलाने वाले ने जिसे तिरस्कारपूर्वक दिया हो अथवा जो भोजन करने वाले के मन को दूषित करता हो वह अन्न अभोज्य होता है ॥ १२ ॥

गवोपघ्रातम् ॥ १३ ॥

गवा चोपसमीपे घ्रातमभोज्यम् ॥ १३ ॥

जिसके निकट गौ ने सूँघ लिया हो वह अन्न अभोज्य होता है ॥ १३ ॥

शुक्तं केवलमदधि ॥ १४ ॥

यत्पक्वं कालवशादम्लरसं तत्केवलं शुक्तम्। तदभोज्यम्। केवलग्रहणात्क्षीरोदकादिसंपृक्तमम्लमपि भोज्यम्। दधि तु केवलमप्यम्लं भोज्यम्। तक्रकाञ्जिकयोरपक्वत्वान्नायं प्रतिषेधः। आचारोऽपि तक्रे निर्विवादः। काञ्जिके सविवादः ॥ १४ ॥

जो अन्न पकाकर रख दिया गया हो और कालवश खट्टा हो गया हो वह अभोज्य होता है, किन्तु दही खट्टा हो जाने पर भी भोज्य होता है ॥ १४ ॥

पुनः सिद्धम् ॥ १५ ॥

सकृत्पक्वस्य तादृश एव पाकः पुनः क्रियते पूर्वं शुक्तपक्वमिति तत्पुनः सिद्धम्। तदभोज्यम्। अन्यथापक्वस्य तु पाकान्तरे भर्जनादौ न दोषः ॥ १५ ॥

एक बार पकाये गए अन्न को यदि कुछ समय बाद पुनः उसी प्रकार पकाया जाय तो वह अभोज्य हो जाता है ॥ १५ ॥

पर्युषितमशाकभक्ष्यस्नेहमांसमधूनि ॥ १६ ॥

उदयास्तमयान्तरितं पर्युषितम्। दिवा पक्वं रात्रौ रात्रिपक्वं दिवा तदशुक्तमप्यभोज्यम्। शाकादि तु पर्युषितमपि भोज्यम्। शाकमुक्तम्। भक्ष्याः पृथुकापूपादयः स्नेहो घृततैलादिः। मांसं प्रसिद्धम्। मधु च। एतानि पर्युषितान्यपि भोज्यानि। स्नेहमध्वादीनामपक्वत्वादेवापर्युषितत्वं तस्मात्स्नेहमधुग्रहणं तत्संसृष्टस्यापि पर्युषितस्य पर्युदासार्थम्। तेन तत्संसृष्टं पर्युषितमपि भोज्यमगर्हितम्।

तत्पर्युषितमप्याद्यं हविःशेषं च यद्भवेत् ॥ १६ ॥

बासी भोजन (दिन में बनाया हुआ रात्रि को और रात्रि में बनाया हुआ भोजन दिन में) अभोज्य हो जाता है, किन्तु शाक, पृथुक, अपूप आदि भक्ष, घी, तेल आदि, मांस एवं मधु बासी भी खाए जा सकते हैं ॥ १६ ॥

उत्सृष्टपुंश्चल्यभिशस्तानपदेश्यदण्डिकतक्षकदर्यबन्धनिकचिकित्सकमृगय्वनिषुचार्युच्छिष्टभोजिगणविद्विषाणानाम् ॥ १७ ॥

उत्सृष्टः पितृभ्यां परित्यक्तः।

गण्डस्योपरिजातानां परित्यागो विधीयते।

इत्यादिना कारणेन दुर्भिक्षे रक्षणाशक्त्या, प्रातिकूल्येन वा। पुंश्चली-अनियतपुंस्का व्यभिचारिणी गणिका च। अभिशस्तः सताऽसता वा दोषेण ख्यातः। अनपदेश्य एवंभूतोऽयमिति व्यपदेशानर्हः। स्त्रीत्वपुंस्त्वाभ्यामनिर्देश्या तृतीयाप्रकृतिरित्यन्ये। दण्डिको राज्ञा दण्डाधिकारे नियुक्तः। शूद्रात्प्रातिलोम्येन वैश्यायां जातस्तक्षा। वैश्यात्क्षत्रियायां जातो माहिष्यः। शूद्रायामूढायां वैश्याज्जाता करणी, तस्यां माहिष्याज्जातो रथकारः। स तक्षेत्यन्ये। कदर्यो लुब्धः। यमधिकृत्य मनुराह—

श्रोत्रियस्य कदर्यस्य वदान्यस्य च वार्धुषेः। इति।

बन्धनिको बन्धकागाररक्षी। चिकित्सको वैद्यः शल्यकर्ता वा। यो मृगयुः सन्निषुचारी न भवति किंतु पाशचारी स मृगय्वनिषुचारी वागुरिकः। उच्छिष्टभोजी निगदसिद्धः। गणो जनसमुदायः। विद्विषाणः शत्रुः। एतेषामुत्सृष्टादीनामन्नमभोज्यम्। येऽत्र प्रशस्ता द्विजातयो न भवन्ति तेषां ग्रहणमुदितप्रतिषेधार्थम्। तथा चाऽपस्तम्बः—चिकित्सकस्य मृगयोरित्यादि। आपद्यपि प्रतिषेधार्थमित्यन्ये ॥ १७ ॥

माता-पिता द्वारा परित्यक्त व्यक्ति का, व्यभिचारिणी स्त्री का, वास्तविक अथवा मिथ्या दोषारोपण द्वारा निन्दित व्यक्ति का (नपुंसक का), राजा द्वारा दण्डकार्य में नियुक्त व्यक्ति का, वैश्यस्त्री से उत्पन्न शूद्र का पुत्र (अथवा बढ़ई

या रथकार माहिष्य द्वारा करणी स्त्री से उत्पन्न), लोभी, कारागार के प्रहरी, चिकित्सक, बिना धनुष के शिकार करने वाले, जूठा भोजन करनेवाले, अनेक लोगों के गण का तथा शत्रु का अन्न अभोज्य होता है ॥ १७ ॥

अपङ्क्त्यानां प्राग्दुर्वालात् ॥ १८ ॥

ये चापङ्क्त्याः प्रागुपदिष्टास्त्यक्तात्मपर्यन्तास्तेषामप्यन्नमभोज्यम् ॥ १८ ॥

श्राद्ध भोजन में (पूर्वोक्त) पंक्ति में न बैठाये जाने योग्य व्यक्तियों में दुर्वाल (गंजे सिरे वाले) के पहले जिनका उल्लेख किया गया है उन (त्यक्तात्म तक के २.६.१८) के व्यक्तियों का अन्न अभोज्य होता है ॥ १८ ॥

वृथान्नाचमनोत्थानव्यपेतानि ॥ १९ ॥

यदात्मार्थं पच्यते नातिथ्याद्यर्थं तद् वृथान्नम्। श्रूयते हि—'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः' इत्यादि। भोजनमध्ये यत्र कोपादिना पुनराचम्यत उत्थीयते वा। अपेतादन्यद् व्यपेतं सहितमिति। एते आचमनोत्थानव्यपेते अन्ने। एतानि वृथान्नादीन्यभोज्यानि। अत्रोशना—अगुरुभिराचमनोत्थानं चेति। एकस्यां पङ्क्तौ बहुषु भुञ्जानेष्वेकेनापि गुरुव्यतिरिक्तेनाऽऽचमन उत्थाने वा कृत इतरेषामप्यभोज्यमिति। गुरुभिः कृते न दोषः ॥ १९ ॥

जो अन्न अतिथि के लिये (या श्रद्धा से) न पकाया गया हो अर्थात् अपने लिये पकाया गया हो तथा जहाँ एक साथ भोजन करने वालों में कोई कोप आदि से आचमन करके उठ जाय वहाँ अन्न अभोज्य होता है ॥ १९ ॥

समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः ॥ २० ॥

कुलशीलादिभिस्तुल्यः समः। विपरीतोऽसमः। विषमसमशब्दौ भावपरौ। विषमसम इति समाहारद्वन्द्वः। पूजातः पूजायामासनपरिचरणादिकायां समेन सह पूजायां विषमेऽसमेन च साम्ये क्रियमाणे तदन्नमभोज्यम् ॥ २० ॥

जहाँ (कुल-शील आदि में) अपने तुल्य व्यक्ति का अधिक सम्मान हो अथवा अपने से निम्नकोटि के व्यक्ति का अपने समान सम्मान हो वहाँ अन्न नहीं खाना चाहिए ॥२०॥

अनर्चितं च ॥ २१ ॥

यच्चानर्चितं दीयते 'वैधवेय भक्षय' इति तदप्यभोज्यम्। प्रतिग्रहेऽपि तुल्यमेतत्। यथाऽऽह मनुः—

योऽर्चितं प्रतिगृह्णाति ददात्यर्चितमेव यः ।
तावुभौ गच्छतः स्वर्गं नरकं तु विपर्यये ॥ इति ।

'सायं प्रातरशनान्यभिपूजयेत्' इति वसिष्ठः । तदकरणमनर्चितमित्यन्ये ॥ २१ ॥

जो अन्न बिना मांगे दिया गया हो वह अभोज्य होता है ॥ २१ ॥

गोश्च क्षीरमनिर्दशायाः सूतके ॥ २२ ॥

सूतकं प्रसवः । प्रसूताया अनतिक्रान्तदशाहायाः गोः क्षीरमभोज्यम् ॥ २२ ॥

जिस गौ को ब्याए हुए दस दिन पूरे न हुए हों उसका दूध पीने योग्य नहीं होता ॥ २२ ॥

अजामहिष्योश्च ॥ २३ ॥

अजामहिष्योः सूतकेऽनिर्दशाहयोः क्षीरमपेयम् ॥ २३ ॥

इसी प्रकार बकरी और भैंस का (दूध) भी ब्याने के दस दिन से पूर्व पेय नहीं होता ॥ २३ ॥

नित्यमाविकमपेयमौष्ट्रमैकशफं च ॥ २४ ॥

नित्यग्रहणान्न केवलमनिर्दशाहमेव । अविरेवाविकः । उष्ट्रः प्रसिद्धः । एकशफा एकखुरा अश्वादयः । अविकादीनां संबन्धि क्षीरं नित्यमपेयम् ।

मनुस्तु—आरण्यानां तु सर्वेषां मृगाणां महिषं विना ।
स्त्रीक्षीरं चैव वर्ज्यानि सर्वभु (शु)क्तानि चैव हि ॥इति ॥ २४ ॥

भेंड़, ऊँटनी और एक खुर वाले (मादा) पशुओं का दूध नित्य ही अपेय होता है ॥ २४ ॥

स्यन्दिनीयमसूसंधिनीनां च ॥ २५ ॥

यस्याः स्तनेभ्यः क्षीरं स्यन्दते सा स्यन्दिनी । यमसूर्युग्मवत्सप्रसूतिका । या गर्भिणी दुग्धे सा संधिनी । एककालदोहनेत्यन्ये । एवंभूतानां गवादीनां क्षीरमपेयम् ॥ २५ ॥

जिसके थन से दूध टपकता हो, जो जुडवाँ बछड़े देती हो, और जो गर्भिणी होने पर भी दूध देती हो (अथवा एक समय दूध देती हो) ऐसी गायों का दूध अपेय होता है ॥ २५ ॥

विवत्सायाश्च ॥ २६ ॥

वत्सेन वियुक्ता विवत्सा । तस्याश्च गवादेः क्षीरमपेयम् । अत्र प्रकरणे प्रतिषिद्धविकारस्यापि दध्यादेः प्रतिषेधमिच्छन्ति । आचारस्त्वनिर्देशायां तथाऽन्यत्रानियतः ॥ २६ ॥

जिस गाय का बछड़ा न हो उसका भी दूध अपेय होता है ॥ २६ ॥

इदानीं स्वरूपत एवाभक्ष्यानाह—

पञ्चनखाश्चाशल्यकशशश्वाविद्गोधाखड्गकच्छपाः ॥ २७ ॥

अभक्ष्या इत्युत्तरत्र वक्ष्यति । येषां पाणिपादेषु पञ्चोक्ता नखास्ते पञ्चनखा वानरादयोऽभक्ष्याः । शल्यादीन्वर्जयित्वा । शल्यको वराहविशेषो यस्य नाराचाकाराणि लोमानि । शशः प्रसिद्धः । श्वावित्कल्पको यस्य चर्मणा तनुत्राणं क्रियते । गोधा कृकलासाकृतिर्महाकायः । खड्गो मृगविशेषः । शृङ्गमृत्युः । कच्छपः प्रसिद्धः । अत्र पठन्ति—

अभक्ष्याणां तु यन्मूत्रं तदुच्छिष्टं तथैव च ।
अभोज्यमिति निर्दिष्टं विष्ठा चैव प्रयत्नतः । इति ॥ २७ ॥

शल्यक (विशेष प्रकार का सूअर), खरगोश, श्वावित् , गोह, खड्ग, और कच्छप को छोड़कर पाँच नखवाले (वानर इत्यादि) पशु अभक्ष्य होते हैं ॥ २७ ॥

उभयतोदत्केश्यलोमैकशफकलविङ्कप्लवचक्रवाकहंसाः ॥ २८ ॥

उभयतोदन्ता अश्वादयः । दद्भाव आर्षः । केशिनः केशातिशययुक्ताश्चमर्यादयः । अलोमानः सर्पादयः । एकशफा एकखुराः । अनुभयतोदन्तार्थमिदम् । कलविङ्को ग्रामचटकः । प्लवः शकटबिलाख्यः पक्षी । हंसचक्रवाकौ प्रसिद्धौ । एते चाभक्ष्याः ॥ २८ ॥

जिसके मुख में ऊपर-नीचे दोनों ही जबड़ों में दाँत हों (अश्व आदि), अत्यन्त केश वाले (चमरी आदि), जिनके शरीर पर केश नहीं होते (सर्प आदि), एक खुरवाले पशु, ग्रामचटक, शकटविल और हंस, चक्रवाक पक्षी— ये अभक्ष्य होते हैं ॥ २८ ॥

काककङ्कगृध्रश्येना जलजा रक्तपादतुण्डा ग्राम्यकुक्कुटसूकराः ॥ २९ ॥

काकादयः प्रसिद्धाः । जलजा अपि पक्षिण एव काकादिसंनिधानात् । तेषां विशेषणं रक्तपादतुण्डा इति । ग्रामे भवो ग्राम्यः । उत्तरयोश्चैतद्विशेषणं ग्राम्यकुक्कुटो ग्राम्यसूकर इति । आरण्ययोरप्रतिषेधः ॥ २९ ॥

कौआ, कंक, गृध्र और श्येन, जल में रहने वाले, लाल पैरों एवं लाल चोंच वाले पक्षी तथा पालतू कुक्कुट एवं सूकर अभक्ष्य होते हैं ॥ २९ ॥

धेन्वनडुहौ च ॥ ३० ॥

धेनुः पयस्विनो गौः । अनड्वाननोवहनयोग्यो बलीवर्दः । द्वंद्वेऽचतुरेत्यादिसमासान्तर्निपातनाद्धेन्वनड्वाहाविति[न] प्राप्नो[ती]ति तदनादृतम् । अपपाठो वा । धेन्वनडुहौ चाभक्ष्यौ । आपस्तम्बीये तु गोत्राभ्यां(या)मांसं भक्ष्यमुक्त्वा धेन्वनडुहो(ह्यो)र्भक्ष्यं मेध्यमानडुहमिति वाजसनेयकमित्युक्तम् । आनडुह न केवलं भक्ष्यं किं तर्हि मेध्यमपीत्यर्थः । बह्वृचब्राह्मणेषु श्रूयते—तद्यथैवादो मनुष्यराज आगतेऽन्यस्मिन्वाऽर्हत्युक्षाणं वा वेहतं वाऽक्षदन्त इति । तत्रातिथेर्भक्ष्यमन्येषामभक्ष्यमिति । वधोऽपि किल तत्रानुज्ञातः 'दाशगोघ्नौ संप्रदाने' गौर्यस्मै हन्यते स गोघ्नोऽतिथिरिति । एवं किल पूर्वमाचारः । इदानीं गन्धोऽपि (?) ॥ ३० ॥

गौ और बैल अभक्ष्य होते हैं ॥ ३० ॥

अपन्नदन्नवसन्नवृथामांसानि ॥ ३१ ॥

अपन्नदन्नपतितदन्तः । सोऽप्रतिषिद्धोऽपि न भक्ष्यः । 'यदा वै पशोर्दन्ताः पद्यन्तेऽथ स मेध्यो भवति' इति बह्वृचब्राह्मणम् । योऽपन्नदन्मर्तं तत्पशूनामिति विज्ञायत इत्यापस्तम्बः । अवसन्नो व्याधितः । वृथामांसं वृथान्नेन व्याख्यातम् । पुनः प्रतिषेधस्तु मांसस्य प्रायश्चित्तगौरवार्थः ॥ ३१ ॥

जिन पशुओं के दूध के दाँत न गिरे हों, जो रोगी हों और जिन्हें किसी धार्मिक प्रयोजन से न मारा गया हो, ऐसे पशुओं का मांस नहीं खाना चाहिए ॥ ३१ ॥

किसलयक्याकु(किम्पाकु)लशुननिर्यासाः ॥ ३२ ॥

किसलयः पल्लवोऽग्रप्ररोहः । क्याकु(किम्पाकु)श्छत्राकः । लशुनं प्रसिद्धम् । निर्यासो वृक्षत्वग्भूतो घनीभूतो रसो हिङ्ग्वादिः । किसलयादयोऽप्यभक्ष्याः ॥ ३२ ॥

पल्लव, छत्राक (कुकुरमुत्ता), लहसुन और वृक्ष की छाल से बाहर निकला हुआ (हींग आदि) पदार्थ अभक्ष्य होते हैं ॥ ३२ ॥

लोहिता व्रश्चनाः ॥ ३३ ॥

वृक्षादिषु वृक्णप्रदेशे भवा व्रश्चना निर्यासास्ते लोहिताश्चेन्न भक्ष्याः ।

स्वयं सूना निर्यासा लोहिता अलोहिताश्चाभक्ष्याः । व्रश्चनप्रभवास्तु लोहिता एव । मनुस्तु—लोहितान्वृक्षनिर्यासान्व्रश्चनप्रभवांस्तथा । इति ।

केचित्तु लोहितशब्दं किसलयादिष्वपि पठन्ति । हिङ्गुस्तु निर्यासो व्रश्चनप्रभवो न वेति चिन्त्यम् । सर्वथा शिष्टा अपि भक्षयन्ति । कर्पूरस्तु न निर्यासो न व्रश्चनप्रभवो न लोहितस्तस्माद् भक्ष्य एव ॥३३॥

वृक्षादि के कटे हुए स्थान से निकले हुए लाल रंग के पदार्थ का भक्षण नहीं करना चाहिए ॥ ३३ ॥

निचुदारुबकबलाकाशुकमद्गुटिट्टिभमास्थालनक्तंचरा अभक्ष्याः ॥ ३४ ॥

निचुदारुर्दार्वाघाटः । मद्गुर्जलवायसः । मास्थालो वाग्वदः । नक्तंचरा उलूकादयः । अन्ये प्रसिद्धाः । अभक्ष्या इति पञ्चनखा इत्यारभ्य संबध्यते ॥ ३४ ॥

कठफोड़वा, बलाका, सारस, तोता, पनकौआ, टिटिहरी, वल्गुल तथा रात्रि में उड़ने वाले (उल्लू आदि) पक्षी अभक्ष्य होते हैं ॥ ३४ ॥

भक्ष्याः प्रतुदविष्किरजालपादाः ॥ ३५ ॥

तुण्डेन प्रतुद्य प्रतुद्य ये भक्षयन्ति ते प्रतुदाः । ये पादाभ्यां विकीर्य भक्षयन्ति मयूरादयस्ते विष्किराः । जालाकारौ पादौ येषां ते जालपादाः । एते भक्ष्याः । यद्यप्यभक्ष्येषूक्तेष्वन्ये भक्ष्या इति गम्यते तथाऽपि भक्ष्या इत्युपादानमनुक्तानामापद्येव भक्षणं [यथा] स्यादनापदि मा भूदिति ॥ ३५ ॥

चोंच से तोड़-तोड़ कर खाने वाले, पैरों से तोड़कर खानेवाले पक्षी (मयूर आदि) तथा जालीदार पैरों वाले पक्षी भक्ष्य होते हैं ॥ ३५ ॥

मत्स्याश्चाविकृताः ॥ ३६ ॥

विकृता मनुष्यशिरस्कादयस्तद्विपरीता अविकृता भक्ष्या इति ॥ ३६ ॥

जो मछलियां विकृत स्वरूप वाली नहीं होती है, वे भक्ष्य होती हैं ॥ ३६ ॥

वध्याश्च धर्मार्थे ॥ ३७ ॥

ये भक्ष्या उक्तास्ते न केवलं स्वयं मृता अन्यहता वा भक्ष्या अपि तु वध्याश्च । धर्मार्थेऽतिथिपूजादौ । अपरश्चाऽऽह-ये धर्मार्थे यज्ञादौ वध्या ह...तिषा अपि भक्ष्या अनृत्विजामपीति । धर्मार्थ इति वचनादवकीर्णिपशोर्मांसमभक्ष्यम् । तस्य प्रायश्चित्तार्थत्वात् ॥ ३७ ॥

जिन पशुओं को भक्ष्य बताया गया है (वे न केवल मरने पर, दूसरों द्वारा मारे जाने पर भक्ष्य होते हैं अपितु) वे धर्म के लिए (अतिथि-सत्कार आदि में) मारे भी जा सकते हैं ॥ ३७ ॥

व्यालहतादृष्टदोषवाक्प्रशस्तानभ्युक्ष्योपयुञ्जीतोपयुञ्जीत ॥३८॥

अतिथीनप्याशयेद्भक्षयेच्च । न तु श्वादेरुच्छिष्टमिति वर्जयेत् । मनुरप्याह—श्वा मृगग्रहणे शुचिरिति । द्विरुक्तिरुक्ता । अत्र मनुः—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥
न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने ।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफलम् ॥ इति ।

अप्रतिषिद्धेष्वपि भक्षणान्निवृत्तिरेव ज्यायसीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

किसी शिकार करने वाले पशु द्वारा मारे गये पशु-पक्षी को, यदि उसमें कोई दोष न हो और ब्राह्मण के वचन के अनुसार वह भोज्य हो तो उसे धोकर खाया जा सकता है ॥ ३८ ॥

इति श्रीगौतमोयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
द्वितीयप्रश्नेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमोऽध्यायः

अथ स्त्रीधर्मानाह—

अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री ॥ १ ॥

श्रौते गार्ह्ये च धर्मे स्त्री भर्तुरेवानुष्ठानमनुप्रविशति। व्रतोपवासादिभिरपि स्मार्तैः पौराणैश्च धर्मैर्नान्तरेण भर्तुरनुज्ञां स्वातन्त्र्येणाधिक्रियते। आह शङ्खः—न च व्रतोपवासैर्नियमेज्यादानधर्मो वाऽनुग्रहकरणं स्त्रीणामन्यत्र पतिशुश्रूषायाः। कर्म तु भर्तुरनुज्ञया व्रतोपवासनियमादीनामभ्यासः स्त्रीधर्म इति। नारदोऽप्याह—

स्त्रीकृतान्यप्रमाणानि कार्याण्याहुरनापदि।
विशेषतो गृहक्षेत्रदानाध्ययनविक्रयात्॥
एतान्येव प्रमाणानि भर्ता यद्यनुमन्यते॥ इति।

मनुस्तु—बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत्पाणिग्राहस्य यौवने।
पुत्रस्य स्थविराभावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥
बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं कार्यं किंचिद् गृहेष्वपि। इति॥१॥

(श्रौत और गार्ह्य) धर्म में स्त्री अस्वतन्त्र होती है अर्थात् पति के ही धर्मानुष्ठान का अनुसरण करती है॥ १॥

नातिचरेद्भर्तारम् ॥ २ ॥

भर्तारं नातिक्रामेद्भर्तुरन्यं मनसाऽपि न चिन्तयेत्॥ २॥

स्त्री अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य का (मन से भी) चिन्तन न करे॥ २॥

वाक्चक्षुःकर्मसंयता ॥ ३ ॥

यावदर्थसंभाषिणी वाक्संयता। प्रेक्षकादीनामप्रेक्षिणी चक्षुःसंयता स्वकुटुम्बार्थकर्मव्यतिरिक्तानां कर्मणामकर्त्री कर्मसंयता। एवंभूता स्यात्॥ ३॥

वाणी, दृष्टि और कर्म का संयम रखे अर्थात् जितने से अर्थ निकल जाय उतना ही बोले, देखने वालों की ओर न देखे और अपने कुटुम्ब के लिए ही कर्म करे॥ ३॥

अथ नातिचरेद्भर्तारमित्यस्यापवादः—

अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात् ॥ ४ ॥

अनपत्याया यस्याः पतिर्मृतः साऽपत्यं लिप्समाना सती देवराल्लिप्सेत। पत्युर्भ्राता देवरः कनिष्ठ इत्युपदेशः ॥ ४ ॥

(सन्तानोत्पत्ति के पूर्व ही) पति की मृत्यु होने पर देवर से सन्तान-प्राप्ति की इच्छा करे ॥ ४ ॥

तत्र प्रकारः—

गुरुप्रसूता नर्तुमतीयात् ॥ ५ ॥

गुरुभिः पतिपक्षैः पितृपक्षैर्वा नियुक्ता सती संयुज्येत। तत्रापि नर्तुमतीयावदृतुकालं नातिक्रामेत्। तत्रापि प्रथमे गमने गर्भसंभवः। श्रूयते हि तलवकाराणां ब्राह्मणे—'यद्वा प्रथमेऽहनि रेतः सिच्यते स गर्भः संभवत्यथ यत्र तत्सिच्यते मुधेव तत्परासिच्यते' इति। ततश्चर्तावपि सकृदेव गमनम्। अत्रौशनसो विशेषः—नियुक्ता सर्वाङ्गं घृताभ्यक्तम्। तेन सर्वाङ्गमात्मानमभ्यज्य गच्छेदिति ॥ ५ ॥

(पतिपक्ष या पितृपक्ष के) श्रेष्ठ जनों की आज्ञा से ही देवर से सम्बन्ध करे और ऋतुकाल का अतिक्रमण न करे ॥ ५ ॥

देवराभावे क्रमेण गमनीयानाह—

पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा ॥ ६ ॥

पिण्डसंबन्धः सपिण्डः। गोत्रसंबन्धः सगोत्रः। ऋषिसंबन्धः समानप्रवरा हरितकुत्सादयः। एतेभ्यः क्रमेणापत्यं लिप्सेत। योनिमात्राद्वा। अत्र स्मृत्यन्तरम्। सर्वाभावे योनिमात्राद् ब्राह्मणजातिमात्रादिति ॥ ६ ॥

एक पिण्ड के, एक गोत्र के या एक प्रवर के पुरुष से अथवा इन सबके संभव न होने पर अपनी जाति के पुरुष से (सन्तान की इच्छा करे) ॥ ६ ॥

नादेवरादित्येके ॥ ७ ॥

एके मन्यन्ते देवरादेव लिप्सेत नादेवरादिति ॥ ७ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि देवर के अतिरिक्त किसी अन्य से सन्तान की इच्छा न करे अर्थात् केवल देवर से ही इच्छा करे ॥ ७ ॥

नातिद्वितीयम् ॥ ८ ॥

प्रथममपत्यमतीत्य द्वितीयं न जनयेदिति ॥ ८ ॥

(उपर्युक्त स्थिति में) एक सन्तान के बाद दूसरी सन्तान न उत्पन्न करे ॥ ८ ॥

अथैवमुत्पादितमपत्यं क्षेत्रिणो बीजिनो वेति विषये निर्णयमाह—

जनयितुरपत्यम् ॥ ९ ॥

जनयितुस्तदपत्यं भवति न क्षेत्रिणः । आपस्तम्बोऽपि—उत्पादयितुः पुत्र इति हि ब्राह्मणमित्यादि ॥ ९ ॥

इस प्रकार उत्पन्न पुत्र उत्पन्न करने वाले का होता है (क्षेत्री अर्थात् जिसकी पत्नी हो उसका नहीं) ॥ ९ ॥

समयादन्यस्य ॥ १० ॥

यदि ज्ञातयः समयं कृत्वा नियुञ्जते क्षेत्रिणोऽपत्यमस्त्विति यथा विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रं सत्यवती तस्यां व्यासेनोत्पादितमपत्यमिति ॥ १० ॥

यदि नियोग के पूर्व ही निश्चय किया गया हो तो उसके अनुसार वह पुत्र क्षेत्री का भी हो सकता है ॥ १० ॥

जीवतश्च क्षेत्रे ॥ ११ ॥

यदा च जीवन्नेव क्षेत्री वन्ध्यो रुग्णो वा प्रार्थयते मम क्षेत्रे पुत्रमुत्पादयेति तदा क्षेत्रिण एवापत्यं न बीजिनः ॥ ११ ॥

क्षेत्री के जीवित रहने पर (उसके रोगी, या वन्ध्य होने पर उसकी प्रार्थना से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न किया गया हो तो) वह क्षेत्री का ही होता है (पुत्र उत्पन्न करने वाला का नहीं) ॥ ११ ॥

परस्मात्तस्य ॥ १२ ॥

परस्माद्देवरादिव्यतिरिक्तात्तदनियुक्तायामप्यपत्यवत्यामनपत्यायां चोत्पन्नः पुनस्तस्यैव बीजिनो भवति न क्षेत्रिणः ॥ १२ ॥

किन्तु यदि देवर के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा (विना नियुक्त किये हुए भी) उत्पन्न की गई सन्तान उत्पन्न करने वाले की होती है (क्षेत्री की नहीं) ॥ १२ ॥

द्वयोर्वा ॥ १३ ॥

एवमुत्पादितमपत्यं द्वयोर्वा भवति बीजिक्षेत्रिणोः । इदं नियुक्ताविषयम् ।
तथा च याज्ञवल्क्यः—अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥इति॥१३॥

अथवा इस प्रकार उत्पन्न सन्तान दोनों (क्षेत्री अर्थात् स्त्री के वास्तविक पति और बीजी अर्थात् नियोग द्वारा उत्पन्न करने वाले) की होती है ॥ १३ ॥

रक्षणात्तु भर्तुरेव ॥ १४ ॥

यदि भर्ता क्षेत्र्येव रक्षणं भरणं पोषणं संस्कारादि करोति न बीजी तदा भर्तुरेव तदपत्यमिति । एवं मृते ॥ १४ ॥

यदि पति (क्षेत्री) ही भरण-पोषण और संस्कारादि करता है तो वह सन्तान उसी की होती है (नियोग द्वारा उत्पन्न करने वाले की नहीं) ॥ १४ ॥

श्रूयमाणेऽभिगमनम् ॥ १५ ॥

यदा तु भर्ता श्रूयते तस्मिन्देशे स्थित इति तदा तमभिगच्छेत् ॥१५॥

(पति के कहीं अज्ञात स्थान पर चले जाने पर छः वर्ष तक प्रतीक्षा करे) पति के किसी स्थान पर होने का समाचार जानकर उसके पास जाये ॥ १५ ॥

प्रव्रजिते तु निवृत्तिः प्रसङ्गात् ॥ १६ ॥

यदि तु भर्ता प्रव्रजितो भवति मोक्षाश्रमं प्राप्तो भवति तदा सर्वस्मात्प्रसङ्गान्निवृत्तिः । स्वयमपि निवृत्तिमुखी संयतैव स्यादिति ॥ १६ ॥

यदि पति प्रव्रजित हो गया हो (मोक्षाश्रम में स्थित हो) तो सभी प्रसङ्गों से निवृत्त होकर (स्त्री को) संयम रखना चाहिए ॥ १६ ॥

द्वादश वर्षाणि ब्राह्मणस्य विद्यासंबन्धे ॥ १७ ॥

विद्याधिगमार्थं प्रोषितस्य ब्राह्मणस्य भार्या द्वादश वर्षाणि क्षपयेत् । नापत्योत्पत्तिर्नाभिगमनम् ॥ १७ ॥

विद्याध्ययन के लिए दूसरे देश को गए हुए ब्राह्मण की पत्नी बारह वर्षों तक उसकी प्रतीक्षा करे ॥ १७ ॥

भ्रातरि चैवं ज्यायसि यवीयान्कन्याग्न्युपयमेषु ॥ १८ ॥

ज्येष्ठे भ्रातर्यकृतदारेऽनाहिताग्नौ च प्रोषिते कनीयान्भ्रातैवं द्वादश वर्षाणि प्रतीक्षेत । ततः कन्यामुपयच्छेदग्नींश्चाऽऽदधीत । अत्र वासिष्ठो विशेषः–अष्टौ दश द्वादश वर्षाणि ज्येष्ठं भ्रातरमनिविष्टं न प्रतीक्षमाणः प्रायश्चित्तीयो भवतीति ।

> द्वादशैव तु वर्षाणि ज्यायान्धर्मार्थयोग्यतः ।
> न्याय्यः प्रतीक्षितुं भ्राता श्रूयमाणः पुनः पुनः ॥ इति च ॥१८॥

(अविवाहित या बिना अग्नि का आधान किये हुए) बड़े भाई के विदेश

जाने पर छोटे भाई भी बारह वर्ष तक प्रतीक्षा करे, तदुपरान्त कन्या ग्रहण करे (अर्थात् विवाह करे) एवं अग्निहोत्र की अग्नि का आधान करे ॥ १८ ॥

षडित्येके ॥ १९ ॥

एके मन्यन्ते षडेव वर्षाणि प्रतीक्षेतेति । प्रोषिते चात्यन्तवृद्धे स्थिते चात्यन्तधर्मपर इदम् ॥ १९ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि (ऐसी स्त्री) छः वर्षों तक ही प्रतीक्षा करे ॥ १९ ॥

गतं प्रासङ्गिकं पुनरपि स्त्रीधर्मानाह—

त्रीन्कुमार्यृतूनतीत्य स्वयं युज्येतानिन्दितेनोत्सृज्य पित्र्यानलंकारान् ॥ २० ॥

यदि कन्यां पित्रादिर्न दद्यात्तत्रीनृतूनतीत्य स्वयमेवानिन्दितेन कुलविद्याशीलादियुक्तेन भर्त्रा युज्येत पित्र्यान्पितृकुलायातानलंकारानुत्सृज्य । अत्र मनुः—

अलंकारं नाऽददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा ।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेयं स्याद्यदि किंचन ॥इति॥ २० ॥

(यदि पिता आदि कन्या का विवाह न करें तो वह) कन्या तीन ऋतुकाल बीत जाने पर पिता के कुल से प्राप्त अलङ्कारों को त्याग कर स्वयं ही उत्तम (कुल, विद्या और शील से युक्त) वर के पास चली जाय ॥ २० ॥

अत एव—

प्रदानं प्रागृतोः ॥ २१ ॥

ऋतुदर्शनात्प्रागेव देया कन्या ॥ २१ ॥

कन्या का विवाह उसके ऋतुकाल (रजोदर्शन) के पहले ही कर देना चाहिए ॥ २१ ॥

अप्रयच्छन्दोषी ॥ २२ ॥

तस्मिन्कालेऽप्रयच्छन्पित्रादिर्दोषवान्भवति । अत्र याज्ञवल्क्यः—

पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा ।
कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥
अप्रयच्छन्समाप्नोति भ्रूणहत्यामृतावृतौ ॥ इति ॥ ॥ २२ ॥

उक्त समय से कन्या का विवाह न करने वाले (पिता आदि) दोषी होते हैं ॥ २२ ॥

प्राग्वाससः प्रतिपत्तेरित्येके ॥ २३ ॥

एके मन्यन्ते यदा कन्या वासः प्रतिपद्यतेऽथवा लज्जते तावदेव प्रदेयेति ॥ २३ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि कन्या के वस्त्र पहनने (अथवा लज्जा करने) की अवस्था से पूर्व ही उसका दान कर देना चाहिए ॥ २३ ॥

द्रव्यादानं विवाहसिद्ध्यर्थं धर्मतन्त्रसंयोगे च शूद्रात् ॥ २४ ॥

द्रव्यमननुज्ञातमपि शूद्राच्चैलादिकमादेयं विवाहसिद्ध्यर्थं यावता विवाहः सिध्यति तावत् । अधिके दोषः । तथा धर्मस्य पशुबन्धादेः प्रवृत्तस्य यत्तान्त्रमङ्गमश्वादि तस्य संयोगेऽविच्छेदसिद्ध्यर्थे यावता तन्निव- (र्व) र्तते तावदननुज्ञातमप्यादेयं शूद्रात् । अधिके दोषः ॥ २४ ॥

विवाहकार्य सम्पन्न करने लिए और किसी धार्मिक कर्म में लगे होने पर उसके लिए भी शूद्र से (बलात् भी) द्रव्य लिया जा सकता है ॥ २४ ॥

अन्यत्रापि शूद्राद् बहुपशोर्हीनकर्मणः ॥ २५ ॥

'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' इति पञ्चम्याबलात् । शूद्रादन्यतोऽपि द्रव्यमादेयं स चेद् बहुपशुस्तथा हीनकर्मा भवति । तदनुरूपं कर्म न करोति निषिद्धं वा कर्म सेवते शूद्रग्रहणं विधिरयं यथा स्यादिति । तेन शूद्रालाभे वैश्यात् । तदलाभे क्षत्रियात् ॥ २५ ॥

शूद्र के अतिरिक्त किसी ऐसे भी व्यक्ति से उपर्युक्त प्रयोजन के लिए द्रव्य लिया जा सकता है जिसके पास अनेक छोटे पशु हों और जो अपने वर्ण के अनुरूप कर्म न करता हो ॥ २५ ॥

उक्तमेवार्थमुदाहरणेन दर्शयति—

शतगोरनाहिताग्नेः ॥ २६ ॥

गोग्रहणमुपलक्षणम् । यस्तावद्द्रव्यो भवत्यग्नींश्च नाऽऽधत्ते । निषिद्धकर्मसेवी तु दण्डापूपिकया व्याख्यातः ॥ २६ ॥

अथवा सौ गायों वाले किसी ऐसे व्यक्ति से द्रव्य ले सकता है जिसने अग्नियों का आधान न किया हो ॥ २६ ॥

सहस्रगोश्चासोमपात् ॥ २७ ॥

पूर्वेण गतम् । यः सहस्रगुश्च भवति सोमं च न पिबति तस्मादिति ॥ २७ ॥

अथवा सहस्र गायों वाले किसी ऐसे व्यक्ति से जो सोमपान न करता हो (उपर्युक्त प्रयोजन के लिए द्रव्य ले) ।। २७ ।।

सप्तमीं चाभुक्त्वाऽनिचयाय ।। २८ ।।

सप्तम्यर्थे द्वितीया। षट्सु वेलासु भोज्यालाभेनाभुक्त्वा सप्तम्यां वेलायां यावता वृत्तिस्तावदननुमतमप्यादेयम् । अनिचयः पुनस्तेन निचयो न कर्तव्यः श्वो भोज्यमपि नाऽऽदेयम्। अत्र मनुः—

तथैव सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता।
अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणा ।। इति ।। २८ ।।

छः वेला भोजन न मिलने पर सातवीं वेला में भोजन मिलने पर उतना ही ग्रहण करे जितने से जीवन-वृत्ति चल सके; भोजन का दूसरे दिन के लिए संचय न करे ।। २८ ।।

अप्यहीनकर्मभ्यः ।। २९ ।।

अस्यामवस्थायामहीनकर्मभ्योऽप्यादेयम्। अपिशब्दः कथंचिदस्यानुज्ञातमिति दर्शयति। तेन प्राणसंशय एवेदं भवति ।। २९ ।।

ऐसी अवस्था में अपने वर्ण के अनुरूप कर्म न करने वालों से भी ग्रहण किया जा सकता है ।। २९ ।।

आचक्षीत राज्ञा पृष्टः ।। ३० ।।

यद्यसावेवं कुर्वन्स्वामिभिर्गृहीतो राजसकाशं नीतस्तेन पृष्टः किमित्थमकार्षीरिति तदा स्वामवस्थामाचक्षीत। न तु मिथ्या वदेदिति ।। ३० ।।

(यदि इस प्रकार कर्म करते हुए पकड़ा जाय और राजा के समीप ले जाया जाय तो) राजा द्वारा पूछे जाने पर अपनी दशा और अपना कर्म सही-सही बतावे ।। ३० ।।

तेन हि भर्तव्यः श्रुतशीलसंपन्नश्चेत् ।। ३१ ।।

हिरर्थे। तेन च राज्ञा स न केवलमदण्ड्यः किं तर्हि तत आरभ्य भर्तव्यस्तवेयमवस्था मया न ज्ञातेति सान्त्वयित्वा। स चेच्छ्रुतवृत्तशीलसंपन्नो भवति। श्रुतं शास्त्रपरिज्ञानम्। शीलं तदनुकूल आचारः। इतरोऽपि न दण्ड्यः। भरणं तु तस्य तादृशं न कार्यम्। दण्डाभावः पूर्वयोरपि निमित्तयोः समानः ।। ३१ ।।

यदि वह व्यक्ति विद्वान् और सदाचारी हो तो राजा द्वारा उसका पोषण होना चाहिए। (इस अवस्था में दूसरे का द्रव्य ग्रहण करते समय पकड़े गये व्यक्ति दण्ड्य नहीं होते।) ।। ३१ ।।

धर्मतन्त्रपीडायां तस्याकरणे दोषो [ऽकरणे दोषः] ॥ ३२ ॥

यदि पशुबन्धादौ धर्मे प्रवृत्तस्य तदङ्गं पश्वादि केनचित्पीडितं भवति हतमपहृतं वा तस्मिन्निवेदिते तदैव तस्य प्रतिविधानं कार्यं राज्ञा। अकरणे दोषो भवति। अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः ॥ ३२ ॥

यदि धर्म नियम में बाधा आती है और राजा अपना कर्तव्य नहीं करता है तो वह पाप करता है ॥ ३२ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां द्वितीयप्रश्ने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ तृतीयप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः

पञ्चविधो धर्मः—वर्णधर्म आश्रमधर्म उभयधर्मो गुणधर्मो नैमित्तिक-[धर्म] श्चेति। तत्र वर्णप्रयुक्तो धर्मो वर्णधर्म उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टम इति। आश्रमप्रयुक्त आश्रमधर्मो ब्रह्मचर्यादेः समिदाधानादिरिति। उभयप्रयुक्त उभयधर्मो ब्राह्मणस्य ब्रह्मचारिणः पालाशो दण्ड इत्यादि। अभिषेकगुणयुक्तस्य प्रजापालनादिर्गुणधर्मः। ब्रह्महत्यादौ निमित्ते कर्तव्यो नैमित्तिको धर्मः प्रायश्चित्तम्। तत्र नैमित्तिकं वक्ष्यन्नुक्तमनुभाषते—

उक्तो वर्णधर्मश्चाऽऽश्रमधर्मश्च ॥ १ ॥

उभयधर्मगुणधर्मयोरप्युपलक्षणमेतत्। यद्यप्यन्यत्रोक्तं नानुभाष्यतेऽननुभाषणेऽपि वक्ष्यमाणं शक्यते वक्तुमिति तथाऽपीहानुभाष्यत आशङ्कानिवृत्त्यर्थम्। अन्यथोपरिष्टाद्दैविकानि पुनःस्तोमादीनि प्रायश्चित्तान्युदाहरिष्यन्ते तानि च शूद्रस्य न संभवन्त्यतस्तद्वदेव प्रायश्चित्तान्तराण्यपि शूद्रस्य न स्युरिति कश्चिदाशङ्केत। अपर आह—य उक्तो धर्मः स एव वर्णिनामाश्रमिणां च धर्मः। वक्ष्यमाणस्तु पुरुषमात्रधर्मः। यदाह—अथ खल्वयं पुरुष इति। किं सिद्धं भवति। प्रतिलोमानामपि प्रायश्चित्तेष्वधिकारः सिद्धो भवति। यद्यपि तेषां भक्ष्याभक्ष्यविवेको नास्ति तथाऽपि गोब्राह्मणादिवधे ब्राह्मणस्वर्णादिहरणे च प्रायश्चित्तं भवत्येव। अकुर्वाणा एव तु प्रायश्चित्तं राज्ञा वध्याः। अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहादिमनुष्यमात्रधर्मा न वर्णेष्वाश्रमेषु वा नियताः। अतस्तदतिक्रमे युक्तमेव प्रायश्चित्तम्। यत्तु पूर्वमुक्तं प्रतिलोमास्तु धर्महीना इति। तदैहिकामुष्मिकश्रेयःसाधनेषु कर्मस्वधिकारनिवृत्तिपरमिति ॥ १ ॥

वर्णों के धर्म एवं ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के धर्म की व्याख्या (हमने) कर दी है ॥ १ ॥

प्रायश्चित्तस्य निमित्तान्याह—

अथ खल्वयं पुरुषो याप्येन कर्मणा लिप्यते यथैतदयाज्ययाजनमभक्ष्यभक्षणमवद्यवदनं शिष्टस्याक्रिया प्रतिषिद्धसेवनमिति ॥ २ ॥

अथ खल्विति वाक्यालंकारे। अयं पुरुष इति संघातवर्तिनं प्रत्यगा-

त्मानं निर्दिशति। याप्यं कुत्सितम्। याप्येन पापेन कर्मणा लिप्यते। तज्ज-न्येनाधर्मेण लिप्यमाने कर्मणा लिप्यत इति भाक्तो वादः। याप्यस्य कर्मण उदाहरणप्रपञ्चो यथैतदित्यादि। यथेत्युदाहरणे। अयाज्याः पतिताद-यस्तेषां याजनम्। अभक्ष्या लशुनादयस्तेषां भक्षणम्। अवद्यमनृतास-भ्यादि तस्य वदनं कथनम्। शिष्टं विहितं संध्योपासनादि तस्याक्रियाऽक-रणम्। प्रतिषिद्धस्य हिंसादेः सेवनं करणम्। इति समाप्तौ। एतावदेव याप्यं कर्मेति। प्रतिषिद्धसेवनमित्येव सिद्धेरयाज्ययाजनादिग्रहणं याजनाध्यापन-प्रतिग्रहाः सर्वेषामित्यापद्यनुज्ञा तत्रापि प्रायश्चित्तार्थम्। तत्रोशना—आपद्विहितैः कर्मभिरापदं तीर्त्वा पुनस्तेषां प्रायश्चित्तं चतुर्भागं कुर्यादिति। अभक्ष्यभक्षणग्रहणमप्यापदि व्याध्यादौ लशुनादिभक्षणविषयं च। अव-द्यवदनग्रहणं तु प्राणिनां तु वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेदित्यादिविषयं च। तथा यत्र ब्राह्मण इति ज्ञाते ताडयेयुरर्थं वा हरेयुस्तत्र तद्ग्रहणार्थम्। असभ्यानृतभाषणेनापि तन्निवार्य पश्चात्तामापदं तीर्त्वा प्रायश्चित्तं चतुर्भागं चरेदिति ॥ २ ॥

इस संसार में मनुष्य बुरे कर्मों द्वारा पापयुक्त होता है यथा अयोग्य (पतित) व्यक्तियों के लिए यज्ञ करने से, लशुन आदि अभक्ष्य खाने से, असत्य या अश्लील भाषण करने से, विहित (संध्योपासनादि) कर्म न करने से तथा (हिंसा आदि) निषिद्ध कर्म करने से (पापी होता है) ॥ २ ॥

तत्र प्रायश्चित्तं कुर्यान्न कुर्यादिति मीमांसन्ते ॥ ३ ॥

तत्र तस्मिन्याप्यकर्मलोपे प्रायश्चित्तम्—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयोगात्प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥

इत्येत्रंलक्षणं कर्तव्यं न कर्तव्यमिति विचारयन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ ३ ॥

मीमांसक (ब्रह्मवादी) इस विषय पर तर्क करते हैं कि प्रायश्चित्त करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिए ॥ ३ ॥

तत्र केचित्—

न कुर्यादित्याहुः ॥ ४ ॥

कुछ लोगों का मत है कि प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए ॥ ४ ॥

तत्र हेतुः—

न हि कर्म क्षीयत इति ॥ ५ ॥

हिशब्दो हेतौ। यस्मात्कृतं कर्म पुण्यं पापं च नान्तरेणोपभोगं क्षीयत इति। तथा च शङ्खः—

यथा पृथिव्यां बीजानि रत्नानि निधयो यथा ।
एवमात्मनि कर्माणि तिष्ठन्ति प्रसवन्ति च ॥ इति ।

उत्पन्ने तु फले नश्यति यथा बीजमङ्कुरे । प्रायश्चित्तानि तु निमित्ते कर्मान्तराणि । यथा गृहदाहादौ क्षामवत्यादयः ॥ ५ ॥

क्योंकि (पुण्य और पाप) कर्म कम नहीं होते ॥ ५ ॥

कुर्यादित्यपरम् ॥ ६ ॥

कुर्यात्प्रायश्चित्तमित्यपरं दर्शनम् । नास्मात्परमस्तीत्यपरसिद्धान्तः ॥६॥

अन्य लोगों का मत है कि प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥ ६ ॥

तत्र प्रमाणत्वेन श्रुतिवाक्यान्युदाहरति—

पुनःस्तोमेनेष्ट्वा पुनः सवनमायान्तीति विज्ञायते ॥ ७ ॥

अप्रतिग्राह्याद् ब्रह्म प्रतिगृह्य पुनःस्तोमेन यजेतेति श्रूयते । अभक्ष्यभक्षणमवद्यवदनं पुनःस्तोमेन तरतीति च । असत्प्रतिग्रहादिदोषदूषिताः पुनःस्तोमनाम्नैकाहेनेष्ट्वा पुनः सवनमायान्ति । सवनशब्देन कर्मोच्यते । पुनरपि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माण्यायान्त्याप्नुवन्ति । तद्योग्या भवन्ति ॥ ७ ॥

क्योंकि कहा गया है कि जो पुनःस्तोम यज्ञ करता है वह पुनःसवन प्राप्त करता है (अर्थात् श्रौत एवं स्मृतिकर्मों के योग्य होता है) ॥ ७ ॥

व्रात्यस्तोमैश्चेष्ट्वा ॥ ८ ॥

पुनः सवनमायान्तीत्यनुषङ्गः । व्रात्या यथाकालमनुपनीताः । तेषां कर्तव्याः प्रायश्चित्तयागा व्रात्यस्तोमाः । बहुवचननिर्देशाद् बहवस्ते प्रत्येतव्याः ॥ ८ ॥

व्रात्यस्तोम यज्ञ करके भी (पुनः सवन प्राप्त करता है) ॥ ८ ॥

तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते ॥ ९ ॥

इति चेति वक्ष्यमाणमपेक्ष्यते । विज्ञायत इत्यनुषङ्गः ॥ ९ ॥

कहा गया है कि जो अश्वमेध यज्ञ करता है वह सभी पापों को पार कर जाता है तथा ब्रह्महत्या के पाप से भी मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

अग्निष्टुताऽभिशस्यमानं याजयेदिति च ॥ १० ॥

अग्निष्टुन्नामैकाहस्तेनाभिशस्यमानं याजयेत् । अत्र पुनःस्तोमादीनां दोषनिर्घातार्थतया श्रुतत्वादुपभोगेनेव प्रायश्चित्तेनापि पापकं कर्म क्षीयते ।

शङ्खवचनं चाकृतप्रायश्चित्तविषयं पुण्यविषयं च। अथ कस्माद्वचनगम्येऽर्थे विचारः क्रियते। कुर्यान्न कुर्यादिति। न ह्युपनयनादावेवं विचारः कृत इति उच्यते। प्रायश्चित्तस्तुत्यर्थोऽयं विचारः ॥ १० ॥

अग्निष्टुत् (नाम के एकाह) से अभिशंसन करता हुआ यज्ञ करे ऐसा भी कहा गया है ॥ १० ॥

इदानीं येष्वाहत्य न प्रायश्चित्तं विहितं तेषु प्रायश्चित्तान्युपदिशति—

तस्य निष्क्रयणानि जपस्तपो होम उपवासो दानम् ॥ ११ ॥

तस्य याप्यस्य कर्मणो जपादीनि पञ्च निष्क्रयणानि शोधनानि ॥११॥

पाप कर्म के लिए जप, तप, होम, उपवास और दान शुद्धि के साधन हैं (प्रायश्चित हैं) ॥ ११ ॥

तत्र जप इत्युक्तं जपानाह—

उपनिषदो वेदान्तः सर्वच्छन्दःसु संहिता मधून्यघमर्षणमथर्वशिरो रुद्राः पुरुषसूक्तं राजतरौहिणे सामनी बृहद्रथन्तरे पुरुषगतिर्महानाम्न्यो महावैराजं महादिवाकीर्त्यं ज्येष्ठसाम्नामन्यतमद् बहिष्पवमानं कूष्माण्डानि पावमान्यः सावित्री चेति पावमानानि ॥ १२ ॥

उपनिषदो रहस्यब्राह्मणान्याध्यात्मिकानि। तद्व्यतिरिक्ता आरण्यकभागाः वेदान्ताः। सर्वच्छन्दःसु सर्वेषु प्रवचनेषु संहिता संहितापाठो न पदक्रमादिपाठः। मधूनि मधुशब्दयुक्तानि यजूंषि ब्रह्ममेतु मामित्यादीनि। अघमर्षणम् 'ऋतं च सत्यं च' इति सूक्तं षडृचमघमर्षणेन ऋषिणा दृष्टम्। अथर्वशिरोऽथर्ववेदे प्रसिद्धम्। देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमन्, इत्यादि। रुद्राः 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्याद्या अनुवाका एकादश। एकशतं यजुःशाखास्तासु सर्वासु पठ्यन्ते। पुरुषसूक्तं। 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि। राजतरौहिणे सामनी 'इन्द्रं नरो नेमधिता हवन्ते' इत्यस्यामृचि गीयेते। 'त्वामिद्धि हवामहे' इत्यस्यां बृहत्। 'अभि त्वा शूर नोनुमः' इत्यत्र रथन्तरम्। 'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य' इत्यस्यां पुरुषगतिः। महानाम्न्यः 'विदामघवन्' इत्याद्या ऋचः। 'महावैराजम् पिबा सोमन्' इत्यस्यां गीतं साम। महादिवाकीर्त्यम् 'विभ्राड्बृहत्पिबतु' इत्यस्याम्। ज्येष्ठसामानि तलवकारिणाम् 'उदुत्यं चित्रम्' इत्येतयोर्गीतानि। छन्दोगास्त्वाहुः— 'मूर्धानं दिवः' इत्यस्यां गीतानि त्रीणि सामान्याज्यदोहादीनि। ब्राह्मणे

तथा श्रुतत्वात् । बहिष्पवमानम् 'उपास्मै गायता नरः' इत्येतासु गीतम् ।
कूष्माण्डानि तैत्तिरीयके स्वाध्यायब्राह्मणे 'यद्देवा देवहेडनम्' 'यददीव्य
नृणाम्' 'आयुष्टे विश्वतोऽदधत्' इति त्रयोऽनुवाकाः । यजुष्ट्वाभिप्रायो
नपुंसकनिर्देशः । तत्रैवाच्छिद्राख्ये प्रश्ने 'यद्देवा देवहेलनम्' इत्यनुवाके
या ऋचस्ताः कूष्माण्ड्यः । पवमानः सोमो देवता यासां ताः पावमान्यः
'स्वादिष्ठया मदिष्ठया' इत्याद्या आ मण्डलसमाप्तेः । 'तत्सवितुर्वरेण्यम्'
इत्येषा सावित्री प्रसिद्धा । न या काचन सवितृदेवत्या । इति—शब्दः
प्रकारवचनः । एवंप्रकाराण्यन्यान्यपि पावमानानीति । तत्र मनुः—

कौत्सं जप्त्वाऽप इत्येतद्वासिष्ठं च तृचं प्रति ।
माहित्रं शुद्धलिङ्गं च सुरापोऽपि विशुध्यति ॥
सकृज्जप्त्वाऽस्यवामीय शिवसंकल्पमेव च ।
सुवर्णमपहृत्यापि क्षणाद्भवति निर्मलः ॥
हविष्पान्तीयमभ्यस्य न तमंह इतीति च ।
जप्त्वा तु पौरुषं सूक्तं मुच्यते गुरुतल्पगः ॥
सोमारौद्रं तु बह्वेना मासमभ्यस्य शुध्यति । इत्यादि ।

प्रायश्चित्तप्रकरणे पुनः पावमानानीतिवचनात्प्रायश्चित्तव्यतिरेकेणाप्यृद्धिकामस्याहरहरेतानि जप्यानि ॥ १२ ॥

उपनिषद् , वेदान्त, सभी वेदों का संहितापाठ, मधु शब्द से युक्त यजुर्वेद का अंश, ('ऋतं च सत्यं च' आदि) अघमर्षण ऋषि द्वारा दृष्ट मन्त्र, ('देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमन्' इत्यादि) अथर्वशिरस् मन्त्र, ('नमस्ते रुद्र मन्यवे' इत्यादि) रुद्र का अनुवाक, ('सहस्रशीर्षा' इत्यादि) पुरुषसूक्त, राजत और रौहिण नाम के दो सामन् , ('त्वामिद्धि हवामहे' आदि) बृहत् सामन् ('अभित्वा शूर नोनुमः' इत्यादि) रथन्तर, ('अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य' आदि) पुरुषगति, ('विदामघवन्' इत्यादि) महानाम्नी ऋचाएँ, ('पिवासोमम्' आदि) महावैराज साम, ('विभ्राड्बृहत्पिबतु' आदि) महादिवाकीर्त्य, ('उदुत्यं चित्रं' आदि) ज्येष्ठसामन् बहिष्पवमान सामन् ('उपास्मै गायता नरः' इत्यादि), कूष्माण्ड (नाम के तीन अनुवाक), (सोमदेवता के) पावमान्य मन्त्र ('स्वादिष्ठया मदिष्ठया' आदि) और ('तत्सवितुर्वरेण्यम्' आदि) सावित्रीमन्त्र इत्यादि पवित्र करने वाले हैं ॥ १२ ॥

जपे प्रवृत्तस्याऽऽहारनियममाह—

पयोव्रतता शाकभक्षता फलभक्षता प्रसृतयावको हिरण्यप्राशनं घृतप्राशनं सोमपानमिति मेध्यानि ॥ १३ ॥

पयोव्रतता क्षीराहारता। व्रतग्रहणादुपवासन्यायेन। शाकं वास्तुकादि। फलं कदल्यादेः। प्रसृतया कः प्रसृतपरिमितैर्यवैः पक्व ओदनः। तत्रौशनसो विशेषः—स्नातः शुचिर्भूत्वोदितेषु नक्षत्रेषु ताम्रभाजने प्रसृतयावकं श्रपयेद्यथा यथागूर्भवति। तस्य श्रपणकाले रक्षां कुर्यात्। 'नमो रुद्राय भूताधिपतये पर्वतानां पतये त्वमिमं रक्षस्व' इति। शृतेऽवरोप्य देवस्य त्वा सवितुरित्यादिनोत्पूय ततोऽभिमन्त्रयेत्—

यवोऽसि धान्यराजोऽसि वारुणो मधुसंयुतः।
निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रमृषिभिः स्मृतम्॥
वाचा कृतं कर्मकृतं मनसा दुर्विचिन्तनम्।
अलक्ष्मीं कालकण्ठीं च सर्वं पुनत मे यवाः॥
महापातकसंयुक्तं दारुणं राजकिल्बिषम्।
बालवृत्तमधर्मं च सर्वं पुनत मे यवाः॥
सुवर्णस्तैन्यमव्रत्यमयाज्यस्य च याजनम्।
ब्राह्मणानां परीवादं सर्वं पुनत मे यवाः॥
श्वसूकरावभूतं च काकाद्युच्छिष्टमेव च।
मातापित्रोरशुश्रूषां सर्वं पुनत मे यवाः॥
गणान्नं गणिकान्नं च शूद्रान्नं श्राद्धसूतकम्।
चोरस्यान्नं तथाऽभक्ष्यं सर्वं पुनत मे यवाः। इत्येतैः षड्भिः।

ततो ब्रह्मा देवानामिति प्राश्य ततः प्राणाय स्वाहेत्यादिभिर्यथोक्तं सर्वं प्राश्नीयात्षड्रात्रम्। ततो नियमातिक्रमजात्प्रतिषिद्धसेवनजादभक्ष्यभक्षणजाच्च सर्वस्मात्पापात्प्रमुच्यते। सप्तरात्रं पीत्वा भ्रूणहत्यां गुरुतल्पं सुवर्णस्तैन्यं सुरापानं च पुनाति। एकादशरात्रं पीत्वा सर्वकृतपापं नुदति। एकविंशतिरात्रं पीत्वा गणान्पश्यति गणाधिपतिं पश्यति विद्यां पश्यति विद्याधिपतिं पश्यति। एवमहरहरनन्याहारो यवागूं प्राश्नीयादिति। सर्पिरादौ हिरण्यं निघृष्य प्राशनं हिरण्यप्राशनम्। घृतप्राशनं प्रसिद्धम्। सोमपानं क्रतावुक्तम्। बहिरप्स्वन्ये। इतिकरणाद्यच्चान्यदेवमुक्तं पञ्चगव्यशङ्खपुष्पादि तस्य प्राशनं मेध्यं विज्ञेयम्॥ १३॥

केवल दूध पर रहना, केवल शाक का भोजन करना, केवल फलाहार करना, केवल जीवन धारण के लिए पर्याप्त अल्प (एक पसर या मुट्ठी) जौ के अन्न का भोजन, घी आदि में सोने को रगड़कर पीना, घृतपान, (यज्ञादि में) सोमपान, (पञ्चगव्य, शङ्खपुष्प आदि का पान करना) ये सभी पवित्र करने वाली विधियाँ हैं॥ १३॥

अथ जपादीनां स्थानमाह—

सर्वे शिलोच्चयाः सर्वाः स्रवन्त्यः पुण्या ह्रदास्तीर्थान्यृषिनिवासा गोष्ठपरिस्कन्धा इति देशाः ॥ १४ ॥

शिलोच्चयाः शैलाः। स्रवन्त्यो नद्यः। सर्वग्रहणात् पुण्यापुण्यविभागो नाऽऽदरणीयः। पुण्या ह्रदाः पुष्करिण्यादयः। प्रयागादीनि तीर्थानि। ऋषिनिवासा वासिष्ठादीनामाश्रमाः। गोष्ठं गवां स्थानम्। परिस्कन्धो देवालयः। इतिकरणान्नैमिषारण्यादीनि ॥ १४ ॥

सभी पर्वत, सभी नदियाँ, पवित्र कुण्ड, तीर्थस्थान, ऋषियों के आश्रम, गायों के रहने का स्थान और देवता का मन्दिर (ये सभी जप के स्थान हैं) ॥

व्याख्यातः सहपरिकरेण जपः। तपः स्वरूपमाह—

ब्रह्मचर्यं सत्यवचनं सवनेषूदकोपस्पर्शनमार्द्रवस्त्रताऽधःशायिताऽनाशक इति तपांसि ॥ १५ ॥

ब्रह्मचर्यं मैथुनत्यागः। सत्यवचनं दृष्टार्थवादित्वम्। सवनेषु प्रातर्मध्यंदिने सायं चोदकस्पर्शनं स्नानम्। आर्द्रवस्त्रता स्नानसमये परिहितस्य वाससस्तथैवापीडितस्य धारणम्। अधःशायिता स्थण्डिलशायिता। अशनमाशः। स एवाऽऽशकस्तस्याभावोऽनाशकोऽनशनम्। अत्रापीतिकरणात्प्राणायामादीनां ग्रहणम्। अत्र मनुः—

सव्याहृतिकाः सप्रणवाः प्राणायामास्तु षोडश।
अपि भ्रूणहनं मासात्पुनन्त्यहरहः कृताः ॥ इति।

होमाः कूष्माण्डगणहोमादयः प्रसिद्धत्वादिहानुक्ताः। तत्र श्रुतिः 'कूष्माण्डैर्जुहुयाद्योऽपूत इव मन्येत' इत्यादि। गणहोमस्तु बौधायनोक्तः—

क्षापवित्रं सहस्राक्षो मृगारोंऽहोमुचौ गणौ।
पावमान्यश्च कूष्माण्ड्यो वैश्वानर्य ऋचश्च याः ॥
घृतौदनेन ता जुह्वत्सप्ताहं सवनत्रयम्।
मौनव्रती हविष्याशी निगृहीतेन्द्रियक्रियः ॥
मुच्यते सर्वपापेभ्यो महतः पातकादपि ॥ इति।

याज्ञवल्क्यः—

यत्र यत्र च संकीर्णमात्मानं मन्यते जनः।
तत्र तत्र तिलैर्होमः सावित्र्याः प्रत्यहं जपः ॥ इति।

मनुः—न सावित्रीसमं जप्यं नाऽऽज्याहुतिसमं हुतम्।
नान्नतोयसमं दानं न चाहिंसापरं तपः ॥ इति।

उपवासो भक्तत्यागः । स एव तपःस्वपि पुनः पुनः पठ्यत आदर-ख्यापनार्थम् । अपर आह—निष्क्रयणेषु पठित उपवास इन्द्रियनिग्रहः ।

व्यावृत्तस्यैव दोषेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह ।
उपवासं तमाहुस्तु न शरीरस्य शोषणात् ।।

इति पुराणे दर्शनादिति ।। १५ ।।

ब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुनत्याग, सत्यभाषण, सवनों में (अर्थात् प्रातः, मध्यन्दिन एवं सायं) स्नान, गीले (स्नान के बाद निचोड़े गये) वस्त्र पहनना, नंगी भूमि पर सोना, भोजन का त्याग इत्यादि (प्राणायाम आदि)—ये तप हैं ।। १५ ।।

अथ देयान्याह—

हिरण्यं गौर्वासोऽश्वो भूमिस्तिला घृतमन्नमिति देयानीति ।। १६ ।।

निगदव्याख्यातमेतत् ।। १६ ।।

सोना, गाय, वस्त्र, अश्व, भूमि, तिल, घी और अन्न इत्यादि दान में दिये जाते हैं ।। १६ ।।

अथ कियान्कालो जपादीनामित्यत आह—

संवत्सरः षण्मासाश्चत्वारस्त्रयो वा द्वौ चैकश्चतुर्विंशत्यहो द्वादशाहः षडहस्त्र्यहोऽहोरात्र इति कालाः ।। १७ ।।

एतेषु यावता शुद्धो मन्यते तावान्कालः ।। १७ ।।

एक वर्ष, छः मास, चार (मास), तीन (मास), दो (मास), एक (मास) चौबीस दिन, बारह दिन, छः दिन, तीन दिन, तथा एक दिन और रात—इन प्रायश्चित्तों के समय हैं ।। १७ ।।

एतान्येवानादेशे विकल्पेन क्रियेरन् ।। १८ ।।

एतान्येव जपादीनि निष्क्रयणान्यनादेशे यत्राऽहत्य प्रायश्चित्तमनिर्दिष्टं तत्र विषये विकल्पेन कर्तव्यानि । एवकारः पौनर्वचनिकः । तद्यथा—देवदत्तो ग्रामं गच्छतु स एवारण्यमिति । किं सिद्धं भवति । येषु नियते (मित्ते) ष्वाहत्य प्रायश्चित्तमुक्तं तेष्वप्यभ्यासानुबन्धादौ प्रतिपूरणापेक्षायां जपादीनामनुप्रवेशः सिद्धो भवति ।। १८ ।।

जहाँ जप आदि किसी विशिष्ट प्रायश्चित्त का विधान न किया गया हो वहाँ इच्छानुसार उनमें से कोई किया जा सकता है ।। १८ ।।

किं तुल्यवद्विकल्पो नेत्याह—

एनःसु गुरुषु गुरूणि लघुषु लघूनि ॥ १९ ॥

अभिसंधिकृतमेनो गुरु तद्विपरीतं लघु। एवमभ्यासानुबन्धादावपि द्रष्टव्यम्। यथाऽऽहाऽऽपस्तम्बः—यः प्रमत्तो हन्ति प्राप्तं दोषफलं सह संकल्पेन भूय एवमन्येष्वपि दोषवत्सु कर्मसु तथा पुण्यफलेषु यथा कर्माभ्यास इति ॥ १९ ॥

बड़े पापों के लिए बड़ा प्रायश्चित्त करना चाहिए और छोटे पापों के लिए छोटा प्रायश्चित्त समझना चाहिए ॥ १९ ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमिति सर्वप्रायश्चित्तं [सर्वप्रायश्चित्तम्] ॥ २० ॥

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणं चोपरिष्टाद्वक्ष्यन्ते। सर्वग्रहणान्न केवलमनादेशे। एतानि च गुरू (रु) ण्येनां (न) सि समस्तानि समुदितानि प्रायश्चित्तं लघू (घु) न्येकमेकं लघुतरेऽतिकृच्छ्रो लघुतमे कृच्छ्रः। मनुरप्याह—

संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः॥ इति।

इतिकरणाद्यच्चान्यदेवमुक्तम्। तत्र मनुः—

यतात्मनोऽप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्।
पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापप्रणाशनः॥ इति।

[अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः] ॥ २० ॥

कृच्छ्र और अतिकृच्छ्र तथा चान्द्रायण ये सभी प्रायश्चित्त हैं (बड़े पापों में ये सभी करने होते हैं, छोटे पाप में एक-एक करने होते हैं, और छोटे पाप में अतिकृच्छ्र और लघुतम पाप के लिए कृच्छ्र प्रायश्चित्त होता है ॥ २० ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
तृतीयप्रश्ने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ तृतीयप्रश्ने द्वितीयोऽध्यायः

अथ यो याप्यं कृत्वाऽपि प्रायश्चित्तं न प्रतिपद्यते स किं कर्तव्यः। त्याज्य इत्याह —

त्यजेत्पितरं राजघातकं शूद्रयाजकं शूद्रार्थयाजकं वेद-विप्लावकं भ्रूणहनं यश्चान्त्यावसायिभिः सह संवसेदन्त्याव-सायिन्यां वा ॥ १ ॥

राजाऽत्राभिषिक्तो न जातिमात्रोपजीवी। तं हतवान्राजघातकः। शूद्रं यो याजयत्येतया निषादस्थपतिं याजयेदित्यादौ विषये स शूद्रयाजकः। यः शूद्रादर्थमधिगम्य यजते स शूद्रार्थयाजकः। अनध्यायानध्याप्याध्ययनादिना यो वेदं विप्लावयति व्याकुलीकरोति स वेदविप्लावकः। भ्रूणहा ब्रह्महा। एतन्महापातकिनामप्युपलक्षणम्।

चण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहिकस्तथा।
मागधायोगवौ चैव सप्तैतेऽन्त्यावसायिनः॥ इत्यङ्गिराः।

तैः सहैकस्मिन्स्थाने यो वसति स तथोक्तः। अन्त्यावसायिन्याम्। यः सह वसतीत्यपेक्षते। तस्यां संवासो मैथुनाचरणम्। एतेषु निमित्तेषु पितरमपि त्यजेत्। पितृग्रहणात्किमुत पुत्रादिकमिति ॥ १ ॥

राजा की हत्या करने वाले, शूद्र के लिए यज्ञ करने वाले, शूद्रसे धन लेकर यज्ञ करने वाले, (अनध्याय और अनध्यापन द्वारा) वेद की हानि करने वाले, विद्वान् ब्राह्मण की हत्या करने वाले, चण्डाल आदि अन्त्यावसायियों के साथ रहने वाले और उन अन्त्यावसायियों की स्त्रियों के साथ सम्बन्ध रखने वाले पिता का भी त्याग कर दे ॥ १ ॥

अथ त्यागप्रकारः—

तस्य विद्यागुरून्योनिसंबन्धांश्च संनिपात्य सर्वाण्युदकादीनि प्रेतकार्याणि कुर्युः ॥ २ ॥

तस्य त्याज्यस्य ये विद्यागुरवः आचार्यगुरूपाध्याया योनिसंबन्धा मातुलादयस्तान्सर्वान्संनिपात्यैकत्र समवेतान्कृत्वोदकादीनि श्राद्धान्तानि सर्वाणि प्रेतकर्माणि कुर्युः। के। पुत्रादयो ज्ञातयः। पितरमित्युपक्रमाद् बहुवचननिर्देशाच्च ॥ २ ॥

ऐसे त्याज्य व्यक्ति के आचार्य, गुरु और उपाध्याय को तथा मामा आदि सभी सम्बन्धियों को बुलाकर (उस त्याज्य व्यक्ति के लिए) श्राद्ध के सभी उदकदान आदि कर्म करे ॥ २ ॥

पात्रं चास्य विपर्यस्येयुः ॥ ३ ॥

अस्य त्याज्यस्य पात्रं किंचित्कल्पयित्वा त एव विपर्यस्येयुः। विपर्यासोऽधोमुखीकरणम्। यथा तदनुदकं भवति ॥ ३ ॥

उसके बाद उस (त्याज्य व्यक्ति) के नाम पर जल से पूर्ण घड़ा (इस-प्रकार) उलट दे ॥ ३ ॥

तत्र प्रकारमाह—

दासः कर्मकरो वाऽवकरादमेध्यपात्रमानीय दासीघटात्पूरयित्वा दक्षिणामुखो यदा विपर्यस्येदमुकमनुदकं करोमीति नामग्राहम् ॥ ४ ॥

दासः प्रसिद्धः। कर्मकरो भृतकः। तयोरन्यतरोऽवकरादवस्करात्। वर्चस्केऽवस्करः। अमेध्यात्स्थानादशुचि पात्रं किंचिदुपादाय येन दास्युदकमाहरति तस्माद् घटाद् गृहीतेनोदकेन पूरयित्वा दक्षिणामुखो भूत्वा यदाऽपसव्येन विपर्यस्येदपसव्यमधोमुखं विक्षिपेत्। तत्र मन्त्रः—अमुकमनुदकं करोमीति। नामग्राहम्। अमुकमिति स्थाने त्याज्यस्य नाम द्वितीयान्तं गृहीत्वा। नाम्न्या दिशिग्रहोरिति णमुल्। ग्राह इति पाठे रूपसिद्धिश्चिन्त्या ॥ ४ ॥

कोई दास या नौकर किसी (घूरा आदि) अशुद्ध स्थान से एक अपवित्र घड़ा लाकर उसे किसी दासी के घड़े के जल से भरे और अपना मुँह दक्षिण की ओर करके उस व्यक्ति का नाम लेकर अमुक-को उदक से वञ्चित करता हूँ ऐसा कहते हुए पैर से घड़े को उलट दे ॥ ४ ॥

तं सर्वेऽन्वालभेरन्प्राचीनावीतिनो मुक्तशिखाः ॥ ५ ॥

तं विपर्यस्यन्तं सर्वे ज्ञातयः प्राचीनावीतिनो मुक्तशिखाः सन्तोऽन्वालभेरन्स्पृशेयुः ॥ ५ ॥

सभी बन्धु-बान्धव अपने यज्ञोपवीत को दाहिने कंधे के उपर और बाएँ हाथ के नीचे करके अपनी अपनी शिखा को खोलकर उस दास का स्पर्श करें ॥ ५ ॥

विद्यागुरवो योनिसंबन्धाश्च वीक्षेरन् ॥ ६ ॥

न तु संस्पृशेयुः ॥ ६ ॥

विद्यागुरु आचार्य, उपाध्याय और सम्बन्धी देखते रहें उसका स्पर्श न करें ॥ ६ ॥

अप उपस्पृश्य ग्रामं प्रविशन्ति ॥ ७ ॥

एवमिदं कर्म कृत्वाऽप उपस्पृश्य स्नात्वा ग्रामं संविशन्ति प्रविशेयुः। अत एव ज्ञायते ग्रामाद् बहिरिदं कर्मेति ॥ ७ ॥

वे सभी स्नान करके गाँव में प्रवेश करें ॥ ७ ॥

अत उत्तरं तेन संभाष्य तिष्ठेदेकरात्रं जपन्सावित्रीमज्ञानपूर्वम् ॥८॥

अतस्त्यागादूर्ध्वं तेन सह संभाषणमज्ञानात्कृत्वैकमहोरात्रं तिष्ठेन्न भुञ्जीत न शयीत नाऽऽसीतेति। अज्ञानपूर्वमितिवचनादेकवचननिर्देशाच्च ज्ञातिव्यतिरिक्तस्यापीदं भवति ॥ ८ ॥

जो बाद में उस परित्यक्त पापी से अनजान में बोले वह रात भर सावित्री मन्त्र का जप करते हुए खड़ा रहे ॥ ८ ॥

ज्ञानपूर्वं च त्रिरात्रम् ॥ ९ ॥

यस्तु तेन ज्ञानपूर्वं संभाषते स त्रिरात्रमुक्तक्रमेण तिष्ठेत्। कार्याकार्यनिरूपणादाविदम्। परिप्रश्नादौ तु पराशरोक्तम्—

क्षुते निष्ठीवने चैव दन्तस्पृष्टे तथैव च।
पतितानां च संभाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥ इति ॥ ९ ॥

जो व्यक्ति उसके साथ जानबूझ कर बोलता है वह उपर्युक्त विधि से तीन रात्रि बितावे ॥ ९ ॥

यस्तु प्रायश्चित्तेन शुध्येत्तस्मिञ्शुद्धे शातकुम्भमयं पात्रं पुण्यतमाद्ध्रदात्पूरयित्वा स्रवन्तीभ्यो वा तत एनमप उपस्पर्शयेयुः ॥ १० ॥

प्रायश्चित्तेनेति वचनाद्राजदण्डेन शुद्धस्य वक्ष्यमाणस्वीकरणविधिर्न भवति तस्य केवलं परत्रैव शुद्धिः।

राजभिर्धृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ इति ॥

तस्मिँल्लोकसमक्षं शुद्धे शातकुम्भमयं सौवर्णं पात्रं पुण्यतमाद्ध्रदान्न-

दीभ्यो वाऽऽहृतेन जलेन पूरयित्वा ततस्तस्मादावर्जिता अप एनं चरित-प्रायश्चित्तमुपस्पर्शयेयुस्ताभिरद्भिः स्नापयेयुर्ज्ञातयः ॥ १० ॥

किन्तु यदि परित्यक्त पापी प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध हो जाय तो उसके शुद्ध होने पर उसके बन्धुगण एक अत्यन्त पवित्र सरोवर या नदी से जल लाकर उसके लिए सोने का घड़ा भरें उस घड़े के जल से उसे नहलावें ॥ १० ॥

अथास्मै तत्पात्रं दद्युस्तत्संप्रतिगृह्य जपेच्छान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तं शिवमन्तरिक्षं यो रोचनस्तमिमं गृह्णामीति ॥ ११ ॥

अथ स्नापनानन्तरमस्मै स्नाताय तत्सौवर्णं पात्रं दद्युर्ज्ञातयः । स च तत्पात्रं प्रतिगृह्य जपेच्छान्ता द्यौरित्यादि गृह्णामीत्यन्तम् ॥ ११ ॥

तब वे उसे वह घड़ा दें और वह उसके बाद इस मन्त्र का जप करे 'शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तं शिवमन्तरिक्षं यो रोचनस्तमम् इमं गृह्णामि' "आकाश शान्त है, पृथिवी पवित्र है, अन्तरिक्ष निर्मल और शुभ है, मैं तेजपूर्ण इसे ग्रहण करता हूँ" ॥ ११ ॥

एतैर्यजुर्भिः पावमानीभिस्तरत्समन्दीभिः कूष्माण्डैश्चाऽऽज्यं जुहुयाद्धिरण्यं ब्राह्मणाय दद्यात् ॥ १२ ॥

होमान्ते दानम् ॥ १२ ॥

तब वह पवमान, तरत्समन्दी तथा कूष्माण्ड यजुस् मन्त्रों के साथ आज्य की आहुति करे और ब्राह्मण को सोने का दान दे ॥ १२ ॥

गां वा ॥ १३ ॥

इच्छातो विकल्पः ॥ १३ ॥

अथवा गौ का दान दे ॥ १३ ॥

आचार्याय च ॥ १४ ॥

य आत्मन आचार्यस्तस्मा अपि हिरण्यं दद्याद् गां वा ॥ १४ ॥

(अपने) आचार्य को भी स्वर्ण या गौ का दान दे ॥ १४ ॥

यस्य तु प्राणान्तिकं प्रायश्चित्तं स मृतः शुध्येत् ॥ १५ ॥

उत्तरविवक्षयेदमुच्यते । प्रायश्चित्तस्य शुद्ध्यर्थत्वादेव सिद्धा शुद्धिः ॥ १५ ॥

किन्तु जिस पापी का प्रायश्चित्त जीवनपर्यन्त चलता रहे वह मृत्यु के बाद ही शुद्ध माना जाता है ॥ १५ ॥

सर्वाण्येव तस्मिन्नुदकादीनि प्रेतकर्माणि कुर्युः ॥ १६ ॥

यद्यपि तस्य नास्मिँल्लोके प्रत्यापत्तिस्तथाऽपि मरणादेव शुद्ध इति सर्वाण्येव प्रेतकर्माणि कर्तव्यानि । सर्वग्रहणादाशौचमपि । योऽपि द्वादशवार्षिकादौ प्रायश्चित्ते प्रवृत्तो मध्ये म्रियते तद्विषये व्यास आह—

यजमानः सदा धर्म्ये म्रियते यदि मध्यतः ।
प्राप्नोत्येव तु तत्सर्वमत्र मे नास्ति संशयः इति ॥ १६ ॥

उसके बन्धु उसके लिए उदक दान आदि सभी श्राद्धकर्म करें ॥ १६ ॥

एतदेव शान्त्युदकं सर्वेषूपपातकेषु [सर्वेपूपपातकेषु ॥ १७ ॥]

एतदेवानन्तरोक्तं शान्ता द्यौरित्यादिभिरभिमन्त्रितं सर्वेषूपपातकेषु कर्तव्यं प्रायश्चित्तस्यान्ते । आदावित्यन्ये । द्विरुक्तिः पूर्ववत् ॥ १७ ॥

यही (शान्ता द्यौ आदि मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर्म सभी उपपातकों की शुद्धि के लिए करना चाहिए ॥ १७ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
तृतीयप्रश्ने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः

पतितानां त्यागविधिरुक्तः के पुनस्ते तानाह—

ब्रह्महसुरापगुरुतल्पगमातृपितृयोनिसंबन्धागस्तेननास्तिकनिन्दितकर्माभ्यासिपतितात्याग्यपतितत्यागिनः पतिताः ॥ १ ॥

ब्राह्मणस्य हन्ता ब्रह्महा ।

गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवैका न पातव्या तथा सर्वा द्विजोत्तमैः ॥ इति मनुः ।

तत्र या यस्य सुरा प्रतिषिद्धा स तस्याः पाता सुरापः । गुरुः पिताऽऽचार्यश्च । तल्पशब्देन भार्या लक्ष्यते । गमनं मैथुनम् । मातृसंबन्धा मातृपक्षे प्राक्पञ्चमाद्भवाः पितृसंबन्धाः पितृपक्षेऽर्वाक्सप्तमाद्भवाः । योनिसंबन्धा भगिन्यादयः । य एता भार्यात्वेनाधिगच्छति स मातृपितृयोनिसंबन्धागः । स्तेनो ब्राह्मणसुवर्णापहारी । नास्तिकः प्रेत्यभावापवादी । निन्दितं प्रतिषिद्धम् । तस्य कर्मणो बुद्धिपूर्वं सातत्येनानुष्ठाता निन्दितकर्माभ्यासी । पतितानेव सतः पुत्रादीन्स्नेहादिना यो न त्यजति स पतितात्यागी । यस्त्वपतितानेव द्वेषादिना त्यजति सोऽपतितत्यागी । एते ब्रह्महादयः पतिताः ॥ १ ॥

ब्राह्मण की हत्या करने वाले, निषिद्ध सुरा का पान करने वाले, गुरु (पिता, आचार्य) की स्त्री से संभोग करने वाले, मातृपक्ष में पाँचवी पीढी के भीतर की और पितृपक्ष में सात पीढी के भीतर की भगिनी आदि स्त्रियों के साथ यौन संबन्ध रखने वाले, ब्राह्मण के स्वर्ण की चोरी करने वाले, नास्तिक, निरन्तर निन्दित कर्म करने वाले, पतित व्यक्ति का त्याग न करने वाले और निर्दोष व्यक्ति का त्याग करने वाले—ये सभी पतित होते हैं ॥ १ ॥

पातकसंयोजकाश्च ॥ २ ॥

पातकैः कर्मभिर्ये परान्संयोजयन्ति तत्र प्रवर्तयन्ति द्रव्यप्रदानादिना मच्छत्रुमित्थं व्यापादय त्वच्छत्रोर्व्यापादनेऽयमभ्युपाय इति । तथा केनचिज्जिघांसितं पलायमानं यो निवारयति निवारितश्च हन्यते सोऽपि प्रयोजकः । यस्यानुमतिमन्तरेणार्थो न निव (वं) र्तते स मन्ता । स इह पृथङ्नोपादीयते प्रयोजककोटिरेवायमिति । आपस्तम्बस्तु कियताऽप्यवान्तरभेदेन तमेव पृथगुदितवान्—प्रयोजिता मन्ता कर्ता चेति

स्वर्गनरकफलेषु कर्मसु भागिनो यो भूय आरभते तस्मिन्फलविशेष-इति ॥ २ ॥

दूसरे व्यक्ति को (द्रव्य आदि देकर) इन पातक कर्मों में प्रेरित करने वाले भी पतित होते हैं ॥ २ ॥

तैश्चाब्दं समाचरन् ॥ ३ ॥

तैः पतितैः सह योऽब्दं समाचरति यानासनशयनादीनि सोऽपि पतितः । अत्र कण्वः—संवत्सरेण पतति पतितेन समाचरन् ।
यानासनाशनैर्नित्यमित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ॥ इति ।

याजनादौ तु याज्ञवल्क्य आह—

याजनं योनिसंबन्धं स्वाध्यायं सहभोजनम् ।
कृत्वा सद्यः पतत्येव पतितेन समाचरन् ॥ इति ।

सहभोजनमेकस्मिन्पात्रे ।

संवत्सरेण पतति पतितेन समाचरन् ।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात् ॥ इति ।

मानवमप्येवं व्याख्येयम्—यानादिभिः संवत्सरेण पतति न तु याजनादिभिः किंतु तैः सद्य एवेति ॥ ३ ॥

और पतित के साथ पूरे एक वर्ष तक उठने-बैठने वाला भी पतित हो जाता है ॥ ३ ॥

किं पुनरेषां पतितत्वम्—

द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनम् ॥ ४ ॥

द्विजातीनां यानि कार्या (कर्मा)ण्यध्ययनादीनि श्रौतानि गार्ह्याणि स्मार्तानि च तेभ्यो हानिस्तेष्वनधिकारः ॥ ४ ॥

पतित होने के अर्थ है द्विजाति कर्म के अधिकार से वञ्चित हो जाना ॥४॥

तथा परत्र चासिद्धिः ॥ ५ ॥

यान्यनेन प्रागर्जितानि कुशलानि कर्माणि तान्यप्यस्य परत्र न सिध्यन्ति फलदानि न भवन्ति । तदेतदेताभ्यां पतितशब्दस्य निर्वचनं कृतं कर्तव्येभ्यः कर्मभ्यः पूर्वार्जितानां सुकर्मणां फलेभ्यश्च पातः प्रच्यवनं पतितत्वमिति ॥ ५ ॥

और मृत्यु के बाद अपने पुण्य कर्मों के फल से वञ्चित हो जाना भी पतन है ॥ ५ ॥

तमेके नरकम् ॥ ६ ॥

येयं कर्मभ्यो हानिर्या च परत्रासिद्धिस्तामेवैके नरकं मन्यन्ते। नरकसामानाधिकरण्यात्पुंल्लिङ्गमेकवचनं च। कर्मभ्यो हीनस्य बन्धुभिस्त्यक्तस्य दुःखमुत्पद्यते परत्रासिद्धेः सुखलवो न भवत्यतो नरक एवायमिति। स्वमतं तु विशिष्टे देशे दुःखैकतानस्य वासो नरक इति ॥ ६ ॥

कुछ लोग इसी दशा को (कर्म की हानि और पुण्यकर्म के फल के नाश को) नरक कहते हैं ॥ ६ ॥

त्रीणि प्रथमान्यनिर्देश्यान्यनु ॥ ७ ॥

अनुक्रान्तानां पातकानां मध्ये प्रथमानि त्रीणि ब्रह्महत्यासुरापानगुरुतल्पगमनान्यनिर्देश्यान्यनिर्देश्यप्रायश्चित्तानि तेषां प्रायश्चित्तमनिर्देश्यमिति। ब्रह्मवधे। मनुराह—

कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विधीयते। इति।

सुरापाने—

मतिपूर्वमनिर्देश्यं प्राणान्तिकमिति स्थितिः। इति। गुरुतल्पे मृग्यम् ॥ ७ ॥

मनु का मत है कि उपर्युक्त पातकों में प्रथम तीन—ब्रह्महत्या, सुरापान और गुरुपत्नी संभोग–के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है ॥ ७ ॥

न स्त्रीष्वगुरुतल्पं पततीत्येके ॥ ८ ॥

एके मन्यन्ते स्त्रीषु प्रवृत्तो गुरुतल्प एव पतितो नान्यत्रेति। स्वयं त्वन्यत्रापि पततीति। आह मनुरपि—

चाण्डालान्त्यस्त्रियो गत्वा भुक्त्वा च प्रतिगृह्य च।
पतत्यज्ञानतो विप्रो ज्ञानात्साम्यं तु गच्छति ॥ इति ॥ ८ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि गुरुपत्नी के अतिरिक्त अन्य स्त्री से संभोग करने वाला पतित नहीं होता ॥ ८ ॥

अथ स्त्रियाः पतनहेतुमाह—

भ्रूणहनि हीनवर्णसेवायां च स्त्री पतति ॥ ९ ॥

भ्रूणहेति भावपरम्। भ्रूणो गर्भः। आत्मापेक्षायां गर्भहत्यायां स्त्री पतति। यो हीनवर्णो ब्राह्मण्याः क्षत्रियादिः क्षत्रियाया वैश्यादिर्वैश्यायाः शूद्रस्तत्सेवायां च स्त्री पतति। चकाराद् ब्रह्महत्यादिषु च। अपर आह—

भ्रूणहनं हीनवर्णं च या सेवते न तस्य भार्या भवति सा पतति। चकाराद् ब्रह्महत्यादिषु चेति। भ्रूणग्रहणं पतितोपलक्षणम् ॥ ९ ॥

स्त्री गर्भपात कराने पर, निम्नवर्ण के पुरुष के साथ सम्बन्ध करने (और ब्रह्महत्यादि कर्मों) से पतित होती है ॥ ९ ॥

कौटसाक्ष्यं राजगामि पैशुनं गुरोरनृताभिशंसनं महापातकसमानि ॥ १० ॥

कूटसाक्षिणो भावः कौटसाक्ष्यं साक्षिणोऽनृतवचनम्। सतोऽसतो वा परदोषस्य ख्यापनं पैशुनम्। राजनीति वक्तव्ये राजगामीति वचनं यत्रोक्तं पारम्पर्यणापि राजानं गच्छति तदपि वर्ज्यमित्येवमर्थम्। गुरोः पितुराचार्यस्य वाऽनृतेनासत्येन दोषेणाभिशंसनं दुष्टताख्यापनं गुरोरनृताभिशंसनम्। एतानि [महा] पातकसमानि। साम्यातिदेशे प्रायश्चित्तमर्धमिति स्मार्तो व्यवहारः ॥ १० ॥

झूठी गवाही देना, राजा के कानों तक पहुँचने वाली चुगुली करना, गुरु (पिता, आचार्य) के विषय में असत्य दोषारोपण करना—ये महापातक के समान हैं ॥ १० ॥

अपङ्क्त्यानां प्राग्दुर्बालाद् गोहन्तृब्रह्मघ्नतन्मन्त्रकृदवकीर्णिपतितसावित्रीकेषूपपातकम् ॥ ११ ॥

स्तेनादयो गोतशीलान्ता एकपञ्चाशन्न भोजयितव्या इत्युक्ताः श्राद्धप्रकरणेऽपङ्क्त्याः। तेषामपङ्क्त्यानां मध्ये दुर्बालात्प्राग्यावन्तस्त्यक्तात्मपर्यन्ता एकत्रिंशत्तेषु पतितः कूटसाक्षी चान्तर्भूतः। तत्र पतितस्य पतितत्वं कूटसाक्षिणस्तत्साम्यमुक्तम्। व्यतिरिक्तेषूपपातकं पापम्। नास्तिकोऽपि तेषु पठितः। स च त्रिविधः। यथाऽऽहुः पौराणिकाः—

> नास्तिकास्त्रिविधा ज्ञेया धर्मज्ञैस्तत्त्वदर्शिभिः।
> क्रियादुष्टो मनोदुष्टो वाग्दुष्टश्चेति ते त्रयः ॥ इति।

अत्र वाग्दुष्ट उपपातकोऽभिप्रेतः। इतरयोः पातक एव। गोहन्ता हननं दण्डकाष्ठादिना ताडनम्। ब्रह्म वेदस्तमधीतं यः प्रमादादभिहतवान्विस्मृतवान्स ब्रह्मघ्नः। बुद्धिपूर्वे मानवम्—

> ब्रह्मघ्नत्वं वेदनिन्दा कौटसाक्ष्यं सुहृद्वधः।
> गर्हितानाद्ययोर्जग्धिः सुरापानसमानि षट् ॥ इति।

तन्मन्त्रकृद्गोहन्तृब्रह्मघ्नयोर्याजनादिकृत्। यो ब्रह्मचारी स्त्रियमुपेयात्सोऽवकीर्णी। अस्यापङ्क्त्येषु पठितस्य पुनर्वचनं कृतेऽप्यवकीर्णिप्राय-

श्चित्ते पृथगुपपातकप्रायश्चित्तमपि कर्तव्यमित्येवमर्थम्। एतच्चापत्योत्पादनपर्यन्तगमने द्रष्टव्यम्। पतितसावित्रीको यथाकालमनुपनीतो व्रात्यः। एतेषूपपातकं पापमिति ॥ ११ ॥

लघु पाप (उपपातक) का दोष उन व्यक्तियों को लगता है जो श्राद्ध भोजन कराने के लिये अयोग्य बताये गये व्यक्तियों में दुर्वाल (गंजे सिर वाले) से पहले गिनाये गये हैं। गाय की हत्या करने वाले, वेद भूल जाने वाले, इनके लिए यज्ञ कराने वाले, मैथुन द्वारा ब्रह्मचर्य भंग करने वाले, और उपनयन की अवधि बीतने के कारण सावित्री मन्त्र से पतित व्यक्ति ॥ ११ ॥

अज्ञानादनध्यापनादृत्विगाचार्यौ पतनीयसेवायां च हेयौ ॥ १२ ॥

अज्ञानादनध्यापनादिति। यदि (यः) कर्मणि प्रवृत्त ऋत्विङ्मन्त्रान्कर्मपद्धतिं वा न जानाति स च, य आलस्यादिना नाध्यापयत्याचार्यस्तावुभौ हेयौ त्याज्यौ। इदं पतितेन सह शयनासनादेः सेवायां प्रागप्यब्दात्परित्यागार्थम्। तर्हि संवत्सरेण पततीति वचनमनर्थकम्। न तादृशस्त्यागोऽत्र विवक्षितः। किं तर्ह्यृत्विगाचार्यान्तरमुपादेयम्। अनुपादाने दोष इति ॥ १२ ॥

(यज्ञ के नियमों के विषय में) अज्ञान ऋत्विज् और (आलस्य आदि के कारण) अध्यापन से प्रमाद करने वाले आचार्य को और पतित व्यक्ति की सेवा करने पर इन दोनों का त्याग कर देना चाहिए ॥ १२ ॥

अन्यत्र हानात्पतति ॥ १३ ॥

अन्यत्राज्ञानादनध्यापनादन्यत्र तयोस्त्यागो न कर्तव्यः। कुर्वन्पतति ॥ १३ ॥

इस के अतिरिक्त अन्य किसी स्थिति में इनका त्याग करने वाला पतित हो जाता है ॥ १३ ॥

तस्य च प्रतिग्रहीतेत्येके ॥ १४ ॥

तस्यर्त्विजमाचार्यमीदृशं त्यजतः प्रतिग्रहीता तं यः प्रतिगृह्णाति याज्यत्वेन शिष्यत्वेनर्त्विगाचार्यौ वा सोऽपि पततीत्येके मन्यन्ते। एके ग्रहणाज्ज्ञात्वा प्रतिग्रहे पातित्यं नान्यत्रेति ॥ १४ ॥

कुछ लोगों का मत है कि अनुचित ढंग से अपने ऋत्विज् या आचार्य का परित्याग करने वाले व्यक्ति को शिष्य या यजमान बनाने वाला भी पतित हो जाता है ॥ १४ ॥

न कर्हिचिन्मातापित्रोरवृत्तिः ॥ १५ ॥

न कस्यांचिदप्यवस्थायां मातापित्रोरवृत्तिरशुश्रूषा कर्तव्या किन्तु पतितयोरपि तयोर्नमस्कारादिका शुश्रूषा कर्तव्या । तथा चाऽऽपस्तम्बः—माता पुत्रस्य भूयांसि कर्माण्यारभते तस्यां शुश्रूषा नित्या पतितायामपीति ॥ १५ ॥

किसी भी स्थिति में (पतित होने पर) माता और पिता के साथ अनुचित व्यवहार नहीं करना चाहिए ॥ १५ ॥

दायं तु न भजेरन् ॥ १६ ॥

तदीयं तु धनं तदभावे न भजेरन्पुत्रादयः । राजगामि तद्भवति ॥१६॥

(माता पिता के पतित होने पर) पुत्र उनकी सम्पत्ति न ग्रहण करे (उनका धन राजा को प्राप्त होता है) ॥ १६ ॥

ब्राह्मणाभिशंसने दोषस्तावान् ॥ १७ ॥

यो ब्राह्मणमभिशंसति तस्य सन्तं दोषं प्रथमं ख्यापयति तस्य दोषस्तावान्भवति यावान्कर्तुरिति । यथाऽऽहापस्तम्बः—

दोषं दृष्ट्वा न पूर्वः परेभ्यः पतितस्य समाख्याने स्याद्वर्जयेत्त्वेनं धर्मेषु । इति ॥ १७ ॥

किसी ब्राह्मण पर कोई दोष मढ़ने पर दोष मढ़ने वाला ही उस दोष के पाप का भागी होता है ॥ १७ ॥

द्विरनेनसि ॥ १८ ॥

अनेनसि विषये दोषाभिशंसने द्विर्दोषोऽस्य भवति । द्विर्द्विगुणः । अत्राभिशंसनमात्रे दोष उक्तः । मानवे तु—

पतितं पतितेत्युक्त्वा चोरं चोरेति वा पुनः ।
वचनात्तुल्यदोषः स्यान्मिथ्या द्विदोषभाग्भवेत् ॥ इति ।

पातित्यचौर्यविषयमभिशंसनमुक्तम् । वसिष्ठस्तु—ब्राह्मणमनृतेनाभिशस्य पतनीयेनोपपतनीयेन वा मासमब्भक्षः शुद्धवतीरावर्तयेत्पूतो भवतीति विज्ञायते ॥ १८ ॥

यदि वह व्यक्ति निर्दोष हो जिस पर दोष मढ़ा गया हो तो दोष मढ़ने वाले को उस कुकर्म का दूना पाप लगता है ॥ १८ ॥

दुर्बलहिंसायां च विमोचने शक्तश्चेत् ॥ १९ ॥

दुर्बले प्रबलेन हिंस्यमाने यः शक्तः सन्न मोचयति तस्यापि तावान्दोषो यावान्हिंसितुः ॥ १९ ॥

समर्थ होते हुए भी किसी मारे जाते हुए दुर्बल व्यक्ति की रक्षा न करने पर उतना ही दोष लगता है जितना उस दुर्बल व्यक्ति को मारने वाले को ॥१९॥

अभिक्रुद्धावगोरणं ब्राह्मणस्य वर्षशतमस्वर्ग्यम् ॥ २० ॥

योऽभिक्रुद्धः सन्ब्राह्मणं प्रहर्तुं हस्तमायुधं वाऽवगुरत उद्यम्य कम्पयति तस्य तदवगोरणं वर्षाणां शतमस्वर्ग्यं भवति स्वर्गप्राप्तिं निरुणद्धि। तन्निमित्तानि सुकृतानि हन्तीत्यर्थः। अस्वर्ग्यमिति नरकपातो वा लक्ष्यते। सजातीयविषयमिदम्। विजातीयविषये तु—

द्विगुणं त्रिगुणं चैव चतुर्गुणमथापि च।
क्षत्रविट्शूद्रजातीनां ब्राह्मणस्य वधे स्मृतम् ॥ इति।

अनेनैव न्यायेन ब्राह्मणेनावगोरणे कृते त्रिपाद्यं द्विपाद्यं पादश्चेति क्षत्रियादिषु द्रष्टव्यम्। एवमन्यत्रापि प्रतिलोमानुलोमभेदेनाधरोत्तरभावे तारतम्यं कल्प्यम् ॥ २० ॥

जो क्रुद्ध होकर किसी ब्राह्मण के ऊपर हाथ या हथियार उठाता है वह सौ वर्ष तक स्वर्ग से बहिष्कृत होता है ॥ २० ॥

निघाते सहस्रम् ॥ २१ ॥

यः स्वर्णेन हन्ति तस्य वर्षसहस्रमस्वर्ग्यम्। उपसमस्तं वर्षपदमपेक्षते ॥ २१ ॥

यदि वह मार देता है तो वह सहस्र वर्षों तक स्वर्ग नहीं प्राप्त करता ॥२१॥

लोहितदर्शने यावतस्तत्प्रस्कन्द्य पांसून्संगृह्णीयात् [संगृह्णीयात्] ॥ २२ ॥

यदि तेन निघातेन लोहितमुत्पादयेत्ततस्तल्लोहितं प्रस्कन्द्य निःसृत्य यावतः पांसून्संगृह्णीयात्पिण्डान्कुर्यात्तावन्ति वर्षाणि तदस्वर्ग्यं भवति। तस्माद् ब्राह्मणाय नावगुरेत न निहन्यान्न लोहितं कुर्यादिति गम्यमानत्वादनुक्तम्। [अभ्यासोऽध्यायसमाप्त्यर्थः] ॥ २२ ॥

यदि वह मार कर खून निकाल देता है तो उस खून से जितने रजकण एक साथ मिलते हैं उतने वर्षों तक उसे स्वर्ग नहीं मिलता ॥ २२ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
तृतीयप्रश्ने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

एवं प्रायश्चित्तनिमित्तान्युक्तानि । अथ प्रायश्चित्तान्युच्यन्ते—

प्रायश्चित्तम् ॥ १ ॥

अधिकारोऽयम् । निश्चित्य तपसोऽनुष्ठानं प्रायश्चित्तम् ।

तथा चाङ्गिराः—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।
तपोनिश्चयसंयोगात्प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ इति ॥ १॥

अब प्रायश्चित्तों का वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

अग्नौ सक्तिर्ब्रह्मघ्नस्त्रिरवच्छातस्य ॥ २ ॥

सक्तिः सङ्गः पतनम् । अवच्छातोऽवशीर्णो भक्तत्यागेन कृशीभूतः । ब्रह्महा भक्तत्यागेन कृशो भूत्वाऽग्नौ त्रिः पतेदुत्थायोत्थाय । इदमस्य प्रायश्चित्तम् , अत्र मानवो विशेषः—

प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः । इति ।

काठकश्रुतिः—"अनशनकर्शितोऽग्निमारोहेत्" इति ।

नेदं मरणान्तिकं त्रिरिति नियमात् । त्रिः पतने जीवन्नपि शुध्यतीति ॥ २ ॥

जानबूझ कर का ब्राह्मण की हत्या करने वाला भोजन त्याग कर दुर्बल शरीर होकर तीन बार अग्नि में कूदे तो उसका प्रायश्चित होता है ॥ २ ॥

लक्ष्यं वा स्याज्जन्ये शस्त्रभृताम् ॥ ३ ॥

जन्यं युद्धम् । शस्त्रभृत इष्वासाः । लक्ष्यमिति वचनाद्युद्ध इष्वासानामिषूनस्यतां मध्ये लक्ष्यं वेध्यं भूत्वा तिष्ठेत् । तैर्विद्धो जीवन्मृतो वा शुध्यति । याज्ञवल्क्यः—

संग्रामे वा हतो लक्ष्यभूतः शुद्धिमवाप्नुयात् ।
मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवन्नपि विशुध्यति ॥ इति ॥ ३ ॥

अथवा वह युद्ध में रत योद्धाओं का लक्ष्य बनकर प्रायश्चित करे ॥ ३ ॥

खट्वाङ्गकपालपाणिर्वा द्वादश संवत्सरान्ब्रह्मचारी भैक्षाय ग्रामं प्रविशेत्कर्माऽऽचक्षाणः ॥ ४ ॥

खट्वाङ्गं पाशुपतानां प्रसिद्धम्। कपालं स्वव्यापादितस्य ब्राह्मणस्य शिरः कपालम्। ते पाण्योर्यस्य स खट्वाङ्गकपालपाणिः। खट्वाङ्गं दक्षिणे पाणौ कपालं सव्ये भिक्षार्थं पानीयपानार्थं भोजनार्थं च। तत्राऽऽपस्तम्बः—पुरुषशिरः प्रतिपानार्थमादाय खट्वाङ्गं दण्डार्थमिति। मनुस्तु—कृत्वा शवशिरोध्वजम्। इति। तस्मिन्पक्षे खट्वाङ्गस्याग्रे ध्वजः। तन्मूले शवशिरः। भिक्षाचरणं तु लोहितेन खण्डशरावेणाऽऽपस्तम्बीयदर्शनात्। एवंभूतो भैक्षाय ग्रामं प्रविशेत्। एतावानस्य ग्रामे प्रवेशोऽन्यदारण्ये। भैक्षं च कर्माऽऽचक्षाणश्चरेत्।

वेश्मनो द्वारि तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः। इति पराशरः।

द्वादश संवत्सरानेवं चरन्ब्रह्मचारी भवेत्। स्त्रीषु न प्रसजेत्। भिक्षाचरणे सप्तागाराण्यसंकल्पितानीत्यापस्तम्बः। संवर्तस्तु—

भिक्षार्थं प्रविशेद् ग्रामं वन्यैर्यदि न जीवति। इति।

एककालाहार इति वसिष्ठः॥ ४॥

अथवा बारह वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण कर, केवल भिक्षा के लिए ग्राम में प्रवेश करके, हाथ में एक चारपाई का पाया तथा नरकपाल लेकर अपने कर्म को बताते हुए जीवन व्यतीत करने पर प्रायश्चित्त होता है॥ ४॥

पथोऽपक्रामेत्संदर्शनादार्यस्य॥ ५॥

आर्यस्त्रैवर्णिकस्तस्मिन्दृष्टे पथोऽपक्रामेदपयायात्। अत्र व्याघ्रः—

चाण्डालं पतितं दृष्ट्वा दूरतः परिवर्जयेत्।
गोबालव्यजनादर्वाक्सचैलं स्नानमाचरेत्॥ इति।

शूद्रोऽपि स्पर्शं वर्जयेत्। यथाऽऽह लौगाक्षिः—

महापातकिसंस्पर्शे वर्णानां स्नानमुच्यते।
अस्नात्वा भोजने चैव सप्तरात्रं समाविशेत्॥
त्रिरात्रं स्यादमत्या चेच्छङ्खपुष्पीशृतं पयः।
एवमार्तविचण्डालशवानामपि कीर्तयेत्॥ इति॥ ५॥

यदि उसके मार्ग में कोई आर्य (तीन उच्च वर्णों का व्यक्ति) आता दिखाई पड़े तो वह मार्ग से दूर हट जाय॥ ५॥

स्थानासनाभ्यां विहरन्सवनेषूदकोपस्पर्शी शुध्येत्॥ ६॥

तिष्ठेदहनि रात्रावासीत यथाशक्ति प्रातर्मध्यन्दिने सायमिति सवनेषु त्रिसंध्यमुदकोपस्पर्शी स्यात्स्नायात्। एवं द्वादश वर्षाणि चरन्नन्ते शुध्येत्। स्नानविधानादेव तदन्तर्भूतमन्त्रादिप्राप्तिरिति गम्यते। शुचिना कर्तव्यमिति च सर्वकर्मसाधारणम्। अतः संध्योपासनमप्यस्य भवति।

संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ।
यत्किंचित् कुरुते कर्म न तस्य फलभाग्भवेत् ॥

इति दक्षस्मरणात् । द्विजातिकर्मभ्यो हानिः पतनमित्यनेन तु प्रायश्चित्तं व्रतचर्यानङ्गभूतानां कर्मणां हानिर्न सर्वेषाम् । अत्र च यस्य द्वे ब्रह्महत्ये, स चतुर्विंशतिवर्षाणि व्रतं चरेत् । यस्य तिस्रः, स षट्त्रिंशतं न पुनर्देहकालकर्त्रैक्यात्प्रायश्चित्तस्य तन्त्रता । यस्य चतस्रो, न तस्येह लोके निष्कृतिः । एतदेव व्रतमोन्तमादुच्छ्वासाच्चरेत् । तथा च मनुः—

विधेः प्राथमिकादस्माद् द्वितीये द्विगुणं चरेत् ।
तृतीये त्रिगुणं प्रोक्तं चतुर्थे नास्ति निष्कृतिः ॥ इति ।

याज्ञवल्क्यः—द्विगुणं सवनस्थे तु ब्राह्मणे व्रतमादिशेत् । इति ॥ ६ ॥

दिन में खड़े रहकर, रात्रि में बैठकर तथा प्रतिदिन प्रातः मध्याह्न एवं सायं स्नान करके वह (बारह वर्ष में) शुद्ध होता है ॥ ६ ॥

प्राणलाभे वा तन्निमित्ते ब्राह्मणस्य ॥ ७ ॥

यदि चोरव्याघ्रादिभिः प्रमाप्यमाणस्य ब्राह्मणस्य तन्निमित्तः प्राणलाभो भवति तदा शुध्येत् । एकस्य च्छिन्नाः प्राणा अपरस्य दत्ताः को न्वत्र विशेषः । अनेनैव न्यायेन सर्वेषामेव हनने तज्जातीयस्य तद्धेतुके प्राणलाभे शुद्धिर्द्रष्टव्या ॥ ७ ॥

अथवा किसी (संकटग्रस्त) ब्राह्मण के प्राण बचाने पर वह पापमुक्त होता है ॥ ७ ॥

द्रव्यापचये त्र्यवरं प्रतिराद्धः ॥ ८ ॥

ब्राह्मणस्येति वर्तते ब्राह्मणस्य द्रव्ये चोरादिभिरपचीयमानेऽपह्रियमाणे तस्य प्रत्यानयनाय चोरादिसमीपं गतस्तैः शस्त्रादिभिः क्षतो वर्जि-(तोऽवर्जि)तः सकृत् , पुनः पुनश्चैवं त्रिवारान्न्यू (रन्यू)नं प्रतिराद्धोऽभियुक्तः सन्नप्रत्यानीतेऽपि द्रव्ये शुध्येत् । प्रत्यानीते तु सकृत्प्रयोगेऽपि शुध्येत् ।

त्र्यवरं प्रतिराद्धो वा सर्वस्वमवजित्य च । इति मनुः ।

अनेनैव न्यायेन स्वद्रव्यप्रदानेनापि शुद्धिर्ज्ञेया । तथा च मनुः—

सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत् ।
धनं वा जीवनायालं गृहं वा सपरिच्छदम् ॥ इति ॥ ८ ॥

याज्ञवल्क्यस्तु—पात्रे धनं वा पर्याप्तं दत्त्वा शुद्धिमवाप्नुयात् ।
आदातुश्च विशुद्ध्यर्थमिष्टिर्वैश्वानरी स्मृता ॥ इति ॥ ८ ॥

अथवा ब्राह्मण का धन (चोरों आदि से) वापस लेने के लिए संघर्ष करके तीन बार क्षतविक्षत होने पर प्रायश्चित्त होता है ॥ ८ ॥

अश्वमेधावभृथे वा ॥ ९ ॥

स्नात्वेति शेषः। परकीयस्याश्वमेधस्यावभृथे स्वयं स्नात्वा वा शुध्येत्। प्राणलाभ इत्यादिसूत्रेषु वाशब्दो विकल्पार्थः। अत्र मानवो विशेषः—

शिष्ट्वा वा भूमिदेवानां नरदेवसमागमे।
स्वमेनोऽवभृथे स्नात्वा हयमेधे विमुच्यते॥

भूमिदेवा ब्राह्मणा ऋत्विजः, नरदेवो राजा यजमानः। तेषां समवाये स्वमेनः शिष्ट्वा विख्याप्य ॥ ९ ॥

अथवा अश्वमेधयज्ञ के अन्त में ऋत्विजों के साथ अवभृथ स्नान करने पर वह दोषमुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

अन्ययज्ञेऽप्यग्निष्टुदन्तश्चेत् ॥ १० ॥

अश्वमेधादन्ययज्ञेऽप्यवभृथे स्नात्वा शुध्येत्। किमविशेषेण। न। तस्य चेदन्तर्मध्येऽग्निष्टुन्नामैकाहो भवति। पञ्चदशरात्रादेर्ग्रहणम्। अपर आह—अग्निष्टुदन्तोऽग्निष्टुत्समाप्तिको भवतीति। अत्र पक्षे सर्वमेधादेर्ग्रहणम्। अत्र च शुध्येदिति द्वादशवार्षिकमुपसंहृत्य विधानाद्ग्रहणाच्च सर्वाण्येतानि स्वतन्त्राणि वैकल्पिकानि प्रयोजकानि प्रयोजकादिविषयाणि वा द्रष्टव्यानि। अन्ये तु द्वादशवार्षिकप्रवृत्तस्येत्याहुः। तथा च शङ्खो द्वादशे वर्षे शुद्धिमाप्नोतीत्यभिधायाऽऽह—अन्तराले वा ब्राह्मणं मोचयित्वा गवां वा द्वादशानां परित्राणादिति। वाशब्दस्तु परस्परापेक्षया विकल्पार्थः ॥ १० ॥

अथवा किसी भी ऐसे वैदिक यज्ञ के अन्त में, जिसमें अग्निष्टुत् यज्ञ भी सम्मिलित हो, स्नान करने से शुद्धि होती है ॥ १० ॥

सृष्टश्चेद् ब्राह्मणवधेऽहत्वाऽपि ॥ ११ ॥

सर्ग उत्साहो निश्चयश्च। तद्वान्सृष्टः। यदि ब्राह्मणवधे सृष्टो भवति केनचिद्दैवाद्वाऽनिवारितः सोऽहत्वाऽपि ब्रह्महा भवति। अतस्तस्याप्यनन्तरोक्तेषु प्रायश्चित्तेषु यल्लघु तद्भवति ॥ ११ ॥

यदि ब्राह्मण की हत्या करने का असफल प्रयत्न भी किया हो तो उपर्युक्त प्रायश्चित्त ही करने चाहिए ॥ ११ ॥

आत्रेय्याश्चैवम् ॥ १२ ॥

ऋतुस्नातामात्रेयीमाहुः तत्र। यदपत्यं भवतीति वसिष्ठः। तस्यामपि ब्राह्मण्यां हतायामेवं ब्रह्महा भवतीति तदीयमेव प्रायश्चित्तमिति। क्षत्रियाद्यात्रेयीवधे तत्तत्पुरुषवधनिमित्तं प्रायश्चित्तम्। अन्ये त्वत्रिगोत्रामात्रेयीमाहुः ॥ १२ ॥

इसी प्रकार मासिक अशौच के उपरान्त स्नान कर चुकी होने वाली ब्राह्मण स्त्री की हत्या का प्रायश्चित्त भी होता है ॥ १२ ॥

गर्भे चाविज्ञाते ॥ १३ ॥

ब्राह्मणस्य गर्भे स्त्रीपुंनसकत्वेनाविज्ञाते ब्राह्मण्यामाहित औषधादिना हते ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तम्। विज्ञाते तु यथालिङ्गम्। क्षत्रियादिगर्भेऽपि तदनुगुणम्। राजन्यवैश्ययोरपि सवनं गतयोर्वध एतदेव। यथाऽऽह मनुः—

हत्वा गर्भमविज्ञातमेतदेव व्रतं चरेत्।
राजन्यवैश्यबीजानां चाऽऽत्रेयीमपि च स्त्रियम् ॥ इति।

अत्र पराशरः—चातुर्विद्योपपन्नस्तु विधिवद् ब्रह्मघातके।
समुद्रसेतुगमनं प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत् ॥
सेतुबन्धपथे भिक्षां चातुर्वर्ण्यात्समाहरेत्।
वर्जयित्वा विकर्मस्थांश्छत्रोपानहवर्जितः ॥
अहं दुष्कृतकर्मा वै महापातककारकः।
वेश्मनो द्वारि तिष्ठामि भिक्षार्थी ब्रह्मघातकः ॥
गोकुलेषु च गोष्ठेषु ग्रामेषु नगरेषु च।
तपोवनेषु तीर्थेषु नदीप्रस्रवणेषु च ॥
एतेषु ख्यापयेदेनः पुण्यं गत्वा तु सागरम्।
ब्रह्महा विप्रमुच्येत स्नात्वा तस्मिन्महोदधौ ॥
ततः पूतो गृहं प्राप्य कृत्वा ब्राह्मणभोजनम्।
गवां वाऽपि शतं दत्त्वा चातुर्वैद्याय दक्षिणाम् ॥
एवं विशुद्धिमाप्नोति चातुर्वर्ण्यानुमोदितः। इति।

अत्र सुमन्तुः—ब्रह्महा संवत्सरं कृच्छ्रं चरेदधःशायी त्रिषवणी कर्मावेदको भिक्षाहारो दिव्यनदीपुलिनसंगमाश्रमगोष्ठपर्वतप्रस्रवणतपोवनविहारी स्यान्न वीरासनी। संवत्सरे पूर्णे हिरण्यमणिगोधान्यतिलभूमिसर्पींषि ब्राह्मणेभ्यो दद्यात्पूतो भवतीति। अत्र वर्णविशेष आश्रमविशेषे चाङ्गिराः—

पर्षद्या ब्रह्मणानां तु सा राज्ञां द्विगुणा मता।
वैश्यानां त्रिगुणा प्रोक्ता पर्षद्वच्च व्रतं स्मृतम् ॥
गृहस्थोक्तानि पापानि कुर्वन्त्याश्रमिणो यदि।
शौचवच्छोधनं कुर्यादर्वाग्ब्रह्मनिदर्शनात् ॥ इति।
एतच्छौचं गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
त्रिगुणं स्याद्वनस्थानां यतीनां च चतुर्गुणम् ॥ इति।

अत्र भार्गवः-अशीतिर्यस्य वर्षाणि बालो वाऽप्यूनषोडशः।
प्रायश्चित्तार्धमर्हन्ति स्त्रियो व्याधित एव वा ॥ इति।

हारीतः-प्रायश्चित्ते प्रवृत्तस्तु मध्ये यदि विपद्यते।
शुद्धस्तदहरेवासाविह लोके परत्र च ॥ इति च ॥ १३ ॥

ब्राह्मण के गर्भ का नाश करने पर भी ये ही प्रायश्चित्त होते हैं, भले ही उस गर्भ के बालक या कन्या होने का ज्ञान न हो ॥ १३ ॥

उक्तं ब्राह्मणवधे प्रायश्चित्तम्। अथ राजन्यवधे—

राजन्यवधे षड्वार्षिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यमृषभैकसहस्राश्च गां दद्यात् ॥ १४ ॥

राजन्यवधे कृते ब्राह्मणवधे यदुक्तं ब्रह्मचर्यं तत्षड्वार्षिकं कर्तव्यम्। तदपि प्राकृत स्वाभाविकं खट्वाङ्गादिरहितं ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तं षड् वर्षाणि कुर्यात्। एकाधिकं सहस्रमृषभ एकसहस्रो यासां ता ऋषभैकसहस्रा गा दद्यात्। अत्रोशना—राजन्यवधे षड्वार्षिकं ब्रह्मव्रतं तस्यान्त ऋषभैकसहस्रगोदानं चेति। इदमभिषिक्तस्य श्रोत्रियस्य व्रतवतो बुद्धिपूर्ववधे। तस्यैवाश्रोत्रियस्य व्रतहीनस्य वधे केवलं गोदानम्। उभयहीनस्यानभिषिक्तस्य वधे केवलं षड्वार्षिकम्। अनभिषिक्तस्य तूभयवतो वासिष्ठम्—ब्राह्मणो राजन्यं हत्वाऽऽष्टौ वर्षाणि व्रतं चरेदिति। एतेषामेवाबुद्धिपूर्वेऽर्धं कल्प्यम्। जातिमात्रवधे, स्त्रीशूद्रविट्क्षत्रवधो नास्तिक्यं चोपपातकमित्युक्त्वा—

एतदेव व्रतं कुर्युरुपपातकिनो द्विजाः।
अवकीर्णिवर्जं शुद्ध्यर्थं चान्द्रायणमथापि वा ॥

इति मनुनोक्तं द्रष्टव्यम्। किञ्चिद्गुणवतो वधेऽग्न्युत्सादिनिराकृत्युपपातकेषु चैवमिति वक्ष्यमाणं सांवत्सरिकं प्राकृतं ब्रह्मचर्यम्। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। सर्वत्राबुद्धिपूर्वेऽर्धं बुद्धिपूर्वे कृत्स्नमिति ॥ १४ ॥

(जानबूझकर) क्षत्रिय की हत्या करने पर छः वर्षतक सामान्य ब्रह्मचर्य और एक सहस्र गौ एवं एक साँड का दान करने पर प्रायश्चित्त होता है ॥ १४ ॥

अथ वैश्यवधे—

वैश्ये तु त्रैवार्षिकमृषभैकशताश्च गा दद्यात् ॥ १५ ॥

इदमत्यन्तगुणवतो बुद्धिपूर्ववधे। एतेन परं व्याख्यातम् ॥ १५ ॥

वैश्य की हत्या करने पर उपर्युक्त प्रायश्चित्त तीन वर्ष तक करे और एक सौ गायें तथा एक साँड़ का दान करे ॥ १५ ॥

शूद्रं सवत्सरमृषभैकादशाश्च गा दद्यात् ॥ १६ ॥

इदमप्यत्यन्तगुणवद्विषयम्। अत्यन्तनिर्गुणस्य शूद्रस्य वध औशनसम्—शूद्रं हत्वा तप्तकृच्छ्रमिति। अथानुलोमविषये व्याघ्रः—

सर्वेषामनुलोमानां तन्मात्रहनने तु यत्।
तदेव निर्दिशेद्विद्वान्स्त्रीणामथ तथैव च ॥
आत्रेयीहनने ब्रूयाद्धर्तुरुपदिश्यते।
गर्भे चैव तथा ज्ञाते व्याघ्रस्य वचनं यथा ॥ इति।

प्रतिलोमवधे लौगाक्षिः—

हनने प्रतिलोमानां शूद्रजानां कथं भवेत्।
ज्ञानपूर्वे पराकः स्यादज्ञाने त्वैन्दवं स्मृतम् ॥
इतरेषां चतुर्भागं पितुरुक्तं मनीषिभिः। इति ॥ १६ ॥

शूद्र की हत्या करने पर उपर्युक्त प्रायश्चित्त एक वर्ष तक करे तथा दस गायों एवं एक साँड़ का दान करे ॥ १६ ॥

अनात्रेय्यां चैवम् ॥ १७ ॥

आत्रेयीव्यतिरिक्ताया वधे चैवं शूद्रे संवत्सरमृषभैकादशाश्च गा दद्यादिति। इदं ब्राह्मण्याश्चारित्रवत्याः कुटुम्बिन्या बुद्धिपूर्ववधे। याज्ञवल्क्यश्च—

अप्रदुष्टां स्त्रियं हत्वा शूद्रहत्याव्रतं चरेत्। इति।
षण्मा [सा] ञ्छूद्रहाऽप्येतद्धेनूर्दद्याद्दशाथवा ॥ इति।
दुर्वृत्ता ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्रयोषाः प्रमाप्य तु।
दृतिं धनुर्बस्तमविं क्रमाद्दद्याद्विशुद्धये ॥ इति।

यत्तु हारीतेनोक्तम्—षड्वर्षाणि राजन्ये प्राकृतं ब्रह्मचर्यम्। वैश्ये त्रीणि, सार्धमब्दं शूद्रे, क्षत्रियवद् ब्राह्मणीषु, वैश्यवत्क्षत्रियायां शूद्रवद्वैश्यायां शूद्रां हत्वा नव मासानिति, तदत्यन्तोत्कृष्टाचार्यादिविषयम् ॥ १७ ॥

इसी प्रकार मासिक-धर्मोपरान्त स्नान करने वाली स्त्री के अतिरिक्त अन्य स्त्री का वध करने पर भी इस प्रकार के प्रायश्चित्त का विधान है ॥ १७ ॥

गां च वैश्यवत् ॥ १८ ॥

गां च हत्वा वैश्यवधे यत्प्रायश्चित्तं 'वैश्यवधे त्रैवार्षिकमृषभैकशताश्च गा दद्यात्' इति तच्चरेत् । इदं वृत्तस्वाध्यायवतो दुर्गतस्य बहुकुटुम्बस्य या गौर्बहुक्षीरा तरुणो तस्या बुद्धिपूर्ववधे । तादृश्या एकफलाया गर्भिण्याः कर्माङ्गभूताया वधे याम्यम्—

गोसहस्रं शतं वाऽपि दद्यात्सुचरितव्रतः ।
अविद्यमाने सर्वस्वं वेदविद्भ्यो निवेदयेत् ॥ इति ।

द्वैमासिकं व्रतमत्र प्रकृतम् । अत्रैव बुद्धिपूर्वं कात्यायनीयं गोदानरहितं त्रैवार्षिकम्—

गोघ्नस्तच्चर्मसंवीतो वसेद्गोष्ठेऽथ वा पुनः ।
गाश्चानुगच्छेत्सततं मौञ्जोचीराजिनादिभिः ॥
वर्षशीतातपक्लेशवह्निपङ्कभयार्दितः ।
मोक्षयेत्सर्वयत्नेन पूयते वत्सरैस्त्रिभिः ॥ इति ।

वसिष्ठः—गां चेद्धन्यात्तस्याश्चर्मणाऽऽर्द्रेण परिवेष्टितः षण्मा [सा] न्कृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं वा तिष्ठेदृषभवेहतौ च दद्याताम् । इति । वेहद्वृषभोपहता गौः । दद्यातामिति कर्मणि कर्तृप्रत्ययः । याज्ञवल्क्यः—

पञ्चगव्यं पिबन्गोघ्नो मासमासीत संयतः ।
गोष्ठेशयो गोनुगामी गोप्रदानेन शुध्यति ॥
कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च चरेद्वाऽपि समाहितः ।
दद्यात्त्रिरात्रं चोपोष्य वृषभैकादशास्तु गाः ॥ इति ।

जाबालः—प्रजापत्यं चरेन्मासं गोहन्ता चेदकामतः ।
गोहितो गोनुगामो स्याद् गोप्रदानेन शुध्यति ॥ इति ।

विष्णुः—गोघ्नस्य पञ्चगव्येन मासमेकं पलत्रयम् ।
प्रत्यहं स्यात्पराको वा चान्द्रायणमथापि वा ॥ इति ।

काश्यपः—गां हत्वा तच्चर्मणा परिवृतो मासं गोष्ठेशयस्त्रिषवणस्नायी नित्यं पञ्चगव्याहारः । इति । शातातपः—मासं पञ्चगव्याहारः ॥ इति ।

शङ्खप्रचेतसौ—गोघ्नः पञ्चगव्याहारः । पञ्चविंशतिरात्रमुपवसेत्सशिखं वपनं कृत्वा गोचर्मणा परिवृतो गाश्चानुगच्छेद् गोष्ठेशयो गां च दद्यात् । इति ।

पैठोनसिः-गोघ्नो मासं यवागूं प्रसृततण्डुलशृतां भुञ्जानो गोभ्यः प्रियं कुर्वञ्शुध्यति । इति ।

मनुः-उपपातकसंयुक्तो गोघ्नो भुञ्जीत यावकम् ।
कृतवापो वसेद् गोष्ठे चर्मणाऽऽर्द्रेण संवृतः ॥
चतुर्थकालमश्नीयादक्षारलवणं मितम् ।
गोमूत्रेणाऽऽचरेत्स्नानं द्वौ मासौ नियतेन्द्रियः ॥

इत्यारभ्य-अनेन विधिना यस्तु गोघ्नो गा अनुगच्छति ।
स गोहत्याकृतं पापं त्रिभिर्मासैर्व्यपोहति ॥
ऋषभैकादशा गाश्च दद्यात्सुचरितव्रतम् । इति ।

सुमन्तुः—गोघ्नस्य गोप्रदानं गोष्ठे शयनं द्वादशरात्रं पञ्चगव्यप्राशनं गवामनुगमनं च । इति ।

संवर्तः—सक्तुयावकभैक्षाशी पयो दधि घृतं सकृत् ।
एतानि क्रमशोऽश्नीयान्मासार्धं सुसमाहितः ॥
ब्राह्मणान्भोजयित्वा तु गां दद्यादात्मशुद्धये ॥ इति ।

बृहस्पतिः—द्वादशरात्रं पञ्चगव्याहारः । इति ।

एतेषां बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वभेदेन ब्राह्मणादिपरिग्रहेण यथार्हं विषयविभाग ऊहितव्यः । षट्त्रिंशन्मते विशेषः—

पाद उत्पन्नमात्रे तु द्वौ पादौ दृढतां गते ।
पादोनं व्रतमादिष्टं हत्वा गर्भमचेतनम् ॥
अङ्गप्रत्यङ्गसंपूर्णे गर्भे चेतःसमन्विते ।
द्विगुणं गोव्रतं कुर्यादेषा गोघ्नस्य निष्कृतिः ॥

बृहत्प्रचेताः—एकवर्षे हते वत्से कृच्छ्रपादो विधीयते ।
अबुद्धिपूर्वे पुंसः स्याद् द्विपादस्तु द्विहायने ॥
त्रिहायने त्रिपादं स्यात्प्राजापत्यमतः परम् । इति ।

स्मृत्यन्तरम्—अतिवृद्धामतिकृशामतिबालां च रोगिणीम् ।
हत्वा पूर्वविधानेन चरेदर्धव्रतं द्विजः ॥
ब्राह्मणान्भोजयेच्छक्त्या दद्याद्धेम तिलांस्तथा ॥ इति ।

संवर्तापस्तम्बौ—एका चेद्बहुभिः कैश्चिद्दैवाद्व्यापादिता क्वचित् ।
पादं पादं तु हत्यायाश्चरेयुस्ते पृथक्पृथक् ॥
व्यापन्नानां बहूनां तु रोधने बन्धनेऽपि वा ।
भिषङ्मिथ्योपचारे च द्विगुणं गोव्रतं चरेत् ॥ इति ।

बहूनामपि व्यापादने द्विगुणमेव वचनबलात्। न तु प्रतिनिमित्तं नैमित्तिकावृत्तिः। व्यासः—

औषधं लवणं चैव पुण्यार्थमपि भोजनम्।
अतिरिक्तं न दातव्यं काले स्वल्पं तु दापयेत्॥
अतिरिक्ते विपत्तिश्चेत्कृच्छ्रपादो विधीयते। इति।

आपस्तम्बः—पाषाणैर्लगुडैर्वापि शस्त्रैर्वाऽन्येन वा बलात्॥
निघातयन्ति ये गास्तु तस्मिन्कुर्युर्व्रतं हि ते।
पादमेकं चरेद्रोधे द्वौ पादौ बन्धने चरेत्॥
योजने पादहीनं स्याच्चरेत्सर्वं निपातने। इति।

वसिष्ठः—न नालिकेरेण न शाणवालै-
र्न चापि मौञ्जेन न वर्ध्रशृङ्खलैः।
एतैस्तु गावो न निबन्धनीया
बद्ध्वाऽनुतिष्ठेत्परशुं प्रगृह्य॥ इति॥ १८॥

गाय की हत्या करने पर वैश्य की हत्या के लिए विहित प्रायश्चित्त ही होता है॥ १८॥

मण्डूकनकुलकाकबिम्बदहरमूषकश्वहिंसासु च॥ १९॥

बिम्बः कामरूपी कृकलासः। दहरः स्वल्पकायो मूषकः। छुच्छुन्दरीत्येके। अन्ये प्रसिद्धाः। एतेषां समुदितानां वधे वैश्यवत्प्रायश्चित्तम्। इदं बुद्धिपूर्वाभ्यासविषयम्। अन्यत्राऽऽपस्तम्बीयम्—वायसबकबलाकबर्हिणचक्रवाकहंसभासमण्डूकनकुलसैरिकाश्वहिंसायां शूद्रवत्प्रायश्चित्तम्। इति।

मनुरपि—मार्जारनकुलौ हत्वा चाषमण्डूकमेव च।
श्वगोधोलूककाकांश्च शूद्रहत्याव्रतं चरेत्॥ इति।

प्रत्येकं वधे तु बुद्धिपूर्वे—

मार्जारगोधानकुलमण्डूकश्वपतत्त्रिणः।
हत्वा त्र्यहं पिबेत्क्षीरं कृच्छ्रं वा पादिकं चरेत्॥

इति याज्ञवल्क्योक्तं द्रष्टव्यम्। बुद्धिपूर्वे मानवम्—
पयः पिबेत्त्रिरात्रं वा योजनं वाऽध्वनो व्रजेत्। इति॥१९॥

मेढ़क, नेवला, कौआ, कृकलास, चूहा, छछुन्दर इन सबका वध करने पर वैश्यवध के समान प्रायश्चित्त होता है॥ १९॥

अस्थन्वतां सहस्रं हत्वा ॥ २० ॥

अस्थिमतां कृकलासादीनां सहस्रं हत्वा वैश्यवत्प्रायश्चित्तम् ॥ २० ॥

अथवा बिना अस्थि वाले एक सहस्र जीवों का वध करने पर (वही प्रायश्चित्त होता है) ॥ २० ॥

अनस्थिमतामनड्‌भारे च ॥ २१ ॥

येऽस्थिमन्तो न भवन्ति दंशमशकादयस्तेषां यावतोऽनडवान्भर्तुं शक्नोति तावतो हत्वा वैश्यवत्प्रायश्चित्तम्। इदं द्वयमपि पूर्वाभ्यासविषयम्। अन्यत्र याज्ञवल्क्योक्तम्—

अस्थन्वतां सहस्रं तु तथाऽनस्थिमतामनः।

शूद्रहत्याव्रतं षाण्मासिकं प्रकृतं दश धेनूर्वा दद्यात्। इति च ॥ २१ ॥

अथवा एक बैल के बोझ होने के बराबर बिना अस्थि वाले जीवों की हत्या करने पर (वही प्रायश्चित्त होता है) ॥ २१ ॥

अपि वाऽस्थन्वतामेकैकस्मिन्किंचिद्दद्यात् ॥ २२ ॥

अपि वेति विकल्पे। अस्थन्वतां यावन्तो हताः सहस्रमूर्ध्वमर्वाग्वा तावतः संख्याय प्रत्येकं किंचित्किंचिद्दद्यात्। इदं चास्थिमत्सु प्रायश्चित्तं पूर्वकं वेति।

अष्टमुष्टि भवेत्किंचित्किंचिदष्टौ तु पुष्कलम्।
पुष्कलानि तु चत्वारि आढकः परिकीर्तितः॥
चतुराढको भवेद् द्रोण इति मानस्य लक्षणम्। इति स्मृतिः।

अनस्थिमतां तु तावन्तः प्राणायामाः। तथा च मनुः—

किंचिदेव तु विप्राय दद्यादस्थिमतां वधे।
अनस्थ्नां चैव हिंसायां प्राणायामेन शुध्यति ॥ इति ॥ २२ ॥

अथवा अस्थि वाले प्रत्येक क्षुद्र प्राणी की हत्या के प्रायश्चित्त के रूप में कुछ वस्तु का दान करे ॥ २२ ॥

षण्ढे पलालभारः सीसमाषश्च ॥ २३ ॥

यं प्रति देवलं आह—

षण्ढो यो हीनलिङ्गः स्यात्संस्काराऽर्हश्च नैव सः। इति।

तस्मिन्हते पुरुषवाह्यः पलालभारः सीसमाषश्चेत्युभयं मिलितं देयं बुद्धिपूर्वे। इतरत्र त्वेकैकम्। सीसं लोहविशेषो रजतसदृशः क्षणद्रुतिः। माषप्रमाणं पूर्वमेव व्याख्यातम्। अत्र च न क्वापि स्मृतौ जातिविशेषः श्रूयते, षण्ढः षण्ढक इत्येतावदेव श्रूयते। तत्र यथा जातिसमवायेऽपि

ब्राह्मणादिप्रयुक्तः संस्कारो न भवति तथा तद्वधनिमित्तं प्रायश्चित्तमपि न भवति यावदुक्तमेव तु भवति। अन्ये मृगपक्षिविषयं मन्यन्ते। मृगेषु पक्षिषु च ये षण्ढास्तेषु हतेष्विति ॥ २३ ॥

नपुंसक (लिङ्गविहीन) की हत्या करने पर एक पुरुष बोझ के बराबर पुआल और एक माष भर सीसे का दान करे ॥ २३ ॥

वराहे घृतघटः ॥ २४ ॥

वराहे हते घृतपूर्णो घटो देयः ॥ २४ ॥

एक सूअर की हत्या करने पर एक घड़े घी का दान करे ॥ २४ ॥

सर्पे लोहदण्डः ॥ २५ ॥

सर्पे हते लोहदण्डो देयः। लोहशब्देन कार्ष्णायसमुच्यते।

अभ्रीं कार्ष्णायसीं दद्यात्सर्पं हत्वा द्विजोत्तमः। इति मानवे दर्शनात्। सर्पं हत्वा माषं दद्यादित्यौशनसं बुद्धिपूर्वविषयम् ॥ २५ ॥

सर्प की हत्या करने पर लोहे की छड़ी दान करे ॥ २५ ॥

ब्रह्मबन्ध्वां चलनायां नीलः॥ २६ ॥

जातिमात्रब्राह्मणी ब्रह्मबन्धूः। चलना व्यभिचारिणी। तस्यां हतायां नीलो देयः। नीलो वृष इति। मनुस्तु वर्णानुपूर्व्यमाह—

नोलकार्मुकबस्तावोः पृथग्दद्याद्विशुद्धये।

चतुर्णामपि वर्णानां नारीर्हत्वाऽनवस्थिताः ॥ इति ॥ २६ ॥

किसी ऐसी व्यभिचारिणी स्त्री का वध करने पर जो नाममात्र के लिए ब्राह्मणी हो, नील वृष का दान करे ॥ २६ ॥

वैशिके न किंचित् ॥ २७ ॥

अभिगच्छति या नारी पुरुषैर्बहुभिर्मिथः।

व्यभिचारिणीति सा ज्ञेया प्रत्यक्षं गणिकेति च ॥

इति प्रजापतिः।

वैशिकेन वेश्याकर्मणा जीवन्त्यां ब्रह्मबन्ध्वां हतायां किंचिद्देयमष्टमुष्टि भवेत्किंचिदित्येतत् ॥ २७ ॥

वेश्या का वध करने पर कोई प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं होती ॥ २७ ॥

तल्पान्नधनलाभवधेषु पृथग्वर्षाणि ॥ २८ ॥

तल्पशब्देन शयनवाचिना भार्या लक्ष्यते। अन्नं कृतान्नम्। धनं

सुवर्णादि । एतेषां लाभस्य वधे विघ्न एषु लभ्यमानेषु दोषोपन्यासादिना यो हन्ति स पृथक्प्रतिनिमित्तं भेदेन संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं चरेत् । कन्यान्नधनविघ्ने प्राजापत्यमित्यौशनसम बुद्धिपूर्वविषयम् । ब्राह्मणलाभविषयमिदम् । क्षत्रियादिष्वधमर्धम् ॥ २८ ॥

किसी ब्राह्मण के पत्नी, अन्न या धन की प्राप्ति में विघ्न बनने पर एक वर्ष का सामान्य ब्रह्मचर्य प्रायश्चित्त होता है ॥ २८ ॥

द्वे परदारे ॥ २९ ॥

परदारगमने द्वे वर्षे प्राकृतं ब्रह्मचर्यम् । ऋतुकालगमने बुद्धिपूर्व इदम् । अकामिनः पुनरेतदेवार्धक्लृप्त्या योज्यम् ॥ २९ ॥

पर-स्त्री-गमन के लिए दो वर्ष ब्रह्मचर्य प्रायश्चित्त होता है ॥ २९ ॥

त्रीणि श्रोत्रियस्य ॥ ३० ॥

पूर्वोक्त एव विषये श्रोत्रियस्य ब्राह्मणस्य दारान्गच्छतस्त्रीणि वर्षाणि ब्रह्मचर्यम् । अत्राप्यकामतोऽर्धम् । अत्र शङ्खः—वैश्यायामवकीर्णः संवत्सरं ब्रह्मचर्यं त्रिषवणं चानुतिष्ठेत् । क्षत्रियायां द्वे वर्षे । त्रीणि ब्राह्मण्याम् । वैश्यावच्च शूद्रायां ब्राह्मणपरिणीतायाम् ॥ इति ।

संवर्तः—शूद्रां तु ब्राह्मणो गत्वा मासं मासार्धमेव वा ।
गोमूत्रयावकाहारस्तिष्ठेत्तत्पापमोक्षकः ॥ इति ।

कामतो मासमकामतोऽर्धमासमिति व्यवस्थितो विकल्पः । अनृतुकाले तु ब्राह्मण्यादिद्विजातिषु मानवानि त्रैमासिकद्वैमासिकचान्द्रायणानि क्षत्रियादीनां च क्षत्रियादिस्त्रीषु ब्राह्मणवत्प्रायश्चित्तम् । अत्रोशना—

गमने तु व्रतं यत्स्याद् गर्भे तद्द्विगुणं चरेत् ॥ इति ॥ ३० ॥

किसी श्रोत्रिय (वेदज्ञ ब्राह्मण) की पत्नी के संभोग का प्रायश्चित्त तीन वर्ष का ब्रह्मचर्य होता है ॥ ३० ॥

द्रव्यलाभे चोत्सर्गः ॥ ३१ ॥

यदि च परस्त्रीतो यत्किंचिद् द्रव्यं लब्धं तस्योत्सर्गस्त्यागः कार्यः ॥ ३१ ॥

पर-स्त्री से कोई द्रव्य पाने पर उसका त्याग कर दे ॥ ३१ ॥

यथास्थानं वा गमयेत् ॥ ३२ ॥

यत्र स्थाने लब्धं तदा गमयेत् ॥ ३२ ॥

अथवा यथास्थान (जहाँ से प्राप्त हुआ हो वहाँ) उसे लौटा दे ॥ ३२ ॥

प्रतिषिद्धमन्त्रयोगे सहस्रवाकश्चेत् ॥ ३३ ॥

मन्त्रयोगे ये प्रतिषिद्धाः पतितादयस्तैः सह मन्त्रयोगेऽध्ययनाध्यापनयाज्ययाजनलक्षणे संवत्सरं प्राकृतं ब्रह्मचर्यं स चेन्मन्त्रयोगः सहस्रवाको भवति । वक्तीति वाकः पदम् । सहस्रपदश्चेत् । अबुद्धिपूर्व इदम् । बुद्धिपूर्वे तु पतितत्वं स्यादिति । उपपातके तु वासिष्ठम्—पतितचण्डालशवसूतकश्रवणे तु त्रिरात्रं वाग्यता आसीरन्सहस्रावरं वा तदभ्यस्यन्तः पूता भवन्तीति विज्ञायते । एतेनैव गर्हिताध्यापकयाजका व्याख्याताः । दक्षिणात्यागाच्च पूता भवन्तीति विज्ञायत इति । अन्ये तु सहाध्ययनं सहयजनं च मन्त्रयोगं व्याचक्षते ॥ ३३ ॥

यदि किसी ऐसे लोगों के लिए वैदिक मन्त्रों का प्रयोग करे, जिनके लिये उनका प्रयोग वर्जित हो तो और उस प्रयुक्त मन्त्रों में एक सहस्र शब्द हो तो एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य करने से पापमुक्ति होती है ॥ ३३ ॥

अग्न्युत्सादिनिराकृत्युपपातकेषु चैवम् ॥ ३४ ॥

अग्निमुत्सादयितुं शीलमस्येति बुद्धिपूर्वमग्न्युत्सादी । निराकृतिः शक्तौ सत्यामनध्येता । उपपातकानि, अपङ्क्त्यानां प्राग्दुर्वालाद् गोहन्तृब्रह्महत्यादीनि व्याख्यातानि । एष्वग्न्युसा (त्सा) द्यादिष्वेवं संवत्सरं ब्रह्मचर्यमिति । यो नास्तिक्याद्देशोपप्लवादिना वाऽग्नीनपविध्यति पुनस्तच्छान्तावपि बहुकालं नाऽऽधत्ते तद्विषयमिदम् । तत्रैवाल्पकाले वासिष्ठम्—योऽग्नीनपविध्यात्कृच्छ्रं द्वादशरात्रं चरित्वा पुनरादधीत । आलस्येन त्यजतो मानवम्—

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन्ब्राह्मणः कामकारतः ।
चान्द्रायणं चरेन्मासं वीरहत्यासमं हि तत् ॥ इति ॥

मासमपविध्येत्यन्वयः ।

अग्निहोत्र्यपविध्याग्नीन्मासादूर्ध्वं तु कामतः ।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव कुर्यादत्राविचारयन् ॥ इति ।

मासादर्वागपि चान्द्रायणमिच्छन्ति । स्मार्ते त्वग्नौ—

योऽग्निं त्यजति नास्तिक्यात्प्राजापत्यं चरेद् द्विजः ।
अन्यत्र पुनराधानं दानमेव तथैव च ॥ इति ।

मानवं तु—षष्ठान्नकालता मासं संहिताजप एव च ।
होमश्च शाकलैर्नित्यमपङ्क्त्यानां विशोधनम् ॥ इति ॥ ३४ ॥

पवित्र अग्नि को बुझाने वाले, वेद का स्वाध्याय त्यागने वाले, अथवा उपपातक के दोषी भी उपर्युक्त प्रायश्चित्त करे ॥ ३४ ॥

स्त्री याऽतिचारिणी गुप्ता पिण्डं तु लभेत ॥ ३५ ॥

या स्त्री भर्तारमतिचरति व्यभिचरति पुरुषान्तरेण संगच्छते सा चैतदेव प्रायश्चित्तं कुर्यात्संवत्सरं ब्रह्मचर्यम्। सा च यावत्समाप्यते प्रायश्चित्तं तावद् गुप्ता सती पिण्डमात्रं लभते। बुद्धिपूर्वं सकृद्गमन इदम्। अन्यत्र—

यत्पुंसः परदारेषु तच्चैतां चारयेद् व्रतम्। इत्येतत्।

सजातीयविषये चेदम्। ब्राह्मण्याः क्षत्रियविषये वासिष्ठम्—व्यवाये संवत्सरं घृतपटं धारयेद् गोमयकर्दमे कुशप्रस्तरे वा भुञ्जानाऽधः शयीतोर्ध्वं संवत्सरादप्सु निमग्नायाः साविव्यष्टसहस्रेण शिरोभिर्जुहुयादिति। वैश्यविषये त्वौशनसम्—व्यभिचारिणो कृच्छ्राब्दं चरेदिति। अत्र बृहत्प्रचेताः—

विप्रा शूद्रेण संपृक्ता न चैतस्मात्प्रसूयते।
प्रायश्चित्तं स्मृतं तस्याः कृच्छ्रं चान्द्रायणत्रयम्॥
चान्द्रायणे द्वे कृच्छ्रं च विप्राया वैश्यसंगमे।
कृच्छ्रचान्द्रायणे स्यातां तस्याः क्षत्त्रियसंगमे॥
क्षत्त्रिया शूद्रसंपर्के कृच्छ्रे चान्द्रायणद्वयम्।
चान्द्रायणं सकृच्छ्रं च चरेद्वैश्येन संगता॥
शूद्रं गत्वा चरेद्वैश्या कृच्छ्रं चान्द्रायणोत्तरम्।
आनुलोम्येन कुर्वीत कृच्छ्रं पादावरोपितम्॥ इति।

प्रजाताया ब्राह्मण्याश्चतुर्विंशतिमते विशेषः—

विप्रगर्भे पराकः स्यात्क्षत्त्रियस्य तथैन्दवम्।
ऐन्दवं च पराकश्च वैश्यस्याकामकारतः॥
शूद्रगर्भे भवेत्त्यागश्चण्डालो जायते यतः।
गर्भस्रावे धातुदोषैश्चरेच्चान्द्रायणत्रयम्॥ इति।

कामकारे पुनः पराकादिकं द्विगुणं कुर्यात्। वसिष्ठस्तु—

ब्राह्मणक्षत्त्रियविशां भार्याः शूद्रेण संगताः।
अप्रजाता विशुध्यन्ति प्रायश्चित्तेन नेतराः॥

आहितपतिगर्भायास्तु पश्चाच्छूद्रादिसंगमे—

अन्तर्वत्नी तु या नारी समेताऽऽक्रम्य कामिना।
प्रायश्चित्तं न सा कुर्याद्यावद्गर्भो न निःसृतः॥
जाते गर्भे व्रतं पश्चात्कुर्यान्मासं तु यावकम्।
न गर्भदोषस्तत्रास्ति संस्कार्यः स यथाविधि॥

इति स्मृत्यन्तरोक्तं द्रष्टव्यम् । या तु दौःशील्यात्प्रायश्चित्तं न करोति तदा—

प्रातिलोम्ये वधः पुंसां स्त्रीणां नासादिकर्तनम् । इत्येतद्भवति । हीनवर्णोपभुक्ता या साम्या(साऽङ्क्या) वध्याऽथवा भवेत् । इति पराशरः । अंकनं पुल्लिङ्गेन ॥ ३५ ॥

इसी प्रकार पति को छोड़कर अन्य पुरुष के साथ व्यभिचार करने वाली स्त्री भी एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण कर प्रायश्चित्त करे ॥ ३५ ॥

अमानुषीषु गोवर्जं स्त्रीकृते कूष्माण्डैर्घृतहोमो घृतहोमः ॥ ३६ ॥

गोवर्जितास्वमानुषीषु महिषादिस्त्रीषु स्त्रीकृते मैथुन आचरिते कूष्माण्डैर्घृतहोमः कर्तव्यः । गोवर्जमिति वचनं विस्पष्टार्थम् । वक्ष्यति गवि च गुरुतल्पसम इति । ततश्च तदेव गोगमने भविष्यति । सकृद्गमन इदम् । अभ्यासे शङ्खोक्तम्—पशुवेश्याभिगमने प्राजापत्यम् । इति । अत्र कण्ठः(ण्वः)—

प्रसूतो यस्तु वेश्यायां भैक्षभुक्संयतेन्द्रियः ।
शतसाहस्रमभ्यस्य सावित्रीमेति शुद्धताम् ॥ इति ।

द्विरुक्तिरुक्ता ॥ ३६ ॥

गाय के अतिरिक्त अन्य (भैंस आदि) मादा पशु के साथ मैथुन करने पर कूष्माण्ड मन्त्रों के साथ घृत-होम करने पर शुद्धि होती है ॥ ३६ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
तृतीयप्रश्ने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

अथ तृतीयप्रश्ने पञ्चमोऽध्यायः

क्रमप्राप्तं सुरापानप्रायश्चित्तमाह—

सुरापस्य ब्राह्मणस्योष्णामासिञ्चेयुः सुरामास्ये मृतः शुध्येत् ॥ १ ॥

त्रिविधा सुरा । यथाऽऽह मनुः—

गौडी माध्वी च पैष्टी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा ।
यथैवैका न पातव्या तथा सर्वा द्विजोत्तमैः ॥ इति ।

द्विजोत्तमा ब्राह्मणाः । क्षत्रियवैश्ययोस्तु पैष्ट्येव । यथा स एवाऽऽह—

सुरा वै मलमन्नानां पाप्मा च मलमुच्यते ।
तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत् ॥ इति ।

अन्नानां मलं सुरा पैष्टी । अत्र ब्राह्मणग्रहणं द्विजात्युपलक्षणम् । यस्य या प्रतिषिद्धा सुरा तस्याः पाता सुरापः । तस्य द्विजातेरास्ये तामेव सुरामुष्णामासिञ्चेयुः । उपदेष्टृष्वयमासेचनारोपः । आसिञ्चन्त्येव हि ते सुरामास्ये । येन सुरापेण सुरोष्णा पातव्या तस्येयं निष्कृतिरित्युपदिशन्तीति । स्वयमेव त्वासेचनकर्ता । तथा चाऽऽपस्तम्बः—सुरापोऽग्निस्पर्शां सुरां पिबेदिति । आसिञ्चेयुरिति बहुवचनमुपदेष्टॄणां बहुत्वं सूचयति । मनुरप्याह—

तेषां वेदविदो ब्रूयुस्त्रयोऽप्येनःसु निष्कृतिम् ।
सा तेषां पावना यस्मात्पवित्रं विदुषां हि वाक् ॥ इति ।

मृतः शुध्येदितिवचनात्तथा सुरा तापयितव्या यथा पातुर्मरणं भवति । आर्द्रवासाः पिबेदिति पैठीनसिः । आयसेन ताम्रेण वा पात्रेणेति प्रचेताः ।

अत्र याज्ञवल्क्यः—सुराम्बुघृतगोमूत्रपयसामग्निसंनिभम् ।
सुरापोऽन्यतमं पीत्वा मरणाच्छुद्धिमृच्छति ॥
बालवासा जटी वाऽपि ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ।
पिण्याकं वा कणान्वाऽपि भक्षयेत्तु समां निशि ॥ इति ।

तत्र मरणान्तिकप्रायश्चित्तं बुद्धिपूर्वाभ्यासविषयम् । अत्रैव सकृत्पानविषयं ब्रह्महत्याव्रतं द्वादशवार्षिकम् । अत्र स्त्रियोऽधिकृत्य शङ्खः—सुरालशुनपलाण्डुगृञ्जनमांसादीन्यभक्ष्याणि वर्जयेदाहारमयं शरीरमिति-

वसिष्ठोऽपि—पतत्यर्धं शरीरस्य भार्या यस्य सुरां पिबेत् ।
पतितार्धं शरीरस्य निष्कृतिर्न विधीयते ॥ इति ।

अत्र स्त्रीणामपि प्रतिषिद्धा सुरा । प्रायश्चित्तं च भवति । तत्र स्त्रीणामर्धप्रायश्चित्तमित्युक्तं पुरस्तात् । तत्र मरणान्तिकेऽर्धक्लृप्तेरशक्यत्वाद् बुद्धिपूर्वसकृत्पाने द्वादशवार्षिकस्यार्धम् । अभ्यासे तस्यैवाभ्यासः ॥ १ ॥

सुरापान करने वाले ब्राह्मण के मुख में तपती हुई सुरा डाले; इस प्रकार उसकी मृत्यु होने पर सुरापान का प्रायश्चित्त होता है ॥ १ ॥

अमत्या पाने पयो घृतमुदकं वायुं प्रतित्र्यहं तप्तानि स कृच्छ्रस्ततोऽस्य संस्कारः ॥ २ ॥

यस्त्वमत्याऽबुद्धिपूर्वं यवाग्वादिबुद्ध्या सुरां पिबति स पय आदीनि चत्वारि द्रव्याणि तप्तान्युष्णानि । द्वितीयाया निर्देशात्पिबेदिति गम्यते । प्रतित्र्यहं प्रथमे त्र्यहे पयो द्वितीये घृतं तृतीय उदकं चतुर्थे वायुम् । वायोरुष्णत्वं सातपे प्रदेशे । स कृच्छ्रः स एवंभूतस्तप्तकृच्छ्रोऽस्य प्रायश्चित्तम् । ततः कृच्छ्रानन्तरं पुनः संस्कारः पुनरुपनयनमस्य कर्तव्यम् । तत्र मानवो विशेषः—

वपनं मेखला दण्डो भैक्षचर्या व्रतानि च ।
एतानि तु निवर्तन्ते पुनः संस्कारकर्मणि ॥ इति ।

इदमीषदभ्यासविषयम् ।

अज्ञानाद्वारुणीं पीत्वा संस्कारेणैव शुध्यति ॥

इति मानवं सकृत्पानविषयम् । यत्तु—

पिण्याकं वा कणान्वाऽपि भक्षयेत्तु समां निशि ॥

इति याज्ञवल्क्यवचनम् । यच्चाऽऽपस्तम्बीयम्—'स्तेयं कृत्वा सुरां पीत्वा, इत्यादि तदुभयमपि बहुकृत्वोऽभ्यास एव ।

कणान्वा भक्षयेदब्दं पिण्याकं वा सकृन्निशि ।
सुरापानापनुत्त्यर्थं वालवासा जटी ध्वजी ॥

इत्यादीनि मानवादीन्यबुद्धिपूर्वविषय एवाभ्यासतारतम्यापेक्षया व्यवस्थाप्यानि ॥ २ ॥

यदि अज्ञानवश सुरापान किये हो तो तीन दिनों तक क्रमशः उष्ण दूध, घृत और जल पीकर रहने एवं उष्ण वायु सेवन से शुद्धि होती है । इस प्रायश्चित्त को तप्तकृच्छ्र कहते हैं । उसके उपरान्त उसका पुनः (उपनयन) संस्कार होता है ॥ २ ॥

मूत्रपुरीषरेतसां च प्राशने ॥ ३ ॥

मूत्रादीनां च प्राशने तप्तकृच्छ्रसहितः पुनःसंस्कारः प्रायश्चित्तम्। इदं बुद्धिपूर्वविषयम्।

भुक्त्वाऽतोऽन्यतमस्यान्नममत्या क्षपणं त्र्यहम्।
मत्या भुक्त्वा चरेत्कृच्छ्रं रेतो विण्मूत्रमेव च ॥ इति।
अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरासंसृष्टमेव च।
पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ इति च।

कण्वश्च स्पष्टमाह—

रेतोमूत्रपुरीषाणां प्राशने मतिपूर्वके।
नाश्नीयाच्च त्र्यहं मत्या तप्तकृच्छ्रं चरेद् द्विजः ॥इति॥३॥

मूत्र, मल और वीर्य निगल जाने पर भी उपर्युक्त प्रायश्चित्त विहित है ॥ ३ ॥

श्वापदोष्ट्रखराणां चाङ्गस्य ॥ ४ ॥

व्याघ्रादयो वनचराः श्वापदाः। उष्ट्रखरौ प्रसिद्धौ। तेषामङ्गं मांसचर्मादि। तस्य प्राशने तप्तकृच्छ्रः पुनःसंस्कारश्च। बुद्धिपूर्वाभ्यास उभयं मिलितम्। सकृद्बुद्धिपूर्वे चाबुद्धिपूर्वाभ्यासे च तप्तकृच्छ्रः। सकृदमतिपूर्वे संस्कार एव भवति ॥ ४ ॥

व्याघ्र आदि मांसभक्षी पशु, ऊँट और गदहे का मांस खा लेने पर भी उपर्युक्त प्रायश्चित्त होता है ॥ ४ ॥

ग्राम्यकुक्कुटसूकरयोश्च ॥ ५ ॥

ग्राम्यकुक्कुटसूकरयोश्चाङ्गस्य प्राशन एतदेव प्रायश्चित्तम्। विषयव्यवस्था च पूर्ववत् ॥ ५ ॥

पालतू मुर्गे और सूअर के मांसभक्षण का भी यही प्रायश्चित्त है ॥ ५ ॥

गन्धाघ्राणे सुरापस्य प्राणायामा घृतप्राशनं च ॥ ६ ॥

यस्तु सुरापस्तस्य तं सुरागन्धमाजिघ्रति न पुनः शरीरगन्धं नापि भाण्डस्थायाः सुराया गन्धं तस्य प्राणायामास्त्रयो घृतप्राशनं च प्रायश्चित्तम्। ब्राह्मणस्य मिलितम्, क्षत्रियस्य प्राणायामाः। वैश्यस्य घृतप्राशनमिति। सोमपस्य विशेषो मनुना दर्शितः—

ब्राह्मणस्य सुरापस्य गन्धमाघ्राय सोमपः।
प्राणानप्सु त्रिराचम्य घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ इति।

ब्राह्मणस्य रुजाकृत्यं घ्रातिरघ्रेयमद्ययोः ।
जैह्म्यं पुंसि च मैथुन्यं जातिसंकरकं स्मृतम् ॥ इति ।
जातिभ्रंशकरं कर्म कृत्वाऽन्यतममिच्छया ।
चरेत्सांतपनं कृच्छ्रं प्रजापत्यमनिच्छया ॥

इति [च] मानवं भाण्डस्थायाः सुराया गन्धाघ्राणे ॥ ६ ॥

सुरापान करने वाले की गन्ध सूँघने पर तीन बार प्राणायाम करने एवं घृत पीने पर शुद्धि होती है ॥ ६ ॥

पूर्वैश्च दष्टस्य ॥ ७ ॥

पूर्वैः श्वापदादिभिर्दष्टस्य च प्राणायामा घृतप्राशनं च प्रायश्चित्तम् ।

मनुस्तु—श्वसृगालखरैर्दष्टो ग्राम्यैः क्रव्याद्भिरेव च ।
नराश्वोष्ट्रवराहैश्च प्राणायामेन शुध्यति ॥ इति ।

ब्राह्मणविषये वसिष्ठो विशेषः—
ब्राह्मणस्तु शुना दष्टो नदीं गत्वा समुद्रगाम् ।
प्राणायामशतं कृत्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति ॥ इति ।

जातूकर्ण्यः—ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शुना च श्वापदैरपि ।
दष्टा सचैलमाप्लुत्य शुध्यतीति न संशयः ॥ इति ॥ ७ ॥

ऊपर वर्णित मांसभक्षी पशु आदि द्वारा काट लिये जाने पर भी तीन प्राणायाम और घृत-प्राशन से शुद्धि होती है ॥ ७ ॥

तप्ते लोहशयने गुरुतल्पगः शयीत ॥ ८ ॥

गुरुरत्र पिता ।
निषेकादीनि कर्माणि यः करोति यथाविधि ।
संभावयति चान्येन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥ इति मनुः ॥

विप्रग्रहणं वर्णोपलक्षणम् । तल्पशब्देन शयनवाचिना भार्या लक्ष्यते । तत्रापि जननी तत्सपत्नी च । तद्गामी गुरुतल्पगः । लोहशयने कृष्णायसनिर्मिते तप्ते यथा मरणमेव भवति तथा तप्ते शयीत ॥ ८ ॥

गुरु-पत्नी गमन करने वाला जलती हुई लोहे की चारपाई पर शयन करे ॥ ८ ॥

सूर्मीं वा श्लिष्येज्ज्वलन्तीम् ॥ ९ ॥

लोहमयी स्त्रीप्रकृतिः सूर्मी । तां ज्वलन्तीमग्निवर्णां तप्तां श्लिष्येदाप्राणवियोगात् ॥ ९ ॥

अथवा तपा कर लाल की गई लोहे की स्त्री-प्रतिमा का आलिङ्गन करे ॥ ९ ॥

लिङ्गं वा सवृषणमुत्कृत्याञ्जलावाधाय दक्षिणाप्रतीचीं व्रजेदजिह्ममाशरीरनिपातात् ॥ १० ॥

सबीजं लिङ्गमुत्पाट्य क्षुरादिना निकृत्य स्वस्याञ्जलौ स्थापयित्वा नैर्ऋतीं दिशमाशरीरनिपाताद् व्रजेदजिह्मम्। कूपाद्यपरिहरन्यत्रैव प्रतिहतस्तत्रैव तिष्ठेदाप्रलयादिति वसिष्ठः ॥ १० ॥

अथवा वह अपनी अण्डकोष-सहित जननेन्द्रिय काटकर अञ्जलि में रख कर दक्षिण-पश्चिम दिशा को सीधा उस समय तक चलता रहे जब तक गिरकर मर न जाय ॥ १० ॥

मृतः शुध्येत् ॥ ११ ॥

सर्वशेषोऽयम्। पूर्वोक्तेषु प्रकारेष्वन्यतमेन मृत एव गुरुतल्पगः शुध्येन्नान्यथेति। त्रितयमप्येतज्जननीगमने स्वभार्यादिबुद्ध्याऽबुद्धिपूर्वं तत्सपत्न्यां च। सवर्णायां बुद्धिपूर्वगमने—

पितृभार्यां तु विज्ञाय सवर्णां योऽभिगच्छति।
जननीं वाऽप्यविज्ञाय नामृतः स विशुध्यति ॥

इति षट्त्रिंशन्मते दर्शनात्। जनन्यां कामकृते वासिष्ठम्—

निष्काल (मु) को घृताभ्यक्तो गोमयाग्निना पादप्रभृत्यात्मानमवदाहयेत्। इति। अकामतोऽभ्यासेऽप्येवमेव। अकामतस्तु मातुः सपत्न्याः सवर्णाया उत्कृष्टायाश्च गमनाभ्यासे शङ्खोक्तम्—

अधःशायी जटाधारो पर्णमूलफलाशनः।
एककालं समश्नन्वै वर्षे तु द्वादशे गते ॥
रुक्मस्तेयी सुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
व्रतेनैतेन शुध्यन्ति महापातकिनस्त्विमे ॥ इति।

सकृद्गमन उभयोरिच्छातः प्रवृत्तौ मानवम्—

खट्वाङ्गी चीरवासा वा श्मश्रुलो विजने वने।
प्राजापत्यं चरेत्कृच्छ्रमब्दमेकं समाहितः ॥ इति।

तया प्रोत्साहितस्य स्वेन वा प्रोत्साहितायामौशनसं प्रायश्चित्तद्वयं क्रमेण द्रष्टव्यम्—गुरुतल्पगामी संवत्सरं ब्रह्मचारिव्रतं षण्मासांस्तप्तकृच्छ्रं चेति। एवमुत्तरेष्वपि प्रायश्चित्तेषु यद्गुरु तदात्मना प्रोत्साहितायां यल्लघु तत्तया प्रोत्साहितस्य मध्यमं तूभयोरिच्छातः प्रवृत्ताविति द्रष्टव्यम्। तत्र व्याघ्रः—

कृच्छ्रं चैवातिकृच्छ्रं च तथा कृच्छ्रातिकृच्छ्रकम् ।
चरेन्मासत्रयं विप्रः क्षत्रियागमने गुरोः ॥ इति ।

इदं सकृद्गमने बुद्धिपूर्वे । बुद्धिपूर्वाभ्यास एकवर्षम्—

मत्या गत्वा पुनर्भार्यां गुरोः क्षत्त्रसुतां द्विजः ।
वृषणवर्जितं लिङ्गमुत्कृत्य स मृतः शुचिः ॥ इति ।

कण्वः—चान्द्रायणं तप्तकृच्छ्रमतिकृच्छ्रं तथैव च ।
सकृद् गत्वा गुरोर्भार्यामज्ञानात्क्षत्रियां द्विजः ॥ इति ।

जातूकर्ण्यः-गुरोः क्षत्त्रसुतां भार्यां पुनर्गत्वा त्वकामतः ।
वृषणमात्रमुत्कृत्य शुद्धो जीवन्मृतोऽपि वा ॥ इति ।

कण्वः—तप्तकृच्छ्रं पराकं च तथा सांतपनं गुरोः ।
भार्यां वैश्यां सकृद्गत्वा बुद्ध्या मासं चरेद् द्विजः ॥ इति ।

लौगाक्षिः—गुरोर्वैश्यां पुनर्गत्वा(सकृद्गत्वा) गत्वा वाऽपि पुनः पुनः ।
लिङ्गाग्रं छेदयित्वा तु ततः शुध्येत्स किल्बिषात् ॥ इति ।

प्रजापतिः—पञ्चरात्रं तु नाश्नीयात्सप्ताष्टौ वा तथैव च ।
वैश्यां भार्यां गुरोर्गत्वा सकृदज्ञानतो द्विजः ॥ इति ।

हारीतः—अभ्यस्य विप्रो वैश्यायां गुरोरज्ञानमोहितः ।
सषडङ्गं ब्रह्मचर्यं स चरेद्यावदायुषम् ॥ इति ।

जाबालिः—अतिकृच्छ्रं तप्तकृच्छ्रं पराकं च तथैव च ।
गुरोः शूद्रां सकृद् गत्वा बुद्ध्या विप्रश्चरेत्ततः ॥ इति ।

उपमन्युः—पुनः शूद्रां गुरोर्गत्वा बुद्ध्या विप्रः समाहितः ।
ब्रह्मचर्यमदुष्टात्मा द्वादशाब्दं समाचरेत् ॥ इति ।

दीर्घतपाः—प्राजापत्यं सांतपनं सप्तरात्रोपवासनम् ।
गुरोः शूद्रां सकृद् गत्वा चरेदज्ञानतो जनः ॥ इति ।

तत्रैवाभ्यासे मानवं द्रष्टव्यम्—

चान्द्रायणं वा त्रीन्मासानभ्यस्येन्नियतेन्द्रियः ।
हविष्येण यवाग्वा वा गुरुतल्पापनुत्तये ॥ इति ।

अत्र व्याघ्रः—जात्युक्तं पारदार्यं च गरुतल्पत्वमेव च ।
साधारणस्त्रिया नास्ति कन्यादूषणमेव च ॥ इति ॥११॥

मृत्यु के बाद वह पाप से मुक्त हो जाता है ॥ ११ ॥

सखीसयोनिसगोत्राशिष्यभार्यासु स्नुषायां गवि च गुरुतल्पसमः ॥ १२ ॥

सखी मित्रभूता । सयोनिर्भगिनी । सगोत्रैकगोत्रा । स्नुषा पुत्रभार्या ।

एतासु शिष्यभार्यायां गवि च मिथुनीभावे यावान्गुरुतल्पदोषस्तावानस्येति ।

याज्ञवल्क्यः—सखिभार्याकुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च ।
सगोत्रासु सुतस्त्रीषु गुरुतल्पसमं स्मृतम् ॥
पितुः स्वसारं मातुश्च मातुलानीं स्नुषामपि ।
मातुः सपत्नीं भगिनीमाचार्यतनयां तथा ॥
आचार्यपत्नीं स्वसुतां गच्छंस्तु गुरुतल्पगः ।
लिङ्गं छित्त्वा वधस्तस्य सकामायाः स्त्रिया अपि ॥ इति ।

नारदः—माता मातृष्वसा श्वश्रूर्मातुलानी पितृष्वसा ।
पितृव्यसखिशिष्यस्त्री भगिनी तत्सखी स्नुषा ॥
दुहिताऽऽचार्यभार्या च सगोत्रा शरणागता ।
राज्ञी प्रव्रजिता धात्री साध्वी वर्णोत्तमा च या ॥
आसामन्यतमां गच्छन्गुरुतल्पग उच्यते ।
शिश्नस्योत्कर्तनात्तत्र नान्यो दण्डो विधीयते ॥ इति ।

कात्यायनः—जनन्याश्च भगिन्याश्च स्वसुतायास्तथैव च ।
स्नुषाया गमनं चैव विज्ञेयमतिपातकम् ॥
अतिपातकिनस्त्वेते प्रविशेयुर्हुताशनम् ।

बृहद्यमः—रेतः सिक्त्वा कुमारीषु स्वयोनिष्वन्त्यजासु च ।
सपिण्डास्वन्यदारेषु प्राणत्यागो विधीयते ॥ इति ।

स एव—चाण्डालीं पुल्कसीं म्लेच्छीं स्नुषां च भगिनीं सखीम् ।
मातापित्रोः स्वसारं च निक्षिप्तां शरणागताम् ॥
मातुलानीं प्रव्रजितां सगोत्रां नृपयोषितम् ।
शिष्यभार्यां गुरोर्भार्यां गत्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

इति च ॥ १२ ॥

मित्र की पत्नी (अथवा मित्रभूता स्त्री), बहन, अपने कुल की किसी स्त्री, शिष्य की पत्नी, पतोहू अथवा गाय के साथ मैथुन कर्म का पाप गुरुपत्नीगमन के पाप के समान ही होता है ॥ १२ ॥

अवकर इत्येके ॥ १३ ॥

एके मन्यन्ते सख्यादिगमनेऽवकरो दोषः । अत्र प्रायश्चित्तमप्यवकीर्णिव्रतं न गुरुतल्पव्रतमिति । यान्येतानि सख्यादिगमनेऽनुक्रान्तानि प्रायश्चित्तानि तेषु मरणान्तिकानि सप्रत्ययानुबन्धात्यन्ताभ्यासविषयाणि ।

यानि पुनरत्यन्तलघूनि तानि स्वभार्याबुद्ध्या प्रवृत्तस्य मध्ये ज्ञात्वा रेतः-सेकादर्वाङ्निवृत्तविषयाणि । मध्ये मध्यानि कल्प्यानि । 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्ववस्थितम्' इति मानवं तु मरणान्तिकयोग्यमहापातकादिव्यतिरिक्तविषयम् ॥ १३ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि इस प्रकार के दुष्कर्म का पाप ब्रह्मचर्य व्रत खण्डन के पाप के तुल्य होता है ॥ १३ ॥

अत्र प्रायश्चित्तमकुर्वतीनां स्त्रीणां दण्डमाह—

श्वभिरादयेद्राजा निहीनवर्णगमने स्त्रियं प्रकाशम् ॥ १४ ॥

निहीनवर्णेन सह या मैथुनमाचरति तां प्रकाशं सर्वेषामेव पश्यतां पर्षत्स्थानगतो राजा श्वभिरादयेत्खादयेत् । अत्र मनुः—

भर्तारं लङ्घयेद्या तु जातिस्त्री गुणगर्विता ।
तां श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुभिः स्थितः ॥ इति ।

वसिष्ठस्तु जातिविशेषेण विशेषमाह—शूद्रश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेत्तृणैर्वेष्टयित्वा शूद्रमग्नौ प्रास्य ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते । वैश्यश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेल्लोहितदर्भैर्वेष्टयित्वा वैश्यमग्नौ प्रास्येत् । ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते । राजन्यश्चेद् ब्राह्मणीमभिगच्छेच्छरपत्रैर्वेष्टयित्वा राजन्यमग्नौ प्रास्येत् । ब्राह्मण्याः शिरसि वपनं कारयित्वा सर्पिषाऽभ्यज्य नग्नां खरमारोप्य महापथमनुसंव्राजयेत्पूता भवतीति विज्ञायते । एवं वैश्यो राजन्यायां शूद्रश्च राजन्यावैश्ययोरिति । अनुलोमेषु प्रतिलोमं गच्छत्सु व्याघ्र आह—

वर्णानामनुलोमानां परस्परसमागमे ।
व्युत्क्रमेण ततो राजा खादयेद्वानरैः स्त्रियम् ॥
शृगालैर्बुद्धिपूर्वं चेत्पुरुषो वधमर्हति ।
अयमेवानुलोमानां स्वजातिव्युत्क्रमेष्विति ॥ इति ॥ १४ ॥

अपने से निम्नवर्ण के पुरुष से संभोग कराने वाली स्त्री को राजा सार्वजनिक स्थान पर कुत्तों से खिलवाये ॥ १४ ॥

पुमांसं घातयेत् ॥ १५ ॥

अनन्तरोक्ते विषये गन्ता पुमान्राज्ञा घातयितव्यः । वधप्रकारश्चानन्तरमेव वसिष्ठवचनेन दर्शितः ॥ १५ ॥

उसके साथ मैथुन करने वाले का भी वध करावे ॥ १५ ॥

यथोक्तं वा ॥ १६ ॥

लिङ्गोद्धार इत्यादि यथोक्तं वा दण्डप्रणयनं कर्तव्यम्। सप्रत्ययाप्रत्ययाभ्यासानभ्यासापेक्षोऽयं विकल्पः ॥ १६ ॥

अथवा उसे यथोचित विधि से दण्डित करे ॥ १६ ॥

गर्दभेनावकीर्णी निर्ऋतिं चतुष्पथे यजेत् ॥ १७ ॥

अवकीर्णी भवेद्गत्वा ब्रह्मचारी तु योषितम्। इति याज्ञवल्क्यः। स चतुष्पथे गर्दभेन पशुना निर्ऋतिं यजेत्। अत्र मानवो विशेषः—

अवकीर्णी तु काणेन गर्दभेन चतुष्पथे।
पाकयज्ञविधानेन यजेत निर्ऋतिं निशि ॥ इति।

वसिष्ठस्तु—ब्रह्मचारी चेत्स्त्रियमुपेयादरण्ये चतुष्पथे लौकिकेऽग्नौ रक्षोदैवतं गर्दभं पशुमालभेत, नैर्ऋतं वा चरुं निर्वपेत्तस्य जुहुयात्कामाय स्वाहा, कामकामाय स्वाहा, निर्ऋत्यै स्वाहा, रक्षोदेवताभ्यः स्वाहा। इति ॥ १७ ॥

अवकीर्णी (ब्रह्मचर्य व्रत खण्डित करने वाला) चौराहे पर निर्ऋति के लिए गदहे की बलि प्रदान करे ॥ १७ ॥

तस्याजिनमूर्ध्ववालं परिधाय लोहितपात्रः सप्तगृहान्भैक्षं चरेत्कर्माऽऽचक्षाणः ॥ १८ ॥

एवं गर्दभेनेष्ट्वा तस्यैव गर्दभस्याजिनमूर्ध्ववालं परिधाय लोहितपात्रः पाकेन लोहितं मृन्मयं पात्रं हस्ते गृहीत्वा कर्माऽऽचक्षाणोऽवकीर्णिने भिक्षां देहीति ब्रुवाणः सप्त गृहान्भैक्षं चरेत्। सप्तसु गृहेषु यावल्लब्धं तावदेवाशनम्। अलाभ उपवासः ॥ १८ ॥

उस गदहे के चमड़े को इस प्रकार धारण करे कि उसके बाल ऊपर रहे और लाल रंग की मिट्टी का पात्र हाथ में लेकर अपने कर्म को बताता हुआ सात घरों से भिक्षा माँगे ॥ १८ ॥

संवत्सरेण शुध्येत् ॥ १९ ॥

संवत्सरमेतद् व्रतं चरेच्छुद्धो भवति। अत्र मनुः—

तेभ्यो लब्धेन भैक्षेण वर्तयन्नैककालिकम्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमब्देनैकेन शुध्यति ॥ इति।

इदं च वार्षिकं श्रोत्रियस्य विप्रस्य वैश्यपत्न्यां द्रष्टव्यम्। आहतुः

शङ्खलिखितौ—गुप्तायां वैश्यायामवकीर्णः संवत्सरं त्रिषवणमनुतिष्ठेत्क्षत्त्रियायां द्वे वर्षे ब्राह्मण्यां त्रीणि वर्षाणीति । गुप्तायां चेच्छ्रोत्रियपत्नीत्वादिगुणशालिन्याम् । अङ्गिराः—

अवकीर्णिनिमित्तं तु ब्रह्महत्याव्रतं चरेत् ।
चीरवासास्तु षण्मासांस्तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ इति ।

तदकामतो गौतमीयैक (यं काम) विषयम् । पुनः शङ्खलिखितौ—स्वैरिण्यां वृषल्यामवकीर्णः सचैलं स्नात उदकुम्भं दद्याद् ब्राह्मणाय । वैश्यायां चतुर्थकालाहारो ब्राह्मणान्भोजयेद्यवसभारं च गोभ्यो दद्यात् । क्षत्त्रियायां त्रिरात्रमुपोषितो घृतपात्रं दद्यात् । ब्राह्मण्यां षड्रात्रमुपोषितो गां दद्यात् । गोष्ववकीर्णः प्राजापत्यं चरेत् । षण्ढायामवकीर्णः पलालभारं सीसमाषकं च दद्यादिति । इदं चावकीर्णप्रायश्चित्तं सर्वेषामेव त्रैवर्णिकब्रह्मचारिणां समानम् । तथा च शाण्डिल्यः—

अवकीर्णी द्विजो राजा वैश्यश्चापि खरेण तु ।
इष्ट्वा भैक्षाशनो नित्यं शुध्यत्यब्दात्समाहितः ॥ इति ॥ १९ ॥

इस प्रकार वह एक वर्ष में शुद्ध होता है ॥ १९ ॥

रेतःस्कन्दने भये रोगे स्वप्नेऽग्नीन्धनभैक्षचरणानि सप्तरात्रमकृ(त्रं कृ)त्वाऽऽज्यहोमः समिधो वा रेतस्याभ्याम् ॥२०॥

भये रोगे स्वप्ने वा यदि ब्रह्मचारिणो रेतः स्कन्देत्ततो रेतस्याभ्यां मन्त्राभ्यामाज्यहोमः कर्तव्यः । समिधो वा । होम इत्युपसमस्तमपेक्ष्यते । एतत्तु भये रोग इत्यादि ब्रह्मचारिव्यतिरिक्तस्यापि । तथाऽग्नीन्धनं समिदाधानं भैक्षचरणं च सप्तरात्रमकृ(त्रं कृ)त्वा पूर्ववद्धोमः । रेतस्ये ऋचौ "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" इति । "पुनर्मनः पुनरात्मा म आगात्" इत्येके । आश्वलायनेन तु "पुनर्मामैत्विन्द्रियम्" इति । "इमे येऽधिष्ण्यासोऽग्नये" इति ।

भये रोगे तथा स्वप्ने सिक्त्वा शुक्रमकामतः ।
आदित्यमर्चयित्वा तु पुनर्मामित्यृचं जपेत् ॥ इति ।

प्राजापत्यं सकृत्सेकविषयम् । गौतमीयमभ्यासविषयम् । हारीतः—

यः कुर्यादुपकुर्वाणः कामतोऽकामतोऽपि वा ।
तदेव द्विगुणं कुर्याद् ब्रह्मचारी तु नैष्ठिकः ॥ इति ।

अत्र वसिष्ठः—एतदेव रेतसः प्रयत्नोत्सर्गे दिवा स्वप्ने च व्रतान्तरेषु चैवमिति । गर्दभं पशुमालभेत नैर्ऋतं वा चरुं निर्वपेदिति प्रकृतम् ।

वानप्रस्थो यतिश्चैव खण्डने सति कामतः ।

पराकत्रयसंयुक्तमवकीर्णिव्रतं चरेत् ॥ इति शाण्डिल्यः ।
पुंसि मैथुनमासेव्य यत्नोत्सर्गे च रेतसः ।
ब्रह्मचारी यथाभ्यासं स्नात्वाऽथ हविषा यजेत् ॥
पुंसि मैथुनमासाद्य वानप्रस्थो यतिस्तथा ।
कृच्छ्रं चान्द्रायणं चैव कृत्वा शुध्यति किल्बिषात् ॥ इति कण्वः ।
सूर्यस्य त्रीन्नमस्कारान्स्वप्ने सिक्त्वा गृही चरेत् ।
यतिश्चैव वनस्थश्च त्रिः कुर्यादघमर्षणम् ॥ इति काश्यपः ।
मैथुनं तु समासाद्य पुंसि योषिति वा पुनः ।
गोयानेऽप्सु दिवा चैव स्वापे च स्नानमाचरेत् ॥ इति मानवम् ।

गृहस्थस्य—

ऋतौ तु गर्भशङ्कित्वात्स्नानं मैथुनिनः स्मृतम् ।
अनृतौ तु यदा गच्छेच्छौचं मूत्रपुरीषवत् ॥ इत्यङ्गिराः ।

वृद्धवसिष्ठः—यस्तु पाणिगृहीतायामास्ये कुर्वीत मैथुनम् ।
तस्य रेतसि तं मासं पितरस्तस्य शेरते ॥ इति ॥ २० ॥

भय या रोग के कारण (विना ज्ञान के) अथवा स्वप्न में वीर्य-स्खलन होने पर, तथा सात दिनतक अग्निकर्म एवं भिक्षाचरण न करने पर ब्रह्मचारी घृत का होम करे अथवा 'रेतस्य' आदि मन्त्र का उच्चारण करते हुए अग्नि में दो समिधाएँ रखे ॥ २० ॥

सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी तिष्ठेदहरभुञ्जानोऽभ्यस्तमितश्च रात्रिं जपन्सावित्रीम् ॥ २१ ॥

यस्तु सूर्य उदयति स्वपिति स सूर्याभ्युदितो ब्रह्मचारी सर्वमहरभुञ्जानस्तिष्ठेत् । अभ्यस्तमितश्च रात्रिं सर्वामासीत । तिष्ठेदहनि रात्रावासीतेति कृच्छ्रे दर्शनात् । जपन्सावित्रीमित्युभयत्र समानम् । ब्रह्मचारिग्रहणाद् गृहस्थादीनामन्यत्प्रायश्चित्तम् । 'आतमितः प्राणमायच्छेदित्येके' इत्यापस्तम्बीयं गृहस्थस्य । आह वसिष्ठः—

वनस्थश्च यतिश्चैव सूर्येणाभ्युदितो यदि ।
ब्रह्मकूर्चाशिनौ भूत्वा जपेतां द्रुपदां त्वहः ॥ इति ।

अभ्यस्तमितयोरपीदमेव । आह प्रजापतिः—

पालाशं पद्मपत्रं वा ताम्रं वाऽथ हिरण्मयम् ।
गृहीत्वा सादयित्वा च ततः कूर्चं समारभेत् ॥
गायत्र्याऽऽदाय गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ।

आप्यायस्वेति च क्षीरं दधिक्राव्णेति वै दधि ॥
शुक्रमसि ज्योतिरसीत्याज्यं देवस्य त्वा कुशोदकम् ।
चतुर्दशीमुपोष्याथ पौर्णमास्यां समाचरेत् ॥
गोमयाद् द्विगुणं मूत्रं सर्पिर्दद्याच्चतुर्गुणम् ।
क्षीरमष्टगुणं देयं दधि पञ्चगुणं तथा ॥
स्थापयित्वाऽथ दर्भेषु पालाशैः पत्रकैरथ ।
तत्समुद्धृत्य होतव्यं देवताभ्यो यथाक्रमम् ॥
अग्नये चैव सोमाय सावित्र्या चैव मन्त्रतः ।
प्रणवेन तथा हुत्वा स्विष्टकृत्प्रणवेन तु ॥
एतद् ब्रह्मकृतं कूर्चं पवित्रं च तथैव च ।
एवं हुत्वा ततः शेषं पापं ध्यात्वा समाहितः ॥
आलोड्य प्रणवेनैव निर्मथ्य प्रणवेन तु ।
उद्धृत्य प्रणवेनैव पिबेच्च प्रणवेन तु ॥
एतद् ब्रह्मकृतं कूर्चं मासि मासि चरेद् द्विजः ।
सर्वपापैर्विशुद्धात्मा स्वर्गलोकं स गच्छति ॥
यत्त्वगस्थिगतं पापं देहे तिष्ठति देहिनाम् ।
ब्रह्मकूर्चो दहेत्सर्वं प्रदीप्ताग्निरिवेन्धनम् ॥ इति ।

बुद्धिपूर्वेऽबुद्धिपूर्वे साधारणमिदम् । तथा च मनुः—

तं चेदभ्युदियात्सूर्यः शयानं कामकारतः ।
निम्लोचेद्वाऽप्यविज्ञानाज्जपन्नुपवसेद्दिनम् ॥ इति ।

दिनमित्युपलक्षणं निम्लोचने रात्रिमुपवसेदिति । अभयरोगस्थ इति जाबालिवचनाद्भये रोगे च प्रायश्चित्तं न भवति ॥ २१ ॥

सूर्योदय के समय सोते रहने पर ब्रह्मचारी दिन भर मौन रहकर उपवास करते हुए खड़ा रहे और सूर्यास्त के समय सोने पर रात्रि भर गायत्री मन्त्र का जप करता हुआ एक ही स्थान पर खड़ा रहे ॥ २१ ॥

अशुचिं दृष्ट्वाऽऽदित्यमीक्षेत प्राणायामं कृत्वा ॥ २२ ॥

अशुचिश्चण्डालादिः । तं दृष्ट्वा प्राणायाममेकं कृत्वा सूर्यमीक्षेत । जपादिनियमकाल इदं ब्रह्मचारिणः ।

आचम्य प्रयतो नित्यं जपेदशुचिदर्शने ।
सौर्यान्मन्त्रान्यथोत्साहं पावमानीश्च शक्तितः ॥

इति मानवं नैष्ठिकादीनाम् । अशुचिदर्शने द्विजः प्रणवं जपेदिति जाबालिगृह्यवचनं गृहस्थविषयम् । अशुचिदर्शन आदित्यदर्शनं ब्राह्मण-

दर्शनं गवामग्नेर्गौत्यौशनसं नियमकालादन्यत्र। जाबालिगृह्ये द्विजग्रहणाच्छूद्रस्य न विधिर्न प्रतिषेधः ॥ २२ ॥

चण्डाल आदि अपवित्र व्यक्ति को देखने पर प्राणायाम करके सूर्य का दर्शन करे ॥ २२ ॥

अभोज्यभोजनेऽमेध्यप्राशने वा निष्पुरीषीभावः ॥ २३ ॥

नित्यमभोज्यं केशकीटावपन्नमित्यारभ्याभोज्यान्युक्तानि। तानि च बहुप्रकाराणि। जातिदुष्टानि लशुनादीनि। कालदुष्टानि पर्युषितादीनि। परिग्रहदुष्टान्युत्सृष्टादीनामन्नानि। संसर्गदुष्टानि केशकीटाद्युपहतानि। क्रियादुष्टान्याचमनोत्थानव्यपेतादीनि। तेषामभोज्यानां भोजने च। मेध्यं पवित्रम्। अमेध्यमपरिशुद्धं स्थानपात्रपाकस्पर्शप्रदात्रादिना। तेषाममेध्यानां प्राशने च निष्पुरीषीभावः कार्यः। यथा निष्पुरीषमुदरं भवति तथा कार्यम् ॥ २३ ॥

अभोज्य पदार्थ का भोजन करने पर तथा अपवित्र पदार्थ निगलने पर उस समय तक उपवास करे जबतक पेट पूर्णतः खाली न हो जाय ॥ २३ ॥

तत्कथम्—

त्रिरात्रावर[म]भोजनम् ॥ २४ ॥

तिस्रो रात्रीर्न किञ्चिद् भुञ्जीत। न किंचित्खादयेत्। न किंचित्पिबेत्। एवं निष्पुरीषीभावोऽवाप्यते। अवरग्रहणाच्चतूरात्रादेरपि भावः(लाभः)। परमेण सप्तरात्रम्। तथा चाऽऽपस्तम्बः–अभोज्यं भुक्त्वा नैष्पुरीष्यं तत्सप्तरात्रेणावाप्यत इति ॥ २४ ॥

इसके लिये वह कम से कम तीन दिन और रात तक उपवास करे ॥ २४ ॥

सप्तरात्रं वा स्वयंशीर्णान्युपभुञ्जानः फलान्यनतिक्रामन् ॥ २५ ॥

शुध्यतीति शेषः। अथवा नोपवसेत् किंतु स्वयंशीर्णानि स्वयंपतितानि फलानि भुञ्जानोऽनतिक्रामन्स्वादुफलोपलम्भे तदतिक्रमेण स्वादुफलान्तरग्रहणार्थमगच्छन्सप्तरात्रमेवं कुर्वन् शुध्यति ॥ २५ ॥

अथवा सात दिन-रात तक स्वयं गिरे हुए फलों को खाकर रहने से पवित्र होता है ॥ २५ ॥

प्राक्पञ्चनखेभ्यश्छर्दनं घृतप्राशनं च ॥ २६ ॥

तत्रैवाभोज्यप्रकरणे पञ्चनखाश्च शल्यकेत्यादिभिरष्टभिः सूत्रैर्यान्य-

भोज्यान्युक्तानि तेभ्यः प्राग्यान्यभोज्यानि नित्यमभोज्यमित्यादिभिरेकोनविंशतिसूत्रैरुक्तानि तेषु भुक्तेषु च्छर्दयित्वा घृतं प्राश्य विशुध्यति । एवं च पूर्वकं प्रायश्चित्तद्वयं स्वभावदुष्टेषु पञ्चनखादिष्वेवावतिष्ठते । अत्र विष्णुः—मलानां मज्जानामन्यतरस्य प्राशने चान्द्रायणं कुर्याल्लशुनपलाण्डुकगृञ्जनतज्जविड्वराहग्रामकुक्कुटनरमांसभक्षणे च सर्वेष्वेतेषु द्विजातीनां प्रायश्चित्तं पुनः संस्कारः ।

बृहस्पतिः—अलेह्यानामपेयानामभक्ष्याणां च भक्षणे ।
रेतोमूत्रपुरीषाणां शुद्धिश्चान्द्रायणं स्मृतम् ॥

अङ्गिराः—अलेह्यानामपेयानामभक्ष्याणां च भक्षणे ।
रेतोमूत्रपुरीषाणामृषिकृच्छ्रो विशोधनम् ॥
पद्मोदुम्बरबिल्वानां कुशपर्णपलाशयोः ।
एतेषामुदकं पीत्वा तप्तेनैव विशुध्यति ॥

काश्यपः—लशुनपलाण्डुगृञ्जनकुक्कुटभक्षणे मेदःशुक्रपानेऽयाज्ययाजनेऽभोज्यभोजनेऽभक्ष्यभक्षणेऽगम्यागमने चैवं प्रायश्चित्तं ब्राह्मणेभ्यो निवेद्य षड्रात्रोपोषितश्चीर्णान्ते प्राच्यामुदीच्यां दिशि गत्वा यत्र ग्राम्यपशूनां शब्दो न श्रूयते तस्मिन्देशेऽग्निं प्रज्वाल्य ब्रह्मासनमास्तीर्य तत्प्रणीतेन विधिना पुनःसंस्कारमर्हति । सुमन्तुः—लशुनपलाण्डुगृञ्जनभक्षणे वीरश्राद्धे सूतिकाभोज्यान्नमधुमांसमूत्ररेतोमेध्याभक्ष्यभक्षणे सावित्र्यष्टसहस्रेण मूर्ध्नि संपातानवनयेत् । एतान्येवाऽतुरस्य भिषक्क्रियायामप्रतिषिद्धानि भवन्ति । यानि चान्यान्येवंप्रकाराणि तेष्वप्यदोषः।

पलाण्डुं लशुनं चैव गृञ्जनं कवकं तथा ।
चत्वार्यज्ञानतो जग्ध्वा तप्तकृच्छ्रं चरेद् द्विजः ॥

मनुस्तु—छत्राकं विड्वराहं च लशुनं ग्रामकुक्कुटम् ।
पलाण्डुं गृञ्जनं चैव मत्या भुक्त्वा पतेद् द्विजः ॥
अमत्यैतानि षड् जग्ध्वा कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ।
यतिचान्द्रायणं वाऽपि शेषेषूपवसेदहः ॥
संवत्सरस्यैकमपि चरेत्कृच्छ्रं द्विजोत्तमः ।
अज्ञातभुक्तशुद्ध्यर्थं ज्ञातस्य तु विशेषतः ॥

शातातपः—लशुनपलाण्डुगृञ्जनकुम्भशारकवकामेध्यभक्षणे तप्तकृच्छ्रः । विष्णुः—वृन्ताककवकाशने सांतपनम् । पैठीनसिः—लशुनपलाण्डुगृञ्जनभक्षणे प्राजापत्यम् । देवलः—अभक्ष्यभक्षणे कृच्छ्रम् । पैठीनसिः—

अभक्ष्यभक्षणे तप्तकृच्छ्रम् । संवर्तः—
अभोज्यभोजनं कृत्वा ब्रह्मक्षत्रविशां गणः ।

गोमूत्रयावकाहारः सप्तरात्रेण शुध्यति ॥

बृहस्पतिः—पीत्वा शुक्लकषायाणि भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम् ।

भवेदप्रयतो विप्रः कर्मणः स्यादधोगतिः ॥

विष्णुः—दधिवर्जितानि सर्वशुक्लानि चात्र प्राश्योपवसेदिति प्रकृतम् ।

शङ्खः—लोहितान्वृक्षनिर्यासान्व्रश्चनप्रभवांस्तथा ॥

भुक्त्वा श्लेष्मातकं (?) च त्रिरात्रं तु व्रती भवेत् ।

शङ्खलिखितौ—सर्वासां द्विस्तनीनां क्षीरप्राशनेऽजावर्जमेतदेव । अत्र षड्रात्रमभोजनं चान्द्रायणं चेति प्रकृतम् । अनिर्दशाविगोक्षीरप्राशने तदहरभोजनं सचैलस्नानं च । शातातपः—

उष्ट्रीक्षीरमविक्षीरमन्नं च मृतिसूतके ।

चोरस्यान्नं नवश्राद्धे भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥

पैठीनसिः—अविखरोष्ट्रमानुषदुग्धप्राशने पुनरुपनयनं प्राजापत्यं च । बौधायनः-अवेः पयःपाने कृच्छ्रोऽन्यत्र गव्यात् । गवि त्रिरात्रोपवासः । शङ्खः—

अनिर्दशाया गोः क्षीरमाजं माहिषमेव च ।

गोश्च क्षीरं विवत्सायाः स्यन्दिन्याश्च तथा पयः ॥

संधिन्यमेध्यभक्षायाः पीत्वा पक्षव्रतं चरेत् ।

क्षीराणि यान्यपेयानि तद्विकाराशने बुधः ॥

सप्तरात्रव्रतं कुर्याद्यदेतत्परिकीर्तितम् ।

सुमन्तुः—एकशफोष्ट्रस्यन्दिन्यविस्त्रीक्षीरप्राशने गोमहिष्यजानां चानिर्दशाहानां क्षीरप्राशने त्रिरात्रं यावकस्त्रिषवणं च । विष्णुः—गोजाविमहिषीवर्जं सर्वपयांसि च तान्यप्यनिर्दशाहानि स्यन्दिनीसंधिनीविवत्साक्षीरं चामेध्यभुजश्च क्षीरं प्राश्योपवसेदिति प्रकृतम् । हारीतः—अनुक्तानां सत्त्वानां भक्षणेऽतिकृच्छ्रो ग्राम्याणां चान्द्रायणम् । यमः—

वराहैकशफानां च काककुक्कुटयोस्तथा ।

क्रव्यादानां च सर्वेषामभक्ष्या ये च कीर्तिताः ॥

मांसमूत्रपुरीषाणि प्राश्य गोमांसमेव च ।

श्वगोमायुकपीनां च तप्तकृच्छ्रं विशोधनम् ॥

उपोष्य द्वादशाहं वा कूष्माण्डैर्जुहुयाद् घृतम् ।

वसिष्ठः—श्वकुक्कुटग्राम्यसूकरकाकगृध्रभासवायसपारावतमानुषकाकोलूकानां मांसादने सप्तरात्रमुपवासो निष्पुरीषीभावो घृतप्राशनं पुनः संस्कारश्च कार्यः ।

बिडालकाकाखूच्छिष्टं जग्ध्वा च नकुलस्य च ।
केशकोटावपन्नं च पिबेद् ब्रह्मसुवर्चलाम् ॥
केशकीटावपन्नं च स्त्रीभिः स्वादंस्तथैव च ।
श्वोदक्याभ्यां च संस्पृष्टं पञ्चगव्येन शुध्यति ॥

यमः—माक्षिकं फाणितं शाकं गोरसं लवणं घृतम् ।
एतानि हस्तदत्तानि भुक्त्वा सांतपनं चरेत् ॥

शङ्खः—एकपङ्क्त्युपविष्टानां विषमं यः प्रयच्छति ।
यस्यैवाश्नात्ययं सर्वः कुर्याद् ब्रह्महणि व्रतम् ॥

यमः—ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां सहभोजनम् ।
प्राजापत्यं तप्तकृच्छ्रमतिकृच्छ्रं तथैव च ॥
चान्द्रायणमिति प्रोक्तं प्रायश्चित्तं क्रमेण तु ।

शातातपः—योऽगृहीत्वा विवाहाग्निं गृहस्थ इति मन्यते ॥
अन्नं तस्य न भोक्तव्यं वृथापाको हि स स्मृतः ।
वृथापाकस्य भुक्त्वाऽन्नं प्रायश्चित्तं चरेद् द्विजः ॥
प्राणायामं त्रिरभ्यस्य घृतं प्राश्य विशुध्यति ।

अङ्गिराः—ब्रह्मक्षत्त्रविशां भुक्त्वा न दोषोऽस्त्यग्निहोत्रिणाम् ॥
सूतके शाव आशौचे अस्थिसंचयनात्परम् ।
चाण्डालः श्वपचः क्षत्ता सूतो वैदेहकस्तथा ॥
मागधायोगवौ चैव सप्तैतेऽन्त्यावसायिनः ।
अन्त्यावसायिनामन्नमश्नीयाद्यस्तु कामतः ॥
स तु चान्द्रायणं कुर्यात्तप्तकृच्छ्रमथापि वा ।

यमः—ब्राह्मणान्नं ददच्छूद्रः शूद्रान्नं ब्राह्मणो ददत् ॥
उभावेतावभोज्यान्नौ भुक्त्वा चान्द्रायणं चरेत् ॥ २६ ॥

यदि उपर्युक्त अभोज्य पदार्थों में पाँच नख वाले पशुओं से पहले गिनाये गये किसी पदार्थ का भोजन किया हो तो उसे उगल कर फिर घृत पीने पर शुद्धि होती है ॥ २६ ॥

आक्रोशानृतहिंसासु त्रिरात्रं परमं तपः ॥ २७ ॥

महापातकोपपातकयुक्तादन्यत्राऽऽक्रोशे सताऽसता वा दोषेणातिवादे साक्ष्यादिविषयादन्यत्रानृते तत्रोक्तत्वात् । प्राणिभ्योऽन्यत्र हिंसायाम् । प्राणिषूक्तत्वात् । एतेषु निमित्तेषु परमं तपः परमेण त्रिरात्रमनशनं ब्रह्मचर्यं कर्तव्यम् । परमग्रहणादेकरात्रादेरपि लाभः । तत्र ब्राह्मण आक्रोशे त्रिरात्रं, क्षत्त्रिये द्विरात्रं, वैश्य एकरात्रं, शूद्रेऽहरिति व्यवस्था । अनृतेऽ-

प्येवम्। फलाफलाद्यपेक्षया ब्राह्मणादिस्वामिकेषु वृक्षादिषु हिंसायाम-प्येवम्। अत्र प्रजापतिः—

अनृते सोमपः कुर्यात्त्रिरात्रं परमं तपः।
पूर्णाहुतिं वा जुहुयात्सप्त ते अग्न इत्यृचा ॥ इति।
अनृतोक्तौ ष्ठीवने च दन्तस्पर्शन एव च।
पतितानां च संभाषे दक्षिणं श्रवणं स्पृशेत् ॥ इति।

इदं परिहासादिनिमित्तानृतविषयम्। हारीतः-

प्रत्याश्रुत्यानृतं ब्रूयान्मिथ्या सत्यमथापि वा।
स तप्तकृच्छ्रसहितं चरेच्चान्द्रायणव्रतम् ॥

प्रजापतिः—मांसं भुक्त्वा ब्रह्मचारी पुनः संस्कारमर्हति।

अभ्यास ऐन्दवं चैव नैष्ठिको द्विगुणं चरेत् ॥
वनस्थस्त्रिगुणं कुर्याद्यतिः कुर्याच्चतुर्गुणम्।
मांसाशनेऽनृतोक्तौ च शवनिर्हरणे तथा ॥ इति ॥ २७ ॥

दोष देकर भर्त्सना करने, झूठ बोलने और दूसरे की हिंसा करने पर तीन दिन-रात का व्रत करे ॥ २७ ॥

आक्रोशे विशेषः—

सत्यवाक्ये वारुणीमानवीभिर्होमः ॥ २८ ॥

आक्रोशे सत्यवाक्ये सति वारुणीभिर्मानवीभिश्चाऽऽज्यहोमः कर्तव्यः। त्रिरात्रं परममित्येव। "यत्किंचेदम्" "इमं मे वरुण" "तत्त्वा यामि" "अवते हेड" इति वारुण्यः। अग्निरुक्थे पुरोहित इत्यारभ्या-ध्यायपरिसमाप्तेर्मानव्य ऋच एकोनषष्टिर्मनुना दृष्टाः। तास्वन्त्याश्चतस्रो मक्षू देववत इत्याद्यास्तैत्तिरीयके सौमारौद्र्यामिष्टौ धाय्यत्वेन विनियुक्ताः। असावादित्य इत्यस्मिन्ननुवाके मानवीऋचो धाय्ये कुर्यादिति। सूत्र-कारोऽप्याह–मानवीऋचौ धाय्ये मक्षू देववत इत्येतासां द्वे इति। तत्रान्त्याभिराभिश्चतसृभिर्होम इत्येके। अन्ये तु ऋग्वेदपठिताभिः सर्वाभिर्ऋग्भिरिति ॥ २८ ॥

यदि आक्रोश सत्य हो तो मनु के वरुण-सूक्तों का उच्चारण करते हुए होम करे ॥ २८ ॥

विवाहमैथुननर्मार्तसंयोगेष्वदोषमेकेऽनृतम् ॥ २९ ॥

विवाहकाले कन्यावरयोरसत्स्वपि गुणेषु कथितेष्विदं ते दास्यामीति प्रतिश्रुत्याप्रदाने च न दोषः। तथा मैथुनसंयोग इदं ते दास्यामीत्युक्त्वा

मैथुने कृते तस्यादानेऽपि न दोषः। नर्म परिहासस्तत्संयोगेऽनृतवचने न दोषः। तद्यथा भोक्तुकामं गृहमागतं श्यालादिकं प्रत्युच्यते—एहि मन्य ओदनं भोक्ष्यसे भुक्तः सोऽतिथिभिरित्येवंप्रायम्। आर्तसंयोग आर्तस्य दुःखोपशमायानृतवचने न दोषः। तेनैतेषु निमित्तेष्वनृतवचनेषु न प्रायश्चित्तमिति ॥ २९ ॥

कुछ आचार्यों के मतानुसार विवाह, मैथुन, उपहास में तथा रोगी व्यक्ति को सान्त्वना देने के लिए असत्यभाषण का दोष नहीं होता ॥ २९ ॥

न तु खलु गुर्वर्थेषु ॥ ३० ॥

गुरुप्रयोजनेषु विवाहादिष्वप्यनृतं न वक्तव्यम् ॥ ३० ॥

गुरु के सम्बन्ध में विवाहादि किसी स्थिति में असत्य भाषण न करे ॥ ३० ॥

कस्माद्यतः—

सप्त पुरुषानितश्च परतश्च हन्ति मनसाऽपि गुरोरनृतं वदन्नल्पेष्वप्यर्थेषु ॥ ३१ ॥

इत इत्यात्मानं निर्दिशति। आत्मानमारभ्य सप्त पुरुषान्पुत्रपौत्रादीन्परतश्च सप्त पुरुषान्पितृपितामहादीन्हन्ति पीडयति पापेन योजयतीति। मनसाऽपि गुरोरनृतं चिन्तयन्नल्पेष्वपि प्रयोजनेषु किमङ्ग महत्सु वाचा वदन्निति ॥ ३१ ॥

क्योंकि यदि वह छोटी बात के लिए मन से भी गुरु के प्रति असत्य भाषण करने पर सात पहले की पीढ़ियों तथा सात बाद को पीढ़ियों का नाश करता है ॥ ३१ ॥

अन्त्यावसायिनीगमने कृच्छ्राब्दः ॥ ३२ ॥

अन्त्यावसायिनीनां गमने मैथुनाचरणे कृच्छ्राब्दः प्रायश्चित्तं संवत्सरं प्राजापत्यविधिनाऽवस्थानम्। बुद्धिपूर्वं इदम् ॥ ३२ ॥

निम्नवर्ण की स्त्री से संभोग करने पर एक वर्ष तक कृच्छ्र व्रत करे ॥ ३२ ॥

अमत्या द्वादशरात्रः ॥ ३३ ॥

कृच्छ्रे प्रकृते द्वादशरात्रग्रहणं पराकोपसंग्रहणार्थम्। तथा च—

अन्त्यजानां तु गमने भोजने च प्रमापणे।
पराकेण विशुद्धः स्याद्भगवानङ्गिरा ब्रवीत् ॥ इति।

इदमपि रेतःसेकात्प्रागेवोपरतस्य। ऊर्ध्वं तु वासिष्ठम्—द्वादशरात्र-

मभक्षो द्वादशरात्रमुपवसेदश्वमेधावभृथं वा गच्छेत्। एतेन चाण्डालीव्यवायो व्याख्यात इति ॥ ३३ ॥

अनिच्छा पूर्वक उपर्युक्त पाप करने पर बारह दिन-रात तक वही तप करे ॥ ३३ ॥

उदक्यागमने त्रिरात्र [स्त्रिरात्रः] ॥ ३४ ॥

उदक्यागमने सति ब्रह्मचर्यानशनादिना प्रायश्चित्तेन त्रिरात्रो गमयितव्यः। बुद्धिपूर्वे सकृद्गमन इदम्। अभ्यासे मानवम्—

अमानुषीषु गोवर्जमुदक्यायामयोनिषु।
रेतः सिक्त्वा जले चैव कृच्छ्रं सांतपनं चरेत् ॥ इति।

अबुद्धिपूर्वे सकृद्गमने शातातपोक्तम्। अनुदकमूत्रपुरीषकरणे च काकस्पर्शने सचैलस्नानं महाव्याहृतिभिर्होमश्च। रजस्वलागमने चैवमिति। अभ्यासे वासिष्ठम्—रजस्वलागमने शुक्लमृषभं दद्यात्कृष्णपिङ्गमिति [द्विरुक्तिरुक्तार्था] ॥ ३४ ॥

मासिक धर्म के समय स्त्री से संभोग करने पर तीन दिन-रात वही व्रत करे ॥ ३४ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
तृतीयप्रश्ने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ तृतीयप्रश्ने षष्ठोऽध्यायः

रहस्यं प्रायश्चित्तं वक्ष्यते—

रहस्यं प्रायश्चित्तमविख्यातदोषस्य ॥ १ ॥

यस्य पापस्य दोषः परैर्न विख्यातस्तस्य प्रायश्चित्तं रहस्यं भवति। यथा परैर्न ज्ञायते तथा कर्तव्यमिति यावत्। यैर्विना यत्पातकं कर्तुं न शक्यते तद्व्यतिरिक्तैर्ज्ञातत्वं निषिध्यते। तेन पारदार्ये पतितसंवासे च तैर्ज्ञातत्वेऽपि वक्ष्यमाणं भवत्येव ॥ १ ॥

जिस व्यक्ति का पाप दूसरों को न ज्ञात हो वह गुप्त रूप से प्रायश्चित्त करे ॥ १ ॥

चतुर्ऋचं तरत्समन्दीत्यप्सु जपेदप्रतिग्राह्यं प्रतिजिघृक्षन्प्रतिगृह्य वा ॥ २ ॥

जातिदुष्टस्य वा कर्मदुष्टस्य वा पुरुषस्य स्वभूतं स्वयंदुष्टं च कृष्णाजिनाद्यप्रतिग्राह्यम्। गत्यभावात्प्रतिजिघृक्षन्प्रतिग्रहीतुमिच्छंस्तरत्समन्दी धावतीति चतुर्ऋचं सूक्तमप्सु जपेत्। नाभिदघ्ने जले स्थित इत्येके। निमग्न इत्यन्ये। प्रतिगृह्य वा प्रतिग्रहात्पश्चाद्वा जपेत्। एवं तुल्यवद्विकल्पः। अन्ये प्रतिग्रहात्पूर्वमेवाप्रतिग्राह्यमिति ज्ञाते प्राग्जपः। पश्चाज्ज्ञाते पश्चाज्जप इति। अत्र मनुः—

प्रतिगृह्याप्रतिग्राह्यं भुक्त्वा चान्नं विगर्हितम्।
जपंस्तरत्समन्दीयं मुच्यते मानवस्त्र्यहात् ॥ इति।

प्रजापतिः—जपादिपूरणं कुर्यात्ख्यातदोषो द्विजोत्तमः।
रहःकृतस्य दोषस्य तत्तदेवाभ्यसेत्तथा ॥ इति।

इदमभ्यासविषयम् ॥ २ ॥

जिसने ऐसा निषिद्ध दान ग्रहण करने की इच्छा की हो अथवा ग्रहण किया हो वह जल में खड़ा होकर तरत् समन्दी आदि चार ऋचाओं का जप करे ॥ २ ॥

अभोज्यं बुभुक्षमाणः पृथिवीमावपेत् ॥ ३ ॥

नित्यमभोज्यं केशकीटावपन्नमित्युक्तम्। यदि गत्यभावे तदेव भोक्तुमिच्छति तदा पृथिवीमावपेन्मृदं प्रक्षिपेत्ततो भुञ्जीत ॥ ३ ॥

निषिद्ध भोजन करने की इच्छा होने पर उस पर धूल डाले ॥ ३ ॥

ऋत्वन्तरारमण उदकोपस्पर्शनाच्छुद्धिमेके ॥ ४ ॥

ऋतुमध्य आरमण उदक्यागमन उदकोपस्पर्शनात्सचैलस्नानाच्छुद्धिमाहुरेके। उदक्यागमने त्रिरात्र इति प्रकाशविषयम्। एकेग्रहणं परत्रापि संबध्यते ॥ ४ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि मासिक धर्म के समय स्त्री के साथ संभोग करने पर जलस्पर्श एवं वस्त्रसहित स्नान से शुद्धि होती है ॥ ४ ॥

स्त्रीषु ॥ ५ ॥

एके स्वस्त्रीषूदकोपस्पर्शनमन्यत्र त्रिरात्रं मन्यते। अपर आह—स्त्रीषु वडवाद्यास्वपि गोवर्जं मैथुन आचरित उदकोपस्पर्शनाच्छुद्धिमेके मन्यन्ते ॥ ५ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि यह नियम अपनी ही पत्नी के विषय में होता है ॥ ५ ॥

अथ ब्राह्मणवधे रहस्यम्—

पयोव्रतो वा दशरात्रं घृतेन द्वितीयमद्भिस्तृतीयं दिवादिष्वेकभक्तिको जलक्लिन्नवासा लोमानि नखानि त्वचं मांसं शोणितं स्नाय्वस्थि मज्जानमिति होमा आत्मनो मुखे मृत्योरास्ये जुहोमीत्यन्ततः सर्वेषां प्रायश्चित्तं भ्रूणहत्यायाः ॥ ६ ॥

भ्रूणहत्या ब्रह्महत्या। तस्याः प्रायश्चित्तमिदमुच्यते। आदित एकं दशरात्रं पयोव्रतः क्षीराहारः स्यात्। द्वितीयं दशरात्रं घृतेन वर्तयेत्। तृतीयमद्भिः। वाशब्दाद्धविष्यभोजनो वा। शक्तितो विकल्पः। एतेषु दिवसेष्वेकभक्तिकः पयःप्रभृति किमपि पूर्वोक्तं सकृदेवोपभुञ्जीत। कदा दिवादिषु प्रातःकालेषु न सायं न मध्याह्ने। जलक्लिन्नवासा एषु दिवसेष्वार्द्रवासाश्च स्यात्। तथा होमाश्चाष्टौ प्रत्यहमाज्येन कर्तव्याः। तत्र मन्त्राः—लोमानि नखानि त्वचं मांसं शोणितं स्नाय्वस्थि मज्जानमिति। तेषां सर्वेषामात्मनो मुखे मृत्योरास्ये जुहोमि स्वाहेत्यन्ते प्रयोक्तव्यम्। जुहोतिचोदना स्वाहाकारप्रदानेति वचनात्। तद्यथा। लोमान्यात्मनो मुखे मृत्योरास्ये जुहोमि स्वाहा; नखान्यात्मनो मुखे मृत्योरास्ये जुहोमि स्वाहेत्येवप्रकारा होमाः ॥ ६ ॥

श्रोत्रिय (वेदज्ञ ब्राह्मण) की हत्या के लिये रहस्य प्रायश्चित्त इस प्रकार है : दस दिन केवल दुग्धपान उसके बाद के दस दिन केवल घृतपान और

उसके बाद दस दिन केवल जल पीकर रहे और वह भी दिन में केवल एक बार प्रातःकाल ग्रहण करे, अपने वस्त्र निरन्तर भिगोये रखे, केश, नख, त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, अस्थि, मज्जा के लिये प्रतिदिन आठ आहुति इस मन्त्र से करे, 'आत्मा के मुख में मृत्यु के दाढ़ों में होम करता हूँ।' लोमानि आत्मनो मुखे मृत्योरास्ये जुहोमि स्वाहा' आदि ॥ ६ ॥

अथ भ्रूणहत्याया एवान्यत्प्रायश्चित्तमुच्यते—

उक्तो नियमः ॥ ७ ॥

पयोव्रतो वेत्यादिर्वक्ष्यमाणोऽपि वेदितव्यः ॥ ७ ॥

अब ब्रह्महत्या के लिये दूसरा प्रायश्चित्त बताया जाता है ॥ ७ ॥

अग्ने त्वं पारयेति महाव्याहृतिभिर्जुहुयात्कूष्माण्डैश्चाऽऽज्यम् ॥ ८ ॥

अग्ने त्वं पारयेत्यृचा महाव्याहृतिभिर्भूरादिभिः कूष्माण्डैर्यद्देवा देवहेडनमित्यादिभिश्च क्रमेण सकृदाज्यं जुहुयात् ॥ ८ ॥

'अग्ने त्वं पारय' इस ऋचा से, महाव्याहृतियों (भूअर् आदियों) के साथ कूष्माण्ड मन्त्रों से क्रमशः एक-एक बार आज्य होम करे ॥ ८ ॥

तद्व्रत एव वा ब्रह्महत्यासुरापानस्तेयगुरुतल्पेषु प्राणायामैस्तान्तोऽघमर्षणं जपन्समश्वमेधावभृथेनेदं च प्रायश्चित्तम् ॥९॥

तद् व्रत एव वा तेनैव पयोव्रतो वेत्यादिना व्रतेनोपेतश्चतुर्षु ब्रह्महत्यादिषु पापेषु प्रायश्चित्तं कुर्यात्। प्राणायामैस्तान्तो म्लानो यावद्भिः प्राणायामैस्तान्तो भवति तावद्भिः कुर्यादघमर्षणम्। अघमर्षणेन ऋषिणा दृष्टमृतं च सत्यं चेत्यादिनाऽघमर्षणम्। तच्चाश्वमेधावभृथेन समं तुल्यम्। जपन्निति वर्तमानप्रयोगेण प्रत्यहमेव त्रिंशद्रात्रं व्रतं कुर्यात्। अत्र मनुः—

यथाऽश्वमेधः क्रतुराट् सर्वपापप्रणाशनः।
तथाऽघमर्षणं सूक्तं सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ९ ॥

ब्राह्मण की हत्या के लिए, सुरापान के लिए, सोने की चोरी और गुरुपत्नीगमन के लिए वह वही व्रत करे, म्लान होने तक निरन्तर प्राणायाम करता हुआ रहे और अघमर्षण ऋषि द्वारा दृष्ट मन्त्र 'ऋतं च सत्यं च' मन्त्र का जप करे। यह प्रायश्चित्त अश्वमेध के अन्त में किये जानेवाले अवभृथ स्नान के तुल्य होता है ॥ ९ ॥

सावित्रीं वा सहस्रकृत्व आवर्तयन्पुनीते हैवाऽऽत्मानम् ॥१०॥

तद् व्रत एवेत्यनुवर्तते। प्राणायामैस्तान्त इति च। सावित्रीं सहस्रकृत्व आवर्तयन्निति जप्यमात्रं भिद्यते। अन्यत्समानम्। एवं कुर्वन्नात्मानं पुनीते ब्रह्महत्यादिभ्यश्चतुर्भ्यः शोधयति। हेति प्रसिद्धौ। एवेत्यवधारणे। ततश्चान्येष्वपि पापेषु सावित्र्यभ्यासः शुद्धिहेतुः। तथा च वसिष्ठः—

सहस्रपरमां देवीं शतमध्यां दशावराम्।
शुद्धिकामः प्रयुञ्जीत सर्वपापेष्वपि स्थितः॥ इति।

व्याघ्रोऽप्याह—न सावित्रीसमं जप्यं न व्याहृतिसमं हुतम्।
नान्नतोयसमं दानं न चाहिंसासमं तपः॥ इति॥ १०॥

अथवा सहस्र बार गायत्री मन्त्र का जप करने पर वह निश्चय ही पापमुक्त हो जाता है॥ १०॥

प्रायश्चित्तान्तरमाह—

अन्तर्जले वाऽघमर्षणं त्रिरावर्तयन्सर्वपापेभ्यो विमुच्यते [विमुच्यते]॥ ११॥

तद्व्रत एवोदकस्यान्तर्निमग्नस्त्रिरात्रमघमर्षणं त्रिरभ्यस्य सर्वस्मात्पापाज्ज्ञानकृतादज्ञानकृताच्च मुच्यते। द्विरुक्तिश्च व्याख्याता॥ ११॥

अथवा जल में डूब कर तीन बार अघमर्षण ऋषि के सूक्त का जप करने पर सभी पापों से मुक्त होता है॥ ११॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
तृतीयप्रश्ने षष्ठोऽध्यायः॥ ५॥

अथ तृतीयप्रश्ने सप्तमोऽध्यायः

उक्तानि महापातकेषु रहस्यप्रायश्चित्तानि। अथोपपातकेषु वक्ष्यन्प्रथममव-कीर्णिनः प्रायश्चित्तं वक्तुं तस्य निन्दातिशयप्रदर्शनाय श्रुतिमुदाहरति—

तदाहुः कतिधाऽवकीर्णी प्रविशतीति ॥ १ ॥

तदिति वाक्योपन्यासः। कतिधाऽवकीर्णी कतिभिः प्रकारैः किं किं प्रविशतीति ब्रह्मवादिन आहुः ॥ १ ॥

(ब्रह्मवादियों का प्रश्न है कि) ब्रह्मचर्य भंग करनेवाला किस-किस प्रकार से किसमें-किसमें प्रवेश करता है ? ॥ १ ॥

अत्रोत्तरम्—

मरुतः प्राणेनेन्द्रं बलेन बृहस्पतिं ब्रह्मवर्चसेनाग्निमिवेतरेण सर्वेणेति ॥ २ ॥

प्राणेन पञ्चवृत्तिना मरुतो वायून्प्रविशति। इन्द्रं बलेन प्रविशति। वृत्तस्वाध्यायसंपद् ब्रह्मवर्चसेन बृहस्पतिम्। इतरेण सर्वेण चक्षुरादिनेन्द्रिय-वर्गेणाग्निमेव प्रविशति। एवमल्पायुर्निरुत्साहो ब्रह्मवर्चसहीनश्चक्षुरादि-हीनश्चावकीर्णी भवति। अतश्चरितव्यं प्रायश्चित्तम् ॥ २ ॥

उनका कहना है कि उसके प्राण मरुत् के पास, बल इन्द्र में, ब्रह्मवर्चस बृहस्पति में और शेष अंश अग्नि में प्रवेश करता है ॥ २ ॥

तदानीमाह—

सोऽमावास्यायां निश्यग्निमुपसमाधाय प्रायश्चित्ताज्याहुती-र्जुहोति ॥ ३ ॥

सोऽवकीर्ण्यमावास्यायां निश्यर्धरात्रे गृह्योक्तेन मार्गेणाग्निं प्रतिष्ठा-प्योपसमाधायाऽऽज्यभागान्ते प्रायश्चित्तरूपा आज्याहुतीर्जुहोति ॥ ३ ॥

वह अमावस्या की रात्रि में अग्नि प्रज्वलित करे और व्रतस्वरूप घृत की दो आहुतियाँ प्रदान करे ॥ ३ ॥

तत्र मन्त्रौ—

कामावकीर्णोऽस्म्यवकीर्णोऽस्मि कामकामाय स्वाहा। कामाभिदुग्धोऽस्म्यभिदुग्धोऽस्मि कामकामाय स्वाहेति समिध-

माधायानुपर्युक्ष्य यज्ञवास्तु कृत्वोपोत्थाय समासिञ्चत्वित्येतया त्रिरुपतिष्ठेत ॥ ४ ॥

होमान्त एकां समिधं तूष्णीमाधायांदितेऽन्वमꣳस्था इत्यादिभिरग्निमनुपर्युक्षति । ततो यज्ञवास्तु करोति । अत्र च्छन्दोगानां गृह्ये स्विष्टकृतोऽनन्तरं पठ्यते—समिधमाधाय दर्भानाज्ये हवींषि च त्रिरवधायाग्रमध्यमूलान्यक्तं रिहाणा वियन्तु वय इत्यभ्युक्ष्याग्नावनुप्रहरेद्यः ? (यो) भूतानामधिपतो रुद्रस्तन्तिचरो वृषा पशूनस्माकं मा हिंसीरेतदस्तु हुतं तव स्वाहेति तद्यज्ञवास्तु सर्वत्र कुर्यादिति । तदेतद्यज्ञवास्तु कृत्वोपोत्थायाग्निसमीपे स्थित्वा समासिञ्चतु, इत्येतया च त्रिरग्निमुपतिष्ठेत ॥ ४ ॥

इन दो मन्त्रों "कामावकीर्णोऽस्मिवकीर्णोऽस्म्य कामकामाय स्वाहा (मैं काम से दूषित हूँ, मैं दूषित हूँ, उस कामकाम के लिये स्वाहा), "कामाभिदुग्धोस्म्यभिदुग्धोस्मि कामकामाय" (मैं काम से पीड़ित हूँ, मैं पीड़ित हूँ, कामकाम को स्वाहा'' का उच्चारण कर मौन होकर एक समिध अग्नि में रखकर अग्नि के चारों ओर जल छिड़के और यज्ञवास्तु होम करके अग्नि के समीप जाकर तीन बार 'समासिञ्चतु' (अग्नि मेरा अभिषेक करें) मन्त्र का पाठ कर अग्नि की पूजा करे ॥ ४ ॥

त्रिरुपस्थानस्यार्थवादः—

त्रय इमे लोका एषां लोकानामभिजित्या अभिक्रान्त्या इति ॥ ५ ॥

त्रयो हि लोका भूर्भुवः स्वरिति । तेषामभिजितिर्भोगयोग्यतापादनम् । अभिक्रान्तिस्तत्रैवाऽधिपत्येनाधिष्ठायावस्थानम् । तदर्थमेवं कर्तव्यमिति संबन्धः ॥ ५ ॥

ये लोक तीन हैं, इन तीन लोकों को जीतने के लिए इनका स्वामित्व प्राप्त करने के लिये यह कर्म करना चाहिए ॥ ५ ॥

एतदेवैकेषां कर्माधिकृत्य योऽप्रयत इव स्यात्स इत्थं जुहुयादित्थमनुमन्त्रयेत वरो दक्षिणेति प्रायश्चित्तमविशेषात् ॥ ६ ॥

योऽपूत इव स्यादन्योऽप्यात्मानमपूतमिव मन्यते न केवलमवकीर्णो सोऽप्येतदेवोक्तं कर्माधिकृत्येत्थं जुहुयादित्थमनुमन्त्रयेत होममुपस्थानं चैवं कुर्यात् । वरो दक्षिणा । गौर्वै वरः । सा स्वयंकर्तृकत्वाद् ब्रह्मणे देयेति श्रवणविशेषात् । अविशेषेण सर्वेषामुपपातकिनामिदं प्रायश्चित्तमित्येकेषां मतम् ॥ ६ ॥

कुछ लोगों के अनुसार उपर्युक्त कर्म सभी सामान्य निषिद्ध दोषों के लिए प्रायश्चित्त है। इसके विषय में वे कहते हैं कि पापी व्यक्ति इस प्रकार से होम करे एवं इस प्रकार मन्त्रों का जप करे। कर्म कराने वाले ऋत्विज् को वह अपनी इच्छानुसार दक्षिणा प्रदान करे ॥ ६ ॥

अनार्जवपैशुनप्रतिषिद्धाचारानाद्यप्राशनेषु शूद्रायां च रेतः सिक्त्वाऽयोनौ च दोषवति च कर्मण्यपि संधिपूर्वेऽब्लिङ्गाभिरप उपस्पृशेद्वारुणीभिरन्यैर्वा पवित्रैः ॥ ७ ॥

अनार्जवं शाठ्यम्। पैशुनं परदोषसूचनम्। प्रतिषिद्धाचारो निषिद्धानुष्ठानम्। अनाद्यमभक्ष्यं तस्य प्राशनम्। एतेषु शूद्रायां रेतः सिक्त्वाऽयोनौ चाऽऽस्यादिषु वा रेतः सिक्त्वा, दोषवति कर्मणि परपीडात्मके स्तेयात्मके च संधिपूर्वे बुद्धिपूर्वे, अपिशब्दादबुद्धिपूर्वे कृतेऽब्लिङ्गाभिरापो हि ष्ठा मयोभुव इति तिसृभिर्हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इति चतसृभिः, वारुणीभिर्यत्किंचेदमिमं मे वरुण तत्त्वा याम्यव ते हेड इत्येताभिरन्यैर्वा पवित्रैः पवमानः सुवर्जन इत्यादिभिरप उपस्पृशेत्पूर्वं स्नात्वा पश्चादञ्जलिना मूर्ध्नि मन्त्रैरेतैरपः क्षिपेत्। यद्यप्यनाद्यप्राशनमपि प्रतिषिद्धाचारस्तथाऽपि पृथगुपादानात्तेषु बहुभिर्मार्जनमनाद्यप्राशने यथासंभवं द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

शाठ्य (धोखा), चुगुली, निषिद्ध आचरण करने तथा वर्जित पदार्थों का भोजन या पान करने, शूद्रा स्त्री से संभोग करने योनि के अतिरिक्त अन्यत्र मुख आदि में वीर्यस्खलन करने तथा जानबूझ कर दूसरों को हानि पहुँचाने के लिये दोषपूर्ण कार्य करने पर आप या वरुण के प्रति उक्त मन्त्रों या अन्य पवित्र करने वाले मन्त्रों के उच्चारण के साथ स्नान करे और अपने ऊपर जल छिड़के ॥ ७ ॥

प्रतिषिद्धवाङ्मनसापचारे व्याहृतयः पञ्च सत्यान्ताः ॥ ८ ॥

प्रतिषिद्धविषये यो वाङ्मनसयोरपचारः कुत्सिता प्रवृत्तिस्तत्र व्याहृतयः पञ्चजप्या भूरादयः सत्यान्ताः प्रथमेऽध्याय उक्ताः। वाङ्मनसोरिति पाठोऽस्मभ्यं न रोचते। अचतुरेति समासान्तविधिप्रसङ्गात्। प्रतिषिद्धग्रहणस्य च दुरन्वयत्वात् ॥ ८ ॥

निषिद्ध विषयों के संबन्ध में वाणी या मन द्वारा किये गये पाप की शुद्धि के लिये पाँच व्याहृतियों का उच्चारण करना चाहिए ॥ ८ ॥

सर्वास्वपो वाऽऽचामेदहश्च माऽऽदित्यश्च पुनात्विति प्राता रात्रिश्च मा वरुणश्च पुनात्विति सायम् ॥ ९ ॥

सर्वासु पापक्रियास्वनार्जवादिष्वाभ्यां मन्त्राभ्यामपोऽभिमन्त्र्याऽऽचामेदहश्चेति प्रातः पिबेद्रात्रिश्चेति सायं पिबेत् ॥ ९ ॥

अथवा सभी पाप-क्रियाओं के लिए प्रातः काल 'अहश्च माऽऽदित्यश्च पुनातु' (दिन और सूर्य मुझे पवित्र करें) मन्त्र से जल को अभिमन्त्रित करके आचमन करे और सन्ध्या को "रात्रिश्च मा वरुणश्च पुनातु" (रात्रि और वरुण मुझे पवित्र करें) मन्त्र से आचमन करे ॥ ९ ॥

अष्टौ वा समिध आदध्याद्देवकृतस्येति हुत्वैव सर्वस्मादेनसो मुच्यते [मुच्यते] ॥ १० ॥

अथवा देवकृतस्येत्यादिभिर्मन्त्रैरष्टौ समिध आदध्याज्जुहुयात् । हुत्वैव सर्वस्मादेनसो न केवलमनार्जवादिभ्यः किंत्वयाज्ययाजनादेरप्येनसो मुच्यते । अस्य होमस्य मुख्यत्वप्रदर्शनार्थमेवकारः । हुत्वैवान्यत्कृत्वेति । ततश्च सति संभव इदमेव न्यायः । देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहेत्यादयोऽष्टौ मन्त्राः [द्विरुक्तिरुक्तार्था] ॥ १० ॥

अथवा 'देवकृतस्य' आदि मन्त्रों का उच्चारण करते हुए आठ समिधाएँ अग्नि में होम करे। उनका होम करने से ही सभी पापों से मुक्ति हो जाती है ॥ १० ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां तृतीयप्रश्ने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथ तृतीयप्रश्ने अष्टमोऽध्यायः

कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ चान्द्रायणमित्युक्तम्। तत्र क्रमेण कृच्छ्रादिस्वरूपमाह—

अथातः कृच्छ्रान्व्याख्यास्यामः ॥ १ ॥

अथशब्दोऽधिकारार्थः। अतःशब्दो हेतौ। य एत आख्याता न शक्यन्ते कर्तुमतः कृच्छ्रान्व्याख्यास्याम इति ॥ १ ॥

अब हम कृच्छ्र का वर्णन करेंगे ॥ १ ॥

हविष्यान्प्रातराशान्भुक्त्वा तिस्रो रात्रीर्नाश्नीयात् ॥ २ ॥

यज्ञियैर्वरकादिव्यतिरिक्तैर्निष्पादितान्घृतादिसंयुक्तान्क्षारलवणवर्जितान्प्रातराशान्। अश्न (श्य)न्त इत्याशा ग्रासाः। दिवा भोज्यान्ग्रासान्भुक्त्वा। अथापरं त्र्यहमिति वक्ष्यमाणत्वादत्रापि त्र्यहमिति गम्यते। तिस्रो रात्रीर्नाश्नीयादिति तस्मिंस्त्र्यहे रात्र्यशनप्रतिषेधः श्रुत्यनुसारेण कृतः। पुनरयं वक्तव्यः। कथम्—सायं प्रातर्द्विजातीनामशनं श्रुतिचोदितमिति परिसंख्यानाद् द्विरेव भोजनं प्राप्तम्। तत्र प्रातराशान्भुक्त्वेत्युक्ते परिसंख्यानात्सिद्धा रात्रावशननिवृत्तिर्यथोत्तरत्र दिवा भोजननिवृत्तिः॥२॥

तीन दिन तक प्रातः काल हविष्य का भक्षण करे और सन्ध्या को उपवास करे ॥ २ ॥

अथापरं त्र्यहं नक्तं भुञ्जीत ॥ ३ ॥

एवं दिवा हविष्यभोजनेन त्र्यहं नीत्वाऽनन्तरं त्र्यहं नक्तमेव भुञ्जीत। हविष्यानित्येव ॥ ३ ॥

पुनः तीन दिन केवल सन्ध्या को हविष्य का भक्षण करे ॥ ३ ॥

अथापरं त्र्यहं न कंचन याचेत ॥ ४ ॥

अथ नक्तभोजनत्र्यहानन्तरमपरं त्र्यहं न कंचन बन्धुमपि याचेत। याच्ञाप्रतिषेधोऽयम्। स्वद्रव्यस्य वाऽयाचितलब्धस्याप्रतिषेधः। एवमुक्ते हविष्यनियमो न प्राप्नोति। कालविशेषाश्रवणाद् द्विर्भोजनं च प्राप्नोति। न याचेतेत्यत्रापि हविष्यानित्येवानुवर्तते। अयाचितलब्धेऽपि सकृदेव सिद्धम्। कुतः। अथापरमिति वचनस्य पूर्वेण सदृशार्थत्वात्। तत्तु दिवा नक्तं वा यथेच्छम्। अन्ये तु त्र्यहमयाचितव्रत इत्यापस्तम्बीये दर्शना-

दयाचितलब्धेनैव त्र्यहं वृत्तिर्न स्वद्रव्येण। नापि याचितलब्धेनेति वर्णयन्ति। अनुष्ठानमप्येवमेव ॥ ४ ॥

पुनः तीन दिन तक किसी से भोजन न माँगे ॥ ४ ॥

अथापरं त्र्यहमुपवसेत् ॥ ५ ॥

स्पष्टम्। एवमयं द्वादशाहसाध्यः कृच्छ्रः। वसिष्ठेन प्रकारान्तरमपि दर्शितम्—

अहः प्रातरहर्नक्तमहरेकमयाचितम्।
अहश्चोपवसेदेकमेवं चतुरहौ परौ ॥
अनुग्रहार्थं विप्राणां मनुर्धर्मभृतां वरः।
बालवृद्धातुराणां च शिशुकृच्छ्रमुवाच ह ॥ इति।

भरद्वाजः—प्राजापत्यं चरन्विप्रो यद्यशक्तो दिने दिने।
विप्रान्पञ्चावरान्शुद्धान्भोजयेत्सम्यगर्चितान् ॥ इति।

यस्मिन्दिनेऽशक्तिस्तत्रैवं, दिनान्तरेषु पूर्ववत्। तत्राप्यशक्तो ब्राह्मणभोजनमुपवासदिनेष्वशक्तो वा ब्राह्मणभोजनं दत्त्वा हविष्यान्नसम्यग्भुञ्जीत ॥ ५ ॥

तब फिर तीन दिन तक उपवास रखे ॥ ५ ॥

अथ कृच्छ्रस्य गुणविधिः—

तिष्ठेदहनि रात्रावासीत क्षिप्रकामः ॥ ६ ॥

यः कामयेत क्षिप्रं शुध्येयमिति स तिष्ठन्नेवाहर्नयेत। भोजनाद्यविरोधेन रात्रावासीत। स्वापोऽप्यासीनस्यैव। वसिष्ठस्तु क्षिप्रकामस्य प्रकारान्तरमाह—

अथ चेत्त्वरते कर्तुं दिवसं मारुताशनः।
रात्रौ चैव जले तिष्ठेत्प्राजापत्येन तत्समम् ॥
सावित्र्यष्टसहस्रं तु जप्यं कृत्वोत्थिते रवौ।
मुच्यते पातकैः सर्वैर्यदि न भ्रूणहा भवेत् ॥ ६ ॥

जो शीघ्र शुद्ध होना चाहे वह दिन में खड़ा रहे और रात्रि को बैठा रहे ॥ ६ ॥

सत्यं वदेत् ॥ ७ ॥

सत्यं यथादृष्टम्। विवाहादिविषयेऽपि सत्यमेव वदेत् ॥ ७ ॥

वह सत्य भाषण करे ॥ ७ ॥

अनार्यैर्न संभाषेत ॥ ८ ॥

द्विजातिव्यतिरिक्तैर्लिङ्गस्याविवक्षितत्वात्तत्स्त्रीभिरपि न संभाषेत ॥८॥

वह आर्य के अतिरिक्त किसी अन्य से संभाषण न करे ॥ ८ ॥

रौरवयौधाजपे नित्यं प्रयुञ्जीत ॥ ९ ॥

रौरवयौधाजपे सामनी। पुनानः सोमधारयेत्यस्यामृचि गीते। नित्यं प्रत्यहं प्रयुञ्जीत गायेत्। अपर आह—नित्यं पुनः प्रयुञ्जीतेति ॥ ९ ॥

प्रतिदिन रौरव और यौधजप नाम के साम का गान करे ॥ ९ ॥

अनुसवनमुदकोपस्पर्शनमापो हि ष्ठेति तिसृभिः पवित्रवतीभिर्मार्जयीत हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इत्यष्टाभिः ॥ १० ॥

उदकोपस्पर्शनं स्नानम्। तदनुसवनं त्रिषु सवनेषु कर्तव्यम्। तदनन्तरं च मार्जनमापो हि ष्ठेत्यादिभिः। पवमानः सुवर्जन इत्यनुवाकस्था ऋचस्ताः पवित्रवत्यः। लिङ्गसमवायात्। ताभिश्च तैत्तिरीये पञ्चमे काण्डे षष्ठे प्रश्ने हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका इत्याद्या ऋचः पठ्यन्ते। ता दश भवन्ति। तत्राष्टाभिः। यदि तु शाखान्तरे क्वचिदष्टावेव पठ्यन्ते ततस्ता एव ग्राह्याः ॥ १० ॥

'आपो हि ष्ठा' आदि तीन मन्त्रों का उच्चारण करते हुए प्रातः, मध्याह्न और संध्या को स्नान करे और 'हिरण्यवर्णा, शुचयः पावका' आदि आठ पवित्र करने वाले मन्त्रों से शरीर को सुखावे ॥ १० ॥

अथोदकतर्पणम् ॥ ११ ॥

अथ मार्जनानन्तरमुदकेन तर्पणं कर्तव्यम् ॥ ११ ॥

तब वह जल से तर्पण करे ॥ ११ ॥

तत्र मन्त्राः—

नमोऽहमाय मोहमाय मंहमाय धुन्वते तापसाय पुनर्वसवे नमः। नमो मौञ्ज्यायोर्व्याय वसुविन्दाय सार्वविन्दाय नमः। नमः पाराय सुपाराय महापाराय पारयिष्णवे नमः। नमो रुद्राय पशुपतये महते देवाय त्र्यम्बकायैकचरायाधिपतये हराय शर्वायेशानायोग्राय वज्रिणे घृणिने कपर्दिने नमः। नमः सूर्यायाऽऽदित्याय नमः। नमो नीलग्रीवाय शितिकण्ठाय

नमः। नमः कृष्णाय पिङ्गलाय नमः। नमो ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय वृद्धायेन्द्राय हरिकेशायोर्ध्वरेतसे नमः। नमः सत्याय पावकाय पावकवर्णाय कामाय कामरूपिणे नमः। नमो दीप्ताय दीप्तरूपिणे नमः। नमस्तीक्ष्णाय तीक्ष्णरूपिणे नमः। नमः सौम्याय सुपुरुषाय महापुरुषाय मध्यमपुरुषायोत्तमपुरुषाय ब्रह्मचारिणे नमः। नमश्चन्द्रललाटाय कृत्तिवाससे नमः॥ १२॥

नायमेको मन्त्रः। एताश्चाऽऽज्याहुतय इति बहुवचननिर्देशात्। किं तर्हि। त्रयोदशैते मन्त्राः। नमस्कारादयो नमस्कारान्ताश्च सर्वे। तत्र प्रथमे चतुर्थ्यन्तानि षड् देवस्य नामानि। द्वितीये चत्वारि। तथा तृतीये। चतुर्थे त्रयोदश। महते देवायेति महादेवपदमेव व्यस्तमुक्तम्। पञ्चमादिषु त्रिषु द्वे। अष्टमे षट्। नवमे पञ्च। दशमे द्वे। तथैकादशे। द्वादशे षट्। त्रयोदशे द्वे। इति षट्पञ्चाशद्देवनामानि। एभिर्मन्त्रैस्तर्पणमनुसवनम्॥ १२॥

अहंभाव को उत्पन्न करने वाले, मोह को उत्पन्न करनेवाले, दान देनेवाले, पाप का नाश करने वाले और तप करनेवाले पुनर्वसु को नमस्कार है। मुखवास की भेंट को, जल के तर्पण को ग्रहण करने वाले, धन जीतने वाले और विश्व की विजय करने वाले को नमस्कार है। सफलता देनेवाले को, पूरी सफलता देनेवाले को, महान् सफलता देने वाले को, प्रयत्नों को सफल बनाने वाले को नमस्कार है। पशुपति महान देव, तीन आँखों वाले, अकेले विचरण करने वाले रुद्र को, अधिपति हर को, शर्व को, ईशान को, उग्र को, वज्र धारण करने वाले, भयंकर जटाधारी को नमस्कार है। सूर्य और आदित्य को नमस्कार है। नीली ग्रीवा वाले, काले कण्ठ वाले को नमस्कार है। कृष्ण वर्ण वाले, भूरे वर्ण वाले को नमस्कार है। ज्येष्ठ को, श्रेष्ठ को, वृद्ध को, इन्द्र को, हरिकेश और ऊर्ध्वरेतस को नमस्कार है। सत्य, पावक, पावक वर्ण वाले काम और कामरूपी को नमस्कार है। दीप्त और दीप्तरूपी को नमस्कार है। तीक्ष्ण और तीक्ष्णरूपी को नमस्कार है। सौभ्य को, सुन्दर पुरुष, महापुरुष, मध्यपुरुष और उत्तम पुरुष ब्रह्मचारी को नमस्कार है। सिर पर चन्द्रमा धारण करनेवाले और चर्म धारण करने वाले को नमस्कार है॥ १२॥

एतदेवाऽऽदित्योपस्थानम्॥ १३॥

आदित्य उपस्थीयते येन तदादित्योपस्थानम्। एतेन कृत्स्नेन मन्त्रे-

णाऽऽदित्य उपस्थेय इत्युक्तं भवति । एतदप्यनुसवनं प्रत्यहम् । सकृदित्यन्ये । पृथग्योगकरणात् । अन्यथाऽथोदकतर्पणमादित्योपस्थानं चेत्येकमेव योगमकरिष्यत् ॥ १३ ॥

इसी मन्त्र से सूर्यकी पूजा करनी चाहिए ॥ १३ ॥

एता एवाऽऽज्याहुतयः ॥ १४ ॥

एता इति मन्त्रमपि परामृशति । एतच्छब्दस्याऽहुतिसामानाधिकरण्यात्स्त्रीलिङ्गता । एतैरेव त्रयोदशभिर्मन्त्रैराज्यमपि होतव्यमित्युक्तं भवति । तत्र "जुहोतिचोदना स्वाहाकारप्रदाना" इति स्वाहाकारान्तैर्होमः प्रत्यहं सकृत्कर्तव्यः ॥ १४ ॥

इन्हीं मन्त्रों से आज्य की आहुति प्रदान करे ॥ १४ ॥

द्वादशरात्रस्यान्ते चरुं श्रपयित्वैताभ्यो देवताभ्यो जुहुयात् ॥ १५ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेण द्वादशरात्रं नीत्वा तदन्ते त्रयोदशेऽहनि गृह्योक्तेन मार्गेण चरुं श्रपयित्वैताभ्यो वक्ष्यमाणाभ्यो देवताभ्यो जुहुयात् ॥ १५ ॥

बारह दिन के बाद चरु बनाकर इन देवताओं के लिए बलिप्रदान करे ॥ १५ ॥

ता आह—

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहाऽग्नीषोमाभ्यामिन्द्राग्निभ्यामिन्द्राय विश्वेभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मणे प्रजापतयेऽग्नये स्विष्टकृत इति ॥ १६ ॥

स्विष्टकृता सह नवाऽहुतयः । द्विः स्वाहाकारपाठोऽनुषङ्गप्रकारदर्शनार्थः । सर्व एव स्वाहाकारान्ताः [इत्यर्थः] ॥ १६ ॥

अग्नि के लिये, स्वाहा; सोम के लिए, स्वाहा; अग्नीषोम के लिये, स्वाहा; इन्द्र और अग्नि के लिये, इन्द्र के लिये, सभी देवताओं के लिये, ब्रह्मा के लिये, प्रजापति के लिये, अग्नि स्विष्टकृत के लिये ॥ १६ ॥

ततो ब्राह्मणतर्पणम् ॥ १७ ॥

ततो होमानन्तरं ब्राह्मणास्तर्पयितव्या भोजनादिभिः । शुचीन्मन्त्रवतः सर्वकृत्येषु भोजयेदित्यापस्तम्बः ॥ १७ ॥

तब ब्राह्मणों को भोजन करावे ॥ १७ ॥

एतेनैवातिकृच्छ्रो व्याख्यातः ॥ १८ ॥

स्पष्टम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार अतिकृच्छ्र व्रत बताया गया है ॥ १८ ॥

यस्त्वस्य विशेषस्तमाह—

यावत्सकृदाददीत तावदश्नीयात् ॥ १९ ॥

एकेन पाणिना यावत्सकृदादातुं शक्नुयात्तावदेवाश्नीयात्। हविष्यं दिवा नक्तमयाचितमुपवास इति विशेषाः स्थिता एव। अत्र मनुः—

एकैकं ग्रासमश्नीयात्त्र्यहाणि त्रीणि पूर्ववत्।
त्र्यहं चोपवसेदन्त्यमिति कृच्छ्रः स उच्यते ॥ १९ ॥

लेकिन यह व्रत करते समय उतना ही भोजन करना चाहिए जितना एक बार खा सके ॥ १९ ॥

अब्भक्षस्तृतीयः स कृच्छ्रातिकृच्छ्रः ॥ २० ॥

पूर्वोक्तेष्वेव भोजनकालेषु केवलमुदकमेव पिबेत्स एष तृतीयः कृच्छ्रातिकृच्छ्रो नाम वेदितव्यः। अत्रोपवासदिनेष्वाचमनव्यतिरेकेणोदकपानमपि न भवति। त एते त्रयः कृच्छ्रा उक्ताः ॥ २० ॥

तीसरा कृच्छ्र वह होता है जिसमें केवल जल का सेवन किया जाता है और उसे कृच्छ्रातिकृच्छ्र व्रत कहते हैं ॥ २० ॥

तेषु—

प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति ॥ २१ ॥

प्रथमं प्राजापत्यं चरित्वा शुचिः 'संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु' इत्यादिना विहिताकरणनिमित्तेन दोषेण हीनः। पूतः प्रतिषिद्धाचरणजन्येनाधर्मेण रहितः। कर्मण्यः कर्मसु योग्यश्च भवति। कर्मण्य इति वचनादप्रज्ञातदोषस्यापि कृच्छ्रानुष्ठानादेवानादिष्टेषु कर्मसु योग्यतेति ज्ञाप्यते ॥ २१ ॥

इनमें से प्रथम कृच्छ्र करने वाला पवित्र और अपने वर्ण का कर्म करने के लिये योग्य बन जाता है ॥ २१ ॥

द्वितीयं चरित्वा यत्किंचिदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात्प्रमुच्यते ॥ २२ ॥

द्वितीयमतिकृच्छ्रं चरित्वा महापातकव्यतिरिक्तैः पापैर्मुच्यते ॥२२॥

दूसरे कृच्छ्र व्रत को करने वाला महापातकों के अतिरिक्त अन्य सभी पापों से शुद्ध हो जाता है ॥ २२ ॥

तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुच्यते ॥ २३ ॥

तृतीयं कृच्छ्रातिकृच्छ्रं चरित्वा सर्वस्मान्महापातकादप्येनसोऽनभिसंधिकृतान्मुच्यते ॥ २३ ॥

तीसरे कृच्छ्र व्रत को करने वाले के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥

एवं व्यस्तानां फलमुक्त्वा समस्तानामाह—

अथैतांस्त्रीन्कृच्छ्रांश्चरित्वा सर्वेषु वेदेषु स्नातो भवति सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति ॥ २४ ॥

य एतांस्त्रीन्कृच्छ्रानव्यवधानेनानुतिष्ठति तस्य सर्वान्वेदानधीत्य स्नातस्य यत्फलं तत्तुल्यं फलं भवति। सर्वेषां देवानां लोका जितास्तेन ॥ २४ ॥

इन तीनों कृच्छ्र व्रतों को करने वाला सभी वेदों में पूर्ण और सभी देवों में प्रख्यात हो जाता है ॥ २४ ॥

अथ विदुषः प्रशंसा—

यश्चैवं वेद [यश्चैवं वेद] ॥ २५ ॥

यश्चैतान्कृच्छ्रान्स्वरूपेणेतिकर्तव्यतया फलेन विजानाति सोऽपि सर्वेषु वेदेषु स्नातो भवति। सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। एवं ज्ञानं प्रशस्तमित्यर्थः। [द्विरुक्तिरुक्तार्था] ॥ २५ ॥

इसी प्रकार इन्हें जानने वाला भी पूर्ण और प्रख्यात होता है ॥ २५ ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
तृतीयप्रश्नेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ तृतीयप्रश्ने नवमोऽध्यायः

अथातश्चान्द्रायणम् ॥ १ ॥

पूर्ववद् व्याख्येयम्। चन्द्रप्राप्तिनिमित्तभूतं कर्म चान्द्रायणम्। तथा चान्ते वक्ष्यति–चन्द्रमसः सलोकतामाप्नोतीति ॥ १ ॥

अब हम चान्द्रायण व्रत का वर्णन करेंगे ॥ १ ॥

तस्योक्तो विधिः कृच्छ्रे ॥ २ ॥

तिष्ठदहनीत्यादिको यो विधिः कृच्छ्रः उक्तः स चान्द्रायणस्यापि द्रष्टव्यः ॥ २ ॥

कृच्छ्र के लिए विहित सामान्य नियम चान्द्रायण में भी होते हैं ॥ २ ॥

यस्तु विशेषः स उच्यते—

वपनं व्रतं चरेत् ॥ ३ ॥

व्रतमिति प्रायश्चित्तमाह। 'एतैर्द्विजातयः शोध्या व्रतैराविष्कृतैनसः' इत्यादौ दर्शनात्। यदि प्रायश्चित्तार्थं चान्द्रायणं क्रियते तदा वपनमपि कर्तव्यम्। अविशेषेऽपि पुरुषाणामेव। तदेव स्त्रियाः केशवपनवर्जमिति बौधायनस्मरणम्। चान्द्रायणे वपनविधानात्कृच्छ्रे प्रायश्चित्तार्थेऽपि न भवति। व्रतं चरेदिति वचनाददृष्टार्थे कर्मण्यतार्थे च चान्द्रायणे न वपनम् ॥ ३ ॥

यदि चान्द्रायण प्रायश्चित्त के लिए किया जा रहा हो तो केश मुड़ा दिये जाँय ॥ ३ ॥

श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेत् ॥ ४ ॥

श्वः पौर्णमासी भवितेत्यवगम्य पूर्वेद्युश्चतुर्दश्यामुपवसेत्। उपवासो भोजनलोपः ॥ ४ ॥

पौर्णमासी के एक दिन पहले उपवास करे ॥ ४ ॥

आप्यायस्व सं ते पयांसि नवो नव इति चैताभिस्तर्पण-माज्यहोमो हविषश्चानुमन्त्रणमुपस्थानं चन्द्रमसः ॥ ५ ॥

आप्यायस्वेत्यादिभिर्मन्त्रैस्तर्पणादीनि चत्वारि कर्माणि कर्तव्यानि। त्र षण्याद्यथासंख्यं न भवति। तत्र तर्पणहोमौ प्रतिमन्त्रं भवतः। अनु-

मन्त्रणमुपस्थानं च समुच्चयेन। कृच्छ्रविध्यतिदेशाद्रौद्रेण य उदकतर्पणादयः प्राप्तास्तेषां च समुच्चय इत्येके। उपदिष्टैरतिदिष्टानां बाध इत्यन्ये ॥५॥

'आप्यास्व सं ते पयांसि नवो नव' मन्त्र से जल का तर्पण करे, घृत का होम करे, हवि का अनुमन्त्रण करे एवं चन्द्रमा की पूजा करे ॥ ५ ॥

यद्देवा देवहेडनमिति चतसृभिर्जुहुयात् ॥ ६ ॥

यद्देवा देवहेडनमित्यनुवाक आदितश्चतसृभिर्ऋग्भिरनादेशादाज्यं जुहुयात् पूर्वाभिस्तिसृभिश्चेति सप्ताऽऽज्याहुतयः ॥ ६ ॥

'यद्देवा देवहेडनम्' आदि चार ऋचाओं का उच्चारण करते हुए आज्य की आहुति करे ॥ ६ ॥

देवकृतस्येति चान्ते समिद्भिः ॥ ७ ॥

आज्यहोमान्ते देवकृतस्येत्यादिभिः पूर्वोक्तैरष्टभिर्मन्त्रैः समिद्भिर्होमः कर्तव्यः। उपदेशक्रमादेव सिद्धेऽन्तग्रहणं प्राप्तानुवादः। अन्ये पुनश्चान्द्रायणान्त इति व्याचक्षते। तेषां च शब्दो न संगच्छते ॥ ७ ॥

आज्य-होम के उपरान्त 'देवकृतस्य' आदि मंत्रों से समिधाओं का होम करे ॥ ७ ॥

ओं भूर्भुवः स्वस्तपः सत्यं यशः श्रीरूर्गिडौजस्तेजो वर्चः पुरुषो धर्मः शिव इत्येतैर्ग्रासानुमन्त्रणं प्रतिमन्त्रं मनसा ॥ ८ ॥

प्रणवादयः पञ्चदश मन्त्रास्तेषामेकैकेन मन्त्रेणैकैकस्य ग्रासस्य मनसाऽनुमन्त्रणं कर्तव्यम्। अनुमन्त्रणक्रमेण भोजनम्। यदा तु न्यूना ग्रासास्तदा यावद्ग्रासमादितो मन्त्रा ग्राह्याः। अन्ततो लुप्यन्ते। ग्रासानुमन्त्रणमिति वचनान्नैते भोजनमन्त्राः। ततश्च प्राणाहुतिमन्त्राणामनिवृत्तिः। यदा चत्वारो ग्रासास्तदा द्वाभ्यां पूर्वं यदा त्रयो द्वाभ्यां द्वाभ्यां पूर्वौ यदा द्वौ द्वाभ्यां पूर्वमुत्तरं त्रिभिः। सर्वैरेकम्। हविषश्चानुमन्त्रणमिति पूर्वोक्तमिह तु ग्रासानुमन्त्रणमिति प्राणाहुतिमन्त्राश्च स्थिताः। तत्र प्रयोगः—सर्वं भोज्यं पात्रे निधायाऽप्यायस्वेत्यादिभिरनुमन्त्र्य ग्रासान्कृत्वा प्रणवादिभिः क्रमेणानुमन्त्र्य प्राणाहुतीः कृत्वा प्राश्नीयादिति ॥८॥

प्रत्येक ग्रास का मन में इन मंत्रों का जप करके अभिमंत्रण करे : ओं, भूः, भुवः, स्वः, तपः, सत्यं, यशः, श्रीः, ऊर्गिड, ओजस्, तेजस्, वर्चस्, पुरुष, धर्मः, शिवः ॥ ८ ॥

नमः स्वाहेति वा सर्वान् ॥ ९ ॥

अथवा सर्वानेव ग्रासान्नमः स्वाहेत्यनुमन्त्रयेत् । नमः स्वाहेत्यनयोर्विकल्पः । समुदितो मन्त्र इत्यन्ये ॥ ९ ॥

अथवा नमः स्वाहा कहकर सभी ग्रासों को अभिमन्त्रित करे ॥ ९ ॥

ग्रासप्रमाणमास्याविकारेण ॥ १० ॥

यावत्प्रमाणे ग्रासे ग्रस्यमान आस्यमविकृतं भवति तावत्तस्य प्रमाणम् ॥ १० ॥

जितना ग्रास ग्रहण करने से मुख विकृत न हो उतने ही परिमाण का ग्रास होना चाहिए ॥ १० ॥

चरुभैक्षसक्तुकणयावकशाकपयोदधिघृतमूलफलोदकानि हवींष्युत्तरोत्तरं प्रशस्तानि ॥ ११ ॥

हविष्यैरुपकल्पितो नवस्रावितो विशदसिद्धौदनश्चरुः । भैक्षं ब्रह्मचारिणा शिष्यादिना स्वयमानीतम् । गृहस्थस्य भिक्षाचरणनिषेधात् । चूर्णीकृता लाजाः सक्तवः । कणाः फलीकरणानि । यावकः पूर्वमुक्तः । अन्यानि प्रसिद्धानि । द्वादशैतानि हवींषि । तेषु च पूर्वस्मात्पूर्वस्मादुत्तरमुत्तरं प्रशस्तम् । तत्र द्रवाणां पत्रपुटादिना ग्रासकल्पना । तपांसि चैतेषु गुरुषु गुरूणि लघुषु लघूनि ॥ ११ ॥

चरु, भिक्षा में प्राप्त अन्न, सक्तु, कण, यावक, शाक, दूध, दही, घृत, मूल, फल और उदक ये हवियाँ हैं और उनमें पहले वाले से बाद वाला क्रमशः अधिक उत्तम होता है ॥ ११ ॥

पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासान्भुक्त्वैकापचयेनापरपक्षमश्नीयात् ॥ १२ ॥

एवं चतुर्दश्यामुपोष्यापरेद्युः पञ्चदश्यां पञ्चदश ग्रासानशित्वा ततः परमेकापचयेन द्विर्वचने सत्यर्थः स्पष्टो भवति प्रत्यहमेकैकापचयेनेति । सर्वमेवापरपक्षमश्नीयात् । तिथिह्रासे क्रमप्राप्ते नवमीभोजने यदा प्रातः पञ्च नाड्यो नवमी, अपरेद्युश्च दशमी नास्ति तदा पूर्वेद्युरागतायामेव नवम्यां नव ग्रासान्भुक्त्वाऽपरेद्युरेकादशीप्राप्तानेकादश ग्रासान्भुञ्जीत । दशमीप्राप्तानां दशग्रासानां लोपः । एवं तिथिवृद्धावेकादशीग्रासे प्राप्ते यदा षड्विंशतिनाडिका दिवा दशमी चतस्र एकादशी, अपरेद्यू रात्रावपि

कियत्यप्येकादशी तदा पूर्वेद्युरेकादश्यां प्रनिविष्टायामेकादश ग्रासान्भुक्त्वाऽपरेद्युरपि तानेवैकादश भुञ्जीत। तस्यापरेद्युर्द्वादशेति प्रयोगः।

यथाकथंचित्पिण्डानां तिस्रोऽशीतीः समाहितः।
मासेनाश्नन्हविष्यस्य चन्द्रस्यैति सलोकताम् ॥

इति मानवे चान्द्रायणान्तरं विधीयते। न पुनरुपचयापचयरूप उक्ते चान्द्रायणे पिण्डसंख्यानियमः। तथा च याज्ञवल्क्येन स्पष्टमुक्तम्—

यथाकथंचित्पिण्डानां चत्वारिंशच्छतद्वयम्।
मासेनैकेन भुञ्जीत चान्द्रायणमथापरम् ॥ इति ॥ १२ ॥

पौर्णमासी के दिन पन्द्रह ग्रास खाकर मास के कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक-एक ग्रास कम करता जाये ॥ १२ ॥

अमावास्यायामुपोष्यैकोपचयेन पूर्वपक्षम् ॥ १३ ॥

एवमेकापचयेन ग्रस्यमानेषु चतुर्दश्यामेको ग्रासो भवति। अमावास्यायामुपवासः अमावास्यायामुपोष्य पूर्वपक्षप्रतिपद्येकं ग्रासमशित्वैकैकोपचयेनैकैकग्रासवृद्ध्या कृत्स्नमेव पूर्वपक्षमश्नीयात्। पौर्णमास्यां पञ्चदश भवन्ति। तदेतत्तनुमध्यत्वात्पिपीलिकामध्यं चान्द्रायणम् ॥ १३ ॥

अमावास्या के दिन उपवास करे और शुक्लपक्ष में प्रतिदिन एक-एक ग्रास बढ़ाता जाये ॥ १३ ॥

विपरीतमेकेषाम् ॥ १४ ॥

एकेषामाचार्याणां मतेनेदमेव विधानं विपरीतं भवति। अमावास्यायामुपोष्यैकोपचयेन पूर्वपक्षमशित्वा कृष्णप्रतिपदमारभ्यैकापचयेनापरपक्षमश्नीयाच्चतुर्दश्यामेको ग्रासो भवति। अमावास्यायामुपवासः। तदेतत्स्थूलमध्यत्वाद्यवमध्यं चान्द्रायणम् ॥ १४ ॥

कुछ आचार्यों के अनुसार यह क्रम इसके विपरीत होना चाहिए ॥ १४ ॥

एवं चान्द्रायणो मासः ॥ १५ ॥

एवं माससाध्यं चान्द्रायणं तद्योगादेष मासश्चान्द्रायणः। यद्यप्युक्ते प्रकारे पिपीलिकामध्ये द्वात्रिंशदहानि यवमध्ये चैकत्रिंशत्तथाऽपि न वैकेनाक्षरेणेति न्यायेनैष मास इत्युक्तम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार चान्द्रायण मास होता है ॥ १५ ॥

एवमाप्त्वा विपापो विपाप्मा सर्वमेनो हन्ति ॥ १६ ॥

एवमेवंविधं चान्द्रायणं मासमाप्त्वा माससाध्यमेतद्व्रतं कृत्वा

विपापो विहिताकरणजन्यपापहीनो भवति । विपाप्मा निषिद्धाचरणभवपापहीनः । सर्वमेनो हन्ति यच्चान्यज्जन्मान्तरार्जितं सूक्ष्ममेनस्तदपि सर्वं हन्ति ॥ १६ ॥

जो इस व्रत को पूरा कर लेता है वह सभी पापों से मुक्त और सभी दोषों से शुद्ध हो जाता है, उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १६ ॥

द्वितीयमाप्त्वा दश पूर्वान्दश परानात्मानं चैकविंशं पंक्तिं च पुनाति ॥ १७ ॥

द्वावाप्त्वेति वक्तव्ये द्वितीयमिति वचनं नैरन्तर्यार्थं द्वितीयं मासं निरन्तरमाप्त्वेति । कथं पुनर्नैरन्तर्यस्य संभवः । यावता पिपीलिकामध्ये श्वोभूतां पौर्णमासीमुपवसेदित्युक्तं पौर्णमास्यां पञ्चदश ग्रासान्भुक्त्वेति च तथाऽमावास्यायामुपोष्यैकैकोपचयेन पूर्वपक्षमश्नीयादिति तद् द्वितीयपौर्णमास्यन्तः स प्रयोगः। तदनन्तरं द्वितीयस्याऽऽरम्भे चतुर्दश्यामुपवासः । पञ्चदश्यां पञ्चदश ग्रासानिति च नोपपद्यते । तस्मादेवमत्र वक्तव्यम्—नात्र द्वयोश्चान्द्रायणयोर्विधानम् । किं तर्हि । मासद्वयसाध्यमेकं चान्द्रायणम् । तस्यैष फलविधिः । तस्याऽऽदौ चतुर्दश्यामुपवासस्तृतीये पौर्णमास्यन्तश्च प्रयोगः । मध्ये यथोक्तम् । द्वितीया च पौर्णमासी तन्त्रेण प्रथमस्यान्त्या द्वितीयस्याऽऽद्या । एवं यवमध्ये द्वितीयाऽमावास्या । एतेन संवत्सरं चाऽऽप्त्वेति व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

जो दो मास तक इस व्रत का पालन करता है वह स्वयं को तथा अपने पहले और बाद की दस-दस पीढ़ियों को एवं जिस समुदाय में वह निमन्त्रित होता है उसे भी पवित्र करता है ॥ १७ ॥

संवत्सरं चाऽऽप्त्वा चन्द्रमसः सलोकतामाप्नोति सलोकतामाप्नोति ॥ १८ ॥

यस्तु संवत्सरमव्यवधानेन चान्द्रायणव्रतं चरति स चन्द्रमसः सालोक्यमाप्नोति । द्विरुक्तिर्व्याख्याता । अत्र मनुः—

> अष्टावष्टौ समश्नीयात्पिण्डान्मध्यंदिने स्थिते ।
> नियतात्मा हविष्यस्य यतिचान्द्रायणं चरन् ॥
> चतुरः प्रातरश्नीयाद् द्विजः पिण्डान्समाहितः ।
> चतुरोऽस्तमिते सूर्ये शिशुचान्द्रायणं चरन् ॥ इति ।

यथाकथंचित्पिण्डानामिति च ।। १८ ।।

इस प्रकार एक वर्ष व्यतीत करने वाला (मृत्यु के बाद) चन्द्रमा के लोक में निवास करता है ।। १८ ।।

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
तृतीयप्रश्ने नवमोऽध्यायः ।। ९ ।।

अथ तृतीयप्रश्ने दशमोऽध्यायः

अथ दायविभागः—

ऊर्ध्वं पितुः पुत्रा रिक्थं भजेरन् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वं पितुः पितरि मृते तदीयं रिक्थं स्वगृहक्षेत्रदासगवाश्वस्वर्णादिकं पुत्रा भजेरन्पुत्रास्तत्र भागिनः। पुत्राणां तत्स्वामित्वमित्युक्तं भवति। ऊर्ध्वं पितुरिति वचनाज्जीवति तस्मिन्न तत्र पुत्राणां स्वाम्यम्। तथा च मनुः—

ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः सह।
भजेरन्पैतृकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतोः॥ इति।

पितृशब्दस्य संबन्धिशब्दत्वादेव सिद्धे पुत्रग्रहणं नियमार्थम्। तेन पितुरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेदित्यादिवचनजातमाचार्यस्याभिमतं न भवति। पुत्रा एवं सर्वं धनादिकं गृहीत्वा मातरं यथावद्रक्षेयुरिति मन्यते। श्रूयते च—तस्मात्स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादा इति। मनुरप्याह—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रास्तु स्थविरीभावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ इति॥ १॥

पिता की मृत्यु के बाद पुत्र उसकी सम्पत्ति प्राप्त करे॥ १॥

निवृत्ते रजसि मातुर्जीवति चेच्छति ॥ २ ॥

अथवा जीवत्यपि पितरि पुत्रा रिक्थं भजेरन्निति। इच्छति सति। तदनुज्ञयेत्यर्थः। तस्य कालः—

निवृत्त रजसि मातुः। उपरतरजस्कायां निवृत्तप्रसवायामित्युक्तं भवति॥ २॥

अथवा पिता के जीवन-काल में भी माता के रजोदर्शन-आयु समाप्त होने पर इच्छानुसार विभाजन करे॥ २॥

सर्वं वा पूर्वजः स्वेतरान्बिभृयात्पितृवत् ॥ ३ ॥

ज्येष्ठ एव सर्वं धनं स्वीकृत्य गृहीत्वेतरान्कनिष्ठान्बिभृयात्। तेऽपि तस्मिन्पुत्रवद्वर्तेरन्॥ ३॥

अथवा सभी सम्पत्ति ज्येष्ठ पुत्र को प्राप्त हो और वह शेष लोगों का पिता के तुल्य भरण-पोषण करे ॥ ३ ॥

विभागे तु धर्मवृद्धिः ॥ ४ ॥

तु शब्दः पक्षं व्यावर्तयति । नैतदेवं ज्येष्ठ एव बिभृयादिति । यदुक्तं विभाग एव ज्यायान्यतस्तत्र धर्मवृद्धिः । यथाऽऽह बृहस्पतिः—

एकपाकेन वसतां पितृदेवद्विजार्चनम् ।
एकं भवेद्विभक्तानां तदेव स्याद् गृहे गृहे ॥ ४ ॥

किन्तु विभाग से धर्म की वृद्धि होती है ॥ ४ ॥

अधुना पितुरूर्ध्वं जीवति च तस्मिन्विभागप्रकारमाह—

विंशतिभागो ज्येष्ठस्य मिथुनमुभयतोदद्युक्तो रथो गोवृषः ॥ ५ ॥

सर्वस्मात्पितृधनाद्विंशतितमो भागः, मिथुनं गवादिषु स्त्रीपुंसयोर्युग्मम् । उभयतोदन्ता अश्वाश्वतरगर्दभास्तेषामन्यतमाभ्यां युक्तो रथः गोवृषः पुंगवः । अयमुद्धारो ज्येष्ठस्य ॥ ५ ॥

ज्येष्ठ पुत्र को सम्पत्ति का बीसवाँ भाग एक-दन्तपंक्ति वाले एक नर और मादा पशु जैसे कोई और दो दन्तपंक्ति वाले पशुओं से जुती हुई गाड़ी तथा एक बैल अतिरिक्त मिलता है ॥ ५ ॥

काणखोरकूटवण्टा मध्यमस्यानेकाश्चेत् ॥ ६ ॥

काण एकनेत्रः । विकलाङ्ग इति यावत् । खोरो वृद्धः । खोट इति पाठे विकलपादः । कूटः शृङ्गहीनः । वण्टो विकलवालधिः । गवाश्वादिषु य एवंरूपः स मध्यमस्योद्धारः । स च काणादिर्यद्यनेको भवति । इतरेषामप्यस्ति चेदिति ॥ ६ ॥

मझले पुत्र को एक आँख वाले, बूढ़े, बिना सींग और बिना पूँछ वाले पशु अतिरिक्त मिलते हैं, यदि अनेक पशु हों तो ॥ ६ ॥

अविर्धान्यायसी गृहमनोयुक्तं चतुष्पदां चैकैकं यवीयसः ॥ ७ ॥

अविरूर्णायुः । जातावेकवचनम् । यावन्तोऽवयः । एकस्य चतुष्पदां चैकैकमित्येव सिद्धत्वात् । अपर आह—यद्यपि पितुरेक एवाविस्तथाऽपि स यवीयसः । चतुष्पदां चैकैकमिति तु बहुविषयमिति । धान्यं व्रीह्यादि । अय आयसं दात्रादि । धान्यमयश्चेति धान्यायसी । एतदुभयं यावत्किंचिद् गृहे । गृहं यत्राऽऽस्यते । अनः शकटं युक्तं बाह्याभ्याम् । चतुष्पदां च गवादीनामेकमिष्टं गृह्णीयात् । अयं कनीयस उद्धारः । अयं च सर्वकनीयसः । इतरेषामुद्धारो यो मध्यमस्य ॥ ७ ॥

सब से छोटे पुत्र को अतिरिक्त अंश के रूप में भेड़, अन्न, लौह पात्र, घर, सफेद बैलों से जुती हुई गाड़ी और अन्य सभी प्रकार के पशुओं में से एक-एक पशु मिलते हैं ॥ ७ ॥

समधा चेतरत्सर्वम् ॥ ८ ॥

इतरदुद्धृतशिष्टं सर्वं सर्वे समधा गृह्णीयुः। सममित्यर्थः। द्विधा बहुधेत्यादौ दृष्टो धाप्रत्ययः प्रयुक्तः ॥ ८ ॥

शेष सम्पत्ति का विभाजन होता है ॥ ८ ॥

एकैकं वा धनरूपं काम्यं पूर्वः पूर्वो लभते ॥ ९ ॥

कल्पान्तरेषु बहुषु क्षेत्रादिष्वेकैकं धनरूपं ज्येष्ठानुपूर्व्याद् गृह्णीयुः। काम्यं यस्य यदिष्टं स तद् गृह्णीयादिति। सर्वेष्विष्टं ज्येष्ठस्तद्रहितेष्विष्टमनन्तर इति। अयमुद्धारः सर्वेषाम् ॥ ९ ॥

अथवा ज्येष्ठता के अनुसार वे इच्छानुसार एक प्रकार की सम्पत्ति ग्रहण करें ॥ ९ ॥

अत्रैव पशुषु विशेषः—

दशकं पशूनाम् ॥ १० ॥

दशावयवा अस्य दशकः। पशूनां गवादीनां मध्ये दशकं दशकं पूर्वो लभते न त्वेकमिति ॥ १० ॥

अथवा दस-दस पशु (ग्रहण करें) ॥ १० ॥

अस्यापवादः—

नैकशफद्विपदाम् ॥ ११ ॥

एकशफानामश्वादीनां द्विपदां दास्यादीनां च दशकं न गृह्णीयुः। किंतु पूर्वोक्तमेकैकमेवेति। द्विपदानामिति पाठे पादशब्देन समानार्थः पदशब्दः। एवमेकमातृकाणां सोद्धारो विभाग उक्तः ॥ ११ ॥

किन्तु किसी भाई को दस एक खुर वाले पशु या दस सेवक या सेविका न मिले ॥ ११ ॥

अथानेकमातृकाणामाह—

ऋषभोऽधिको ज्येष्ठस्य ॥ १२ ॥

उत्तरसूत्रे ज्यैष्ठिनेयस्येति वचनादयं ज्येष्ठः कानिष्ठिनेयः। यदि कनीयस्याः पुत्रो भवति तदा तस्य ऋषभ उद्धारः। सममन्यत् ॥ १२ ॥

(यदि अनेक स्त्रियाँ हों तो) पहली स्त्री के पुत्र को एक बैल अधिक मिले ॥ १२ ॥

ऋषभषोडशा ज्यैष्ठिनेयस्य ॥ १३ ॥

ज्येष्ठस्येति वर्तते । ज्येष्ठायाः पुत्रश्च भवति यो ज्येष्ठश्च भवति तस्य पञ्चदश गाव ऋषभश्चैक उद्धारः । सममन्यत् ॥ १३ ॥

सबसे बड़े पुत्र को (प्रथम पत्नी से उत्पन्न होने के कारण) पन्द्रह गायें और एक बैल मिले ॥ १३ ॥

अथ ऋषभोऽधिको ज्येष्ठस्येत्यस्यापवादः—

समधा वाऽज्यैष्ठिनेयेन यवीयसाम् ॥ १४ ॥

ज्येष्ठस्येति वर्तते । तच्चाज्यैष्ठिनेयेनेत्यनेन सामानाधिकरण्यात्तृतीयान्तं संपद्यते । अज्यैष्ठिनेयेन कनिष्ठायां जातेन ज्येष्ठेन सह यवीयसां ज्यैष्ठिनेयानां समो वा विभागः । एकस्य जन्मतो ज्यैष्ठ्यमन्येषां मातृत इति ॥ १४ ॥

अथवा बाद को विवाहित पत्नी से उत्पन्न हो तो ज्येष्ठ पुत्र पहली पत्नी से उत्पन्न छोटे पुत्रों के साथ बराबर भाग ग्रहण करे ॥ १४ ॥

प्रतिमातृ वा स्वस्ववर्गे भागविशेषः ॥ १५ ॥

विंशतिभागो ज्येष्ठस्येत्यादिर्य उक्तो भागविशेषः स प्रतिमातृ वा स्वे स्वे सर्गे विशेषः कर्तव्यः । एतदुक्तं भवति—यावत्यो मातरः पुत्रवत्यस्तावता विभक्ते धन एकस्या यावन्तः पुत्रास्तेषां भागानेकीकृत्य तत्र तत्र वर्गे यो यो ज्येष्ठस्तस्य विंशतिभागो ज्येष्ठस्येत्यादिर्भागविशेष इति । एवं पुत्रवतो विभाग उक्तः ॥ १५ ॥

अथवा माता के अनुसार प्रत्येक वर्ग के पुत्रों का विशेष भाग निर्धारित होना चाहिए ॥ १५ ॥

अथापुत्रस्याऽऽह—

पितोत्सृजेत्पुत्रिकामनपत्योऽग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वाऽस्मदर्थमपत्यमिति संवाद्य ॥ १६ ॥

पिता नाम तामुत्सृजेद्दद्यात् । भाविसंज्ञानिर्देशोऽयम् । यथा यूपं छिनत्तीति । पुत्रिकां भविष्यन्तीं दुहितरमनपत्योऽपुत्रोऽग्निं प्रजापतिं चेष्ट्वाऽग्नये स्वाहा प्रजापतये स्वाहेत्याज्यभागानन्तरमौपासन आज्येन

हुत्वाऽस्मदर्थमपत्यमिति संवाद्य यस्मै ददाति तेन संवादं कारयित्वा। तत्र प्रकारो वसिष्ठेन दर्शितः—

अभ्रातृकां प्रदास्यामि तुभ्यं कन्यामलंकृताम्।
अस्यां जनिष्यते पुत्रः स मे पुत्रो भवेदिति ॥

एवं दत्ता सा पुत्रिका तस्यां जातो मातामहस्यैव पुत्रो नोत्पादयितुः। अत एव मनुः—

मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः।
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तु पितुः पितुः ॥ इति।

एवं सर्वे गर्भाः पुत्रिकाऽप्येषा पितुः पुत्रप्रतिनिधिः। 'इवे प्रतिकृतौ' संज्ञायां कन्निति। सैव च रिक्थग्राहिणी। तथा च मनुः—

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनुजायते।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥ इति।

गोत्रमपि तस्याः पितुरेव गोत्रम्। भर्तुस्तु केवलं धर्मेषु सहचारिणी रतिफला च। पुत्रार्थं तु विवाहान्तरं कर्तव्यं स्वकुलसंतानार्थमन्यथा दोषः ॥ १६ ॥

जिस पिता को कोई पुत्र न हो वह अग्नि और प्रजापति को भेंट चढ़ाकर अपनी पुत्री से 'अस्मदर्थमपत्यम्' 'मेरे लिये तेरा पुत्र हो' ऐसा कहकर पुत्र उत्पन्न करने को कहे ॥ १६ ॥

अभिसंधिमात्रात्पुत्रिकेत्येकेषाम् ॥ १७ ॥

एके मन्यन्ते प्रदानसमये पितुर्योऽभिसंधिरियं मे पुत्रिकाऽस्त्विति तावन्मात्रकादेव दुहिता पुत्रिका भवति न होमसंवादनाद्यपेक्षेति ॥ १७ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि कन्यादान के समय ही पिता की अभिसन्धि से ही पुत्री पुत्रिका हो जाती है ॥ १७ ॥

ततश्च—

तत्संशयान्नोपयच्छेदभ्रातृकाम् ॥ १८ ॥

तत्संशयादभिसंधिसंशयात्पुत्रिकासंशयाद्वा। मनुरप्याह—

यस्यास्तु न भवेद् भ्राता न विज्ञायेत वा पिता।
नोपयच्छेत तां प्राज्ञः पुत्रिकाधर्मशङ्कया ॥ इति ॥ १८ ॥

इस भय से किसी ऐसी कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए जिसके कोई भाई न हो ॥ १८ ॥

पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा रिक्थं भजेरन्स्त्री वाऽनपत्यस्य ॥ १९ ॥

यस्य पुत्रिकारूपमप्यपत्यं नास्ति सोऽनपत्यः । तस्य रिक्थं पिण्डादिसंबन्धा भजेरन्स्त्री वा । पिण्डसंबन्धाः सपिण्डाः । गोत्रसंबन्धाः । सगोत्राः हारीतस्य हारीत इतिवत् । ऋषिसंबन्धाः समानप्रवरा हरितकुत्सपिशङ्गशङ्खदर्भहैमगवाः परस्परम् । एवमन्यत्रापि । तत्र सपिण्डाद्याः प्रत्यासत्तिक्रमेण गृह्णीयुः । तथा चाऽऽपस्तम्बः—पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्ड इति । तद्यथा—पिता माता च सोदर्यतत्पुत्रा भिन्नोदरा भ्रातरस्तत्पुत्राः पितृव्य इत्यादि । सपिण्डाभावे सगोत्रास्तदभावे समानप्रवराः । स्त्री तु सर्वैः सगोत्रादिभिः समुच्चीयते । यदा सपिण्डादयो गृह्णन्ति तदा तैः सह पत्न्यप्येकमंशं हरेत् । तथा—

पितुरूर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत् । इति ।

अत एव स्त्री पृथङ्निर्दिष्टा । सपिण्डादयः समानेन । पत्नीदायस्त्वाचार्यस्य पक्षे न भवति । मनुरपि—

निरिन्द्रिया अदायादाः स्त्रियो नित्यमिति स्थितिः । इति ।

अत्र सपिण्डाद्यभावे बृहस्पतिः—

> अन्यत्र ब्राह्मणात्किं तु राजा धर्मपरायणः ।
> तत्स्त्रीणां जीवनं दद्यादेष दायविधिः स्मृतः ॥
> अन्नार्थं तण्डुलप्रस्थमपराह्णे तु सेन्धनम् ।
> वसनं त्रिपणक्रीतं देयमेकं त्रिमासतः ॥
> एतावदेव साध्वीनां चोदितं विधिनाऽशनम् । इति ।

तदेवं मनुबृहस्पतिभ्यां पत्नीदायस्यात्यन्ताभाव उक्तः । याज्ञवल्क्येन तु पत्नीदायः स उक्तः—पत्नी दुहितरश्चेत्यादि । अत्र व्यासः—

> द्विसहस्रपणो दायः पत्न्यै देयो धनस्य तु ।
> यच्च भर्त्रा धनं दत्तं सा यथाकाममाप्नुयात् ॥ इति ।

आचार्येण तु सपिण्डादिसमांशग्रहणमुक्तम् । तत्र सर्वमेव धनं सपिण्डाद्या गृहीत्वा स्त्रियो यावज्जीवं रक्षेयुरिति मुख्यः कल्पः । तदसंभवेऽशनवसनयोः पर्याप्तं धनक्षेत्रादिकमंशत्वेन व्यपोह्य शेषं गृह्णीयुः । तथा च बृहस्पतिना पत्नीदायं प्रतिषिध्यान्त उक्तम्—

> वसनस्याशनस्यैव तथैव रजतस्य च ।
> त्रयं व्यपोह्य तच्छिष्टं दायादानां प्रकल्पयेत् ॥
> धूमावसारिकं द्रव्यं सहायास्तानतः पुरा ।
> तथैवाशनवासांसि विगणय्य धने मृता ॥ इति ॥ १९ ॥

बिना पुत्र या पुत्रिका वाले व्यक्ति के मरने पर उसके सपिण्ड, सगोत्र, समान ऋषि वाले तथा उसकी स्त्री सम्पत्ति का भागी हो ॥ १९ ॥

बीजं वा लिप्सेत ॥ २० ॥

अथवा स्त्री सपिण्डादिभ्यो बीजं लिप्सेत। अपत्यमुत्पादयेदित्युक्तं भवति। अस्मिन्पक्षे तु न सपिण्डाद्या धनं गृह्णीयुरेष्यतोऽपत्यस्यार्थाय रक्षेयुः ॥ २० ॥

अथवा सपिण्ड आदि से नियोग द्वारा पुत्रोत्पत्ति की इच्छा करे ॥ २० ॥

अस्मिन्पक्षे विशेषः—

देवरवत्यामन्यजातमभागम् ॥ २१ ॥

देवरे विद्यमाने यद्यन्यतो बीजं लिप्सेत ततस्तस्यां जातमपत्यमभागं भागरहितम्। न तस्य धनग्रहणमस्ति। असति तु देवरेऽन्यतो जातमप्यपत्यं सभागमेव ॥ २१ ॥

देवर के रहते हुए किसी अन्य पुरुष के नियोग से उत्पन्न पुत्र को उस स्त्री के पति की सम्पत्ति का भाग नहीं मिलता ॥ २१ ॥

स्त्रीधनं दुहितृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च ॥ २२ ॥

पितृमातृसुतभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्।
आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम् ॥ इति याज्ञवल्क्यः।

तत्स्त्रीधनं तस्यां मृतायां दुहितृणामप्रत्तानां भवति। यदि सर्वा अपि प्रत्ता अप्रतिष्ठितानां भवति। प्रत्तासु प्रतिष्ठिताः काश्चित्काश्चिदप्रतिष्ठिताः। प्रत्ताप्रत्तासमवायेऽप्रत्ता गृह्णाति। प्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितासमवायेऽप्रतिष्ठिता गृह्णाति। यदा प्रसूतादिधनं तदा सर्वासां भवति। एषा मातुरूढ्व जीवन्त्यां पितृकुललब्धस्य स्त्रीधनस्य गतिः। तथा च मनुः—मातुस्तु यौतकं यत्स्यात्कुमारीभाग एव सः।

वसिष्ठश्च—मातुः पारिणेयं स्त्रियो विभजेरन्निति। यत्तु शङ्खलिखिताभ्यामुक्तम्—समं सर्वे सोदर्या मातृकं द्रव्यमर्हाः स्त्रीकुमार्यश्चेति। तद्भर्तृकुललब्धेः प्रत्तासु दुहितृषु। तत्र प्रत्ताविषये प्रभूततमे मानवम्—

जनन्यां संस्थितायां तु समं सर्वे सहोदराः।
भजेरन्मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः ॥
यास्त्वासां स्युर्दुहितरस्तासामपि यथार्हतः।
मातामह्या धनात्किंचित्प्रदेयं प्रीतिपूर्वकम् ॥ इति।

तत्रैवाल्पे धने बार्हस्पत्यम्—

स्त्रीधनं तदपत्यानां दुहितॄणां तदाशिनी ।
अप्रत्ता चेत्समूढा सा लभेत तु समातृकम् ॥ इति ॥ २२ ॥

स्त्री की सम्पत्ति उसकी अविवाहिता पुत्रियों को मिलती है, अविवाहिता पुत्रियों के अभाव में निर्धन विवाहिता पुत्रियों को मिलती है ॥ २२ ॥

भगिनीशुल्कः सोदर्याणामूर्ध्वं मातुः ॥ २३ ॥

भगिनीप्रदाननिमित्तं पित्रा यद् गृहीतं द्रव्यमासुरार्षविवाहयोस्तस्मिन्मृते तस्या भगिन्या एव सोदर्या भ्रातरस्तेषां भवति । तच्च मातुरूर्ध्वं जीवन्त्यां मातरि तस्या एव न तु मृतस्य पितुरेतत्स्वमिति । तत्र ये भागिनो भिन्नोदरा भ्रातरो मातृसपत्नो चेति ते सर्वेऽशं न गृह्णीयुरिति । यत्र विवाहसमये भर्त्रादिकुलेन भगिन्यादौ दत्तमाभरणक्षेत्रादिकं तत्तस्या एव । मृतायां च तस्यामप्रजसि याज्ञवल्क्येनोक्तम्—

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च ।
अप्रजायामतीतायां बान्धवास्तदवाप्नुयुः ॥

येन यद्दत्तं स तदवाप्नुयादिति । सत्यां तु प्रजायां सैव गृह्णीयादिति ॥ २३ ॥

बहन का धन (भगिनी के दान के लिये पिता द्वारा गृहीत धन) उसकी माँ की मृत्यु के बाद उसके सहोदर भाई का होता है ॥ २३ ॥

पूर्वं चैके ॥ २४ ॥

प्रागपि मातुर्मरणाद्भगिनीशुल्कं सोदर्याणां भवतीत्येके मन्यन्ते । तस्या वृत्तापेक्षो विकल्पः ॥ २४ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि माता के जीवित रहने पर भी वह धन सहोदर भाइयों का हो जाता है ॥ २४ ॥

असंसृष्टिविभागः प्रेतानां ज्येष्ठस्य ॥ २५ ॥

असंसृष्टिनो विभक्तभ्रातरः । विभक्तव्यो विभागः । असंसृष्टिनां विभागोऽसंसृष्टिविभागः । प्रेतानामित्येतदुपसर्जनोभूतानामप्यसंसृष्टिनां विशेषणम् । अनपत्यस्य चेति वर्तते असंसृष्टिनां विभक्तानामनपत्यानां भ्रातॄणां प्रत्तानां यो विभागो विभक्तव्यो धनादिः स ज्येष्ठस्य भ्रातुर्भवति नेतरेषां भ्रातॄणां नापि पत्न्या न च पित्रोरित्याचार्यस्य पक्षः । तथा च शङ्खलिखितपैठीनसयः—अपुत्रस्य स्वर्यातस्य भ्रातृगामि द्रव्यं तदभावे मातापितरौ हरेतां पत्नी वा ज्येष्ठा सगोत्रशिष्यस्य ब्रह्मचारिणश्चेति । मनुस्तु—

पिता हरेदपुत्रस्य रिक्थं भ्रातर एव च। इति।

देवलश्च—ततो दायमपुत्रस्य विभजेरन्सहोदराः।

सकुल्या दुहिता वाऽपि ध्रियमाणः पिताऽपि च॥ इति॥२५॥

पुनः एक में मिले बिना ही और पुत्रहीन मरे हुए भाई की सम्पत्ति ज्येष्ठ भाई को मिलती है॥ २५॥

संसृष्टिनि प्रेते संसृष्टी रिक्थभाक्॥ २६॥

भ्रात्रादिभिः संसृष्टं धनं यस्य स संसृष्टो साधारणधनोऽविभक्तो विभज्य संसृष्टश्च।

विभक्तो यः पुनः पित्रा भ्रात्रा वैकत्र संवसेत्।

पितृव्येणाथवा प्रीत्या स तत्संसृष्ट उच्यते॥

इति बार्हस्पत्ये दर्शनात्। अनपत्यस्येति वर्तते। संसृष्टी(ष्टिनो) त्यनपत्ये प्रेते तस्य रिक्थं संसृष्टो भजेत्। तत्रापि सोदर्येणासोदर्येण च संसृष्टे सोदर्ये(र्यो) भजेत्। सोदरस्य तु सोदर इति याज्ञवल्क्यदर्शनात्। तदेवं विभक्ते भ्रातर्यनपत्ये मृते तद्धनं ज्येष्ठस्य। असति ज्येष्ठ इतरेषां भ्रातृणाम् अविभक्ते तु मृते तदंशः सर्वेषां भ्रातृणामिति॥ २६॥

यदि एक में मिले हुए भाइयों में कोई (बिना पुत्र के ही) मर जाये तो उसका धन उसके साथ के दूसरे भाई को प्राप्त होता है॥ २६॥

विभक्तजः पित्र्यमेव॥ २७॥

यस्तु विभागादूर्ध्वं जातः पुत्रस्तस्यामन्यस्यां वा भार्यायां स पित्र्यमेव गृह्णीयात्। विभागादूर्ध्वं पित्रा यदर्जितं विभागकाले वा गृहीतं तदेव भजेदल्पं प्रभूतं वा। अत्र बृहस्पतिः—

पुत्रैः सह विभक्तेन पित्रा यत्स्वयमर्जितम्।

विभक्तजस्य तत्सर्वमनीशाः पूर्वजाः स्मृताः॥ इति।

यदा तु पितुर्न किंचिदस्ति तदा वैष्णवम्—पितृविभक्ता विभागोत्तरोत्पन्नस्य भागं दद्युरिति।

याज्ञवल्क्योऽप्याह—

विभक्तेषु सुतो जातः सवर्णायां विभागभाक्।

दृश्याद्वा तद्विभागः स्यादायव्ययविशोधितात्॥ इति।

अत्र मनुनारदौ—

ऊर्ध्वं विभागाज्जातस्तु पित्र्यमेव हरेद्धनम्।

संसृष्टास्तेन वा येऽस्य विभजेत स तैः सह ॥ इति ॥ २७ ॥

विभाजन के बाद उत्पन्न पुत्र पूर्णतः पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है ॥ २७ ॥

स्वयमर्जितमवैद्येभ्यो वैद्यः कामं न दद्यात् ॥ २८ ॥

विद्यामधीत इति वैद्यः । स्वयमर्जितं विद्यारहितेभ्यो भ्रातृभ्यः कामं न दद्यात् । अदानेऽपि न प्रत्यवायो दाने त्वभ्युदय इति ॥ २८ ॥

विद्याध्ययन करने वाला स्वयम् उपार्जित धन (अपने साथ मिलकर रहने वाले) विद्याध्ययन से विरत भाइयों को अपनी इच्छा से नहीं दे सकता है ॥२८॥

अवैद्याः समं विभजेरन् ॥ २९ ॥

यदा तु सर्वे भ्रातरो मूर्खाः कृष्यादिनोपार्जयेयुस्तदा समं विभजेरन् । वैद्येनापि कृष्यादिना यदर्जितं न विद्यया लब्धं यदि पितृद्रव्याविरोधि तत्र साम्यमेव । तत्र सूत्रद्वयमपि चैतद् भ्रातृविषयमेव । पितरि तु जीवति विदुषाऽविदुषा वाऽविभक्तेनार्जितं पितुरेव ।

भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्यैते तस्य तद्धनम् ॥ इति मनुः ॥२९॥

विद्याध्ययन से विरत भाई अपने प्राप्त धन का समान विभाजन करे ॥२९॥

आचार्येण पुत्रा रिक्थ भजेरन्नित्युक्तं तत्रौरसा एव पुत्रा इति संप्रत्ययो मा भूदित्याह—

पुत्रा औरसक्षेत्रजदत्तकृत्रिमगूढोत्पन्नापविद्धा रिक्थभाजः । ३० ॥

औरसो धर्मपत्नीजः । अत्र याज्ञवल्क्यः—

अपुत्रेण परक्षेत्रे नियोगोत्पादितः सुतः ।
उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः ॥ इति ॥

अयमेवोत्पादयितुर्बीजिनश्च भर्तुः । दत्तविषये वसिष्ठः—

न ज्येष्ठं पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वा स हि संतानाय पूर्वेषाम् । न स्त्री पुत्रं दद्यात्प्रतिगृह्णीयाद्वाऽन्यत्रानुज्ञानाद्भर्तुः । पुत्रं प्रतिग्रहीष्यन्बन्धूनाहूय राजनि चाऽऽवेद्य निवेशनस्य मध्ये व्याहृतिभिर्हुत्वाऽदूरे बान्धवसंनिकृष्टमेव प्रतिगृह्णीयादिति । स दत्तः । कृत्रिमविषये मनुः—

सदृशं तु प्रकुर्याद्यं गुणदोषविवर्जितम् ।
पुत्रं पुत्रगुणैर्युक्तं स विज्ञेयस्तु कृत्रिमः ॥
उत्पद्यते गृहे यस्य न च ज्ञायेत कस्यचित् ।

स गृहे गूढ उत्पन्नस्तस्य स्याद्यस्य तल्पजः ॥
मातापितृभ्यामुत्सृष्टं तयोरन्यतरेण वा ।
यं पुत्रं प्रतिगृह्णीयादपविद्धस्तु स स्मृतः ॥ इति ।

षडेते रिक्थभाजः पुत्राः ॥ ३० ॥

औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न और अपविद्ध पुत्र सम्पत्ति के अधिकारी होते हैं ॥ ३० ॥

कानीनसहोढपौनर्भवपुत्रिकापुत्रस्वयंदत्तक्रीता गोत्रभाजः ॥३१॥

पितृवेश्मनि कन्या तु यं पुत्रं जनयेदिह ।
तं कानीनं वदेन्नाम्ना वोढुः कन्यासमुद्भवम् ॥ इति ।

अत्र वसिष्ठः—अप्रत्ता दुहिता यस्य पुत्रं विन्देत तुल्यतः ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥ इति ।

याज्ञवल्क्यः—कानीनः कन्यकाजातो मातामहसुतो मतः ॥ इति ।

तत्राप्रत्तायामेव मृतायां मातामहस्य पुत्रः पौत्रो वा । ऊढायां वोढुः ।

अत्र मनुः—या गर्भिणी संस्क्रियते ज्ञाताऽज्ञाताऽपि वा सती ।
वोढुः स गर्भो भवति सहोढ इति चोच्यते ॥
या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया ।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते ॥

पुत्रिकापुत्रः पूर्वमेवोक्तः । मनुः—

मातापितृविहीनो यस्त्यक्तो वा स्यादकारणात् ।
आत्मानं स्पर्शयेद्यस्मै स्वयंदत्तस्तु स स्मृतः ॥
क्रीणीयाद्यस्त्वपत्यार्थं मातापित्रोर्यमन्तिकात् ।
स क्रीतकः सुतस्तस्य सदृशोऽसदृशोऽपि वा ॥ इति ।

एते तु गोत्रभाजो गोत्रमेव केवलं भजन्ते न रिक्थम् । पूर्वे तु रिक्थभाजो गोत्रभाजश्चौरसेन सहाभिधानात् । सर्वे चैते सजातीयाः ।

सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः ।

इति याज्ञवल्क्यवचनात् ॥ ३१ ॥

अविवाहित स्त्री का पुत्र, गर्भवती अवस्था में विवाहिता स्त्री का पुत्र, दो बार विवाहित स्त्री का पुत्र, पुत्रिका का पुत्र, स्वयं दत्त और क्रीत पुत्र अपने पिता के परिवार के होते हैं ॥ ३१ ॥

चतुर्थांशिन औरसाद्यभावे ॥ ३२ ॥

अथवा नैते कानीनादयो न रिक्थभाजः किंतु चतुर्थांशिनः । पितृ-

धनस्य चतुर्थमंशं भजेरन् । पूर्वोक्तानां षण्णामौरसादीनामभावे । भावे तु त एव भजेरन् । चतुर्थांशऽव्यतिरिक्तं च सपिण्डा गृह्णीयुः । यदत्र पुत्रिकापुत्रस्यौरसाद्यभावेऽपि चतुर्थांशभाक्त्वमुक्तं तदपकृष्टपुत्रिकापुत्रविषयम् । यो हीनवर्णाया भार्याया दुहितरं पुत्रिकां करोति तत्राप्यभिसन्धिमात्रेण तत्पुत्रविषयमित्यर्थः । अत्र मनुः—

पुत्रिकायां कृतायां तु यदि पुत्रोऽनु जायते ।
समस्तत्र विभागः स्याज्ज्येष्ठता नास्ति हि स्त्रियाः ॥ इति ।
षष्ठं तु क्षेत्रजस्यांशं प्रदद्यात्पैतृकाद्धनात् ।
औरसो विभजन्दायं पित्र्यं पञ्चममेव वा ॥
औरसक्षेत्रजौ पुत्रौ पितृरिक्थस्य भागिनौ ।
दशापरे तु क्रमशो गोत्ररिक्थांशभागिनः ॥ इति च ।

अत्र दत्तपुत्रग्रहणानन्तरं वसिष्ठः—यस्मिंश्चेत्प्रतिगृहीत औरसः पुत्र उत्पद्यते चतुर्थभागभागी स्यादिति । अत्र कात्यायनः—

उत्पन्ने त्वौरसे पुत्रे तृतीयांशहराः सुताः ।
सवर्णा असवर्णास्तु ग्रासाच्छादनभागिनः ॥ इति ।

अत्र बृहस्पतिः—एक एवौरसः पित्र्ये धने स्वामी प्रकीर्तितः ।
तत्तुल्यः पुत्रिकापुत्रो भर्तव्यास्त्वपरे स्मृताः ॥
क्षेत्रजाद्याः सुतास्त्वन्ये पञ्चषट्सप्तभागिनः ॥ इति ।

हारीतः—विभजिष्यमाण एकविंशं कानीनाय दद्याद्विंशं पौनर्भवायैकोनविंशं द्व्यामुष्यायणायाष्टादशं क्षेत्रजाय सप्तदशं पुत्रिकापुत्रायेतरानौरसायेति ।

याज्ञवल्क्यो द्वादश पुत्राननुक्रम्याऽऽह—

पिण्डदोंऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः । इति ।

मनुरपि— श्रेयसः श्रेयसोऽभावे यवीयान् रिक्थमर्हति । इति ।

नारदोऽपि—क्रमादेते प्रवर्तन्ते मृते पितरि तद्धने ।
ज्यायसो ज्यायसोऽभावे जघन्यस्तदवाप्नुयात् ॥ इति ।

वसिष्ठोऽपि—यस्य तु पूर्वेषां च न कश्चिद्दायादः स्यादेते तस्य दायं हरेयुरिति ।

अत्रौरसः पुत्रिकापुत्रः क्षेत्रजः कानीनो गूढोत्पन्नोऽपविद्धः सहोढः पौनर्भवो दत्तः स्वयमुपागतः कृतकः क्रीत इति क्रमेण पुत्रानभिधाय देवलः—

एते द्वादश पुत्रास्तु संतत्यर्थमुदाहृताः ।
आत्मजाः परजाश्चैव लब्धा याद्दच्छिकास्तथा ॥

तेषां षड् बन्धुदायादाः पूर्वे ये पितुरेव षट् ।
विशेषश्चापि पुत्राणामानुपूर्व्याद्विशिष्यते ॥
सर्वेऽप्यनौरसस्यैते पुत्रा दायहराः स्मृताः ।
औरसे पुनरुत्पन्ने तेषु ज्यैष्ठ्यं न गच्छति ॥
तेषां सवर्णा ये पुत्रास्ते तृतीयांशभागिनः ।
हीनाः समुपजीवेयुर्ग्रासाच्छादनसंभृताः ॥ इति ।

बन्धुदायादा इति बन्धूनां सपिण्डानामप्येते दायं हरेयुर्न केवलं पितुरेव । इतरे पितुरेवेति । एष एव स्मृत्यन्तरेष्वपि बन्धुदायादशब्दस्यार्थः । तदेवम्—

औरसः पुत्रिका बीजिक्षेत्रिणौ पुत्रिकासुतः ।
पौनर्भवश्च कानीनः सहोढो गूढसंभवः ॥
दत्तक्रीतस्वयंदत्ताः कृत्रिमश्चापविद्धकः ।
यत्र क्व चोत्पादितश्च पुत्राख्या दश पञ्च च ॥
अनेनैव क्रमेणैषां पूर्वाभावे परः परः ।
पिण्डदोंऽशहरश्चेति युक्ता गुणवशा स्थितिः ॥ इति ॥ ३२ ॥

औरस आदि पुत्रों के अभाव में उपर्युक्त (अविवाहिता स्त्री के पुत्र आदि) को चौथा अंश मिलता है ॥ ३२ ॥

उक्तः सवर्णपुत्राणां विभागः । अथ क्रमविवाहेष्वसवर्णापुत्रेषु विशेषमाह—

ब्राह्मणस्य राजन्यापुत्रो ज्येष्ठो गुणसंपन्नस्तुल्यभाक् ॥३३॥

ब्राह्मणस्य राजन्यायां जातः पुत्रो यदि गुणसम्पन्नो ज्येष्ठश्च भवति तदा ब्राह्मणीपुत्रेण यवीयसा तुल्यभाक् । एकस्य वयसा ज्यैष्ठ्यमपरस्य जात्येति ॥ ३३ ॥

ब्राह्मण का क्षत्रिया से उत्पन्न पुत्र ज्येष्ठ हो और सद्‌गुणी हो तो ब्राह्मणी स्त्री से उत्पन्न छोटे पुत्रों के बराबर अंश ग्रहण करता है ॥ ३३ ॥

ज्येष्ठांशहीनमन्यत् ॥ ३४ ॥

विंशतिभागो ज्येष्ठस्येत्यादिर्य उद्धारः पूर्वमुक्तस्तद्व्यतिरिक्तमन्यद्विभजेतेति प्रकरणाद् गम्यते । गुणहीने ज्येष्ठे च राजन्यापुत्रे मानवम्—

सर्वं वा रिक्थजातं तद्दशधाऽत्र विभज्य तु ।
धर्म्यं विभागं कुर्वीत विधानेन तु धर्मवित् ॥
चतुरोंऽशान्हरेद्विप्रस्त्रीनंशान्क्षत्रियासुतः ।
वैश्यापुत्रो हरेद् द्व्यंशमेकं शूद्रासुतो हरेत् ॥ इति ॥ ३४ ॥

किन्तु उसे ज्येष्ठ पुत्र को मिलने वाला अतिरिक्त अंश नहीं मिलता है ॥ ३४ ॥

राजन्यावैश्यापुत्रसमवाये यथा स ब्राह्मणीपुत्रेण ॥ ३५ ॥

यदा ब्राह्मणीपुत्रस्तु नास्ति तदा राजन्यापुत्रो ब्राह्मणीपुत्रेण समवाये यथा तुल्यभाक्, एवं क्षत्रियापुत्रेण वैश्यापुत्रस्तुल्यभाक् ॥ ३५ ॥

यदि किसी ब्राह्मण के क्षत्रिया और वैश्या स्त्री से उत्पन्न पुत्र हों तो उनके बीच उसी प्रकार विभाजन होता है जिस प्रकार ब्राह्मणी और क्षत्रिया से उत्पन्न पुत्रों के बीच होता है ॥ ३५ ॥

क्षत्रियाच्चेत् ॥ ३६ ॥

चेच्छब्दश्चशब्दस्यार्थे । क्षत्रियाच्चोत्पन्नयोः पुत्रयोः समवाये वैश्यापुत्रो ज्येष्ठो गुणसंपन्नः क्षत्रियापुत्रेण यवीयसा तुल्यभाक् । एवं वैश्यादुत्पन्नस्य शूद्रापुत्रस्याप्येके मन्यन्ते द्रष्टव्यमिति । नेत्यन्येऽनुक्तत्वात् ॥ ३६ ॥

क्षत्रिया स्त्री से उत्पन्न पुत्र और वैश्या स्त्री से उत्पन्न पुत्र क्षत्रिय पिता से उत्पन्न होने पर उपर्युक्त विधि से ही सम्पत्ति के भाग पाते हैं ॥ ३६ ॥

शूद्रापुत्रोऽप्यनपत्यस्य शुश्रूषुश्चेल्लभेत वृत्तिमूलमन्तेवासिविधिना ॥ ३७ ॥

ब्राह्मणस्येति वर्तते । अनपत्यस्याविद्यमानद्विजातिपुत्रस्य ब्राह्मणस्य शूद्रापुत्रोऽपि वृत्तिमूलं लभेत । यावता कृष्यादिकर्मसमर्थो भवति तावल्लभेत । स यद्यन्तेवासिविधिना शुश्रूषुर्भवति । यथा शिष्य आचार्यं शुश्रूषते तथा शुश्रूषुश्चेदिति । एवं क्षत्रियवैश्ययोरपि शूद्रापुत्रो वृत्तिमूलं लभेत ॥ ३७ ॥

शूद्रा स्त्री का पुत्र भी यदि शिष्य के समान आज्ञाकारी हो तो भरण-पोषण के योग्य भाग उस ब्राह्मण पिता की सम्पत्ति से पाता है जिसके कोई अन्य पुत्र न हो ॥ ३७ ॥

सवर्णापुत्रोऽप्यन्याय्यवृत्तो न लभेतैकेषाम् ॥ ३८ ॥

यस्त्वन्याय्यवृत्तोऽधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति वेश्यादिभ्यः प्रयच्छति [स] सवर्णापुत्रोऽप्यपिशब्दाज्ज्येष्ठोऽपि दायं न लभेतेत्येकेषां मतम् । तथा चाऽऽपस्तम्बः—यस्त्वधर्मेण द्रव्याणि प्रतिपादयति ज्येष्ठोऽपि तमभागं कुर्वीतेति ॥ ३८ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि अपने वर्ण की पत्नी से उत्पन्न पुत्र यदि अधर्माचरण करने वाला हो तो उसे भी सम्पत्ति मिले ॥ ३८ ॥

श्रोत्रिया ब्राह्मणस्यानपत्यस्य रिक्थं भजेरन् ॥ ३९ ॥

अपत्यग्रहणं पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धादेरुपलक्षणम् । अनपत्यस्याविद्यमानधनभाजो ब्राह्मणस्य श्रोत्रिया हि रिक्थं भजेरन् ॥ ३९ ॥

पुत्रहीन ब्राह्मण की सम्पत्ति श्रोत्रिय बाँट लेते हैं ॥ ३९ ॥

राजेतरेषाम् ॥ ४० ॥

इतरेषां क्षत्रियादीनां रिक्थमनपत्यानां राजा भजेत ॥ ४० ॥

राजा अन्य वर्णों के पुरुषों की सम्पत्ति ग्रहण करता है ॥ ४० ॥

जडक्लीबौ भर्तव्यौ ॥ ४१ ॥

जडो नष्टचित्तः । क्लीबस्तृतीयाप्रकृतिः । एतावशनाच्छादनदानेन भर्तव्यौ । मनुस्तु—

अनंशौ क्लीबपतितौ जात्यन्धबधिरौ तथा ।
उन्मत्तजडमूकाश्च ये च केचिन्निरिन्द्रियाः ॥ इति ॥ ४१ ॥

मूर्ख और नपुंसक का पालन पोषण करे ॥ ४१ ॥

अपत्यं जडस्य भागार्हम् ॥ ४२ ॥

यदि तु जडस्यापत्यं भवति तदा तद्भागार्हं भवति । तस्मै स भागो देयस्तत्पितुः । अत्र मनुः—

यद्यर्थिता तु दारैः स्यात्क्लीबादीनां कथंचन ।
तेषामुत्पन्नतन्तूनामपत्यं दायमर्हति ॥ ४२ ॥

मूर्ख व्यक्ति का पुत्र भी सम्पत्ति का भागी होता है ॥ ४२ ॥

शूद्रापुत्रवत्प्रतिलोमास्तु ॥ ४३ ॥

प्रातिलोम्येन जातानां सूतादीनामपि गुणोत्कृष्टानां शूद्रापुत्रवद् वृत्तिमूलं दातव्यमिति ॥ ४३ ॥

प्रतिलोम से (निम्न वर्ण के पुरुष द्वारा उत्तम वर्ण की स्त्री से उत्पन्न) पुत्र ब्राह्मण द्वारा शूद्रा से उत्पन्न पुत्र के समान अंश का भागी होता है ॥४३॥

उदकयोगक्षेमकृतान्नेष्वविभागः ॥ ४४ ॥

उदकं कूपादि । योगक्षेमाविष्टापूर्ते । तथा च लौगाक्षिः—

योगः पूर्तं क्षेम इष्टा इत्याहुस्तत्त्वदर्शिनः ।

अविभाज्ये तु ते प्रोक्ते शयनं चान्नमेव च ॥ इति ।

कृतान्ने तूत्सवादिषु कल्पिते प्रभूतेऽपि । एतेषु विभागो न कर्तव्यः । यथावस्थितेष्वेव सोदर्यानुरूपेण भोगः ॥ ४४ ॥

जल, धार्मिक कृत्य के लिये निर्धारित सम्पत्ति और बने हुए भोजन का विभाजन नहीं होता ॥ ४४ ॥

स्त्रीषु च संयुक्तासु ॥ ४५ ॥

याश्च स्त्रियो दास्यो भ्रात्रादिषु केनचित्संयुक्ता उपभोगपरिगृहीता-स्तास्तस्यैव । यद्यन्याः सन्त्यन्यत्रान्येषां भागः । यदि न सन्ति तदा द्रव्येण साम्यमापादनीयम् । यदा पुनरेकैव दास्यसंयुक्ता च तदा पर्यायेण कर्म करोतु ॥ ४५ ॥

परिवार के सदस्यों से सम्बद्ध स्त्रियों का विभाजन नहीं होता ॥ ४५ ॥

अनाज्ञाते दशावरैः शिष्टैरूहविद्भिरलुब्धैः प्रशस्तं कार्यम् ॥४६॥

ज्ञायत इवाऽऽज्ञातम् । तद्विपरीतमनाज्ञातम् । योऽर्थो यथावदविज्ञातः संदिग्धो वा तत्रानाज्ञाते दशावरैर्दशभ्योऽन्यूनैः शिष्टैः ।

धर्मेणाधिगतो यैस्तु वेदः सपरिबृंहणः ।
ते शिष्टा ब्राह्मणा ज्ञेयाः श्रुतिप्रत्यक्षहेतवः ॥

इति मनुनोक्तैः । ऊहविद्भिरूहापोहकुशलैः । अलुब्धैरुत्कोचादिषु निःस्पृहैः । एवंभूतैर्ब्राह्मणैर्यत्प्रशस्तं स्तुतमिदमत्र युक्तमिति तत्कार्यं कर्तुं युक्तम् ॥ ४६ ॥

जिस विषय में किसी नियम का विधान नहीं किया गया है उसके सम्बन्ध में वही करना चाहिए जो कम-से-कम दस विद्वान् , विवेकवान् और लोभहीन ब्राह्मण कहें ॥ ४६ ॥

के पुनस्ते दशावरास्तानाह—

चत्वारश्चतुर्णां पारगा वेदानां प्रागुत्तमात्त्रय आश्रमिणः पृथग्धर्मविदस्त्रय एतान्दशावरान्परिषदित्याचक्षते ॥ ४७ ॥

चतुर्णां वेदानां पारगाः साङ्गानामध्येतारोऽर्थज्ञाश्च । एवंभूताश्चत्वारो न चातुर्वैद्य एकः । आश्रमिणस्तृतीयेऽध्याय उक्ता ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानस इति । तेषूत्तमाद्वैखानसात्पूर्वे त्रय आश्रमिणः । पृथग्धर्म-शास्त्रविदस्त्रयः । पृथग्ग्रहणमेकमेव धर्मशास्त्रं विदुषां त्रयाणां ग्रहणं मा भूदिति । तानेतान्दशावरान्परिषदित्याचक्षते धर्मज्ञाः ॥ ४७ ॥

उनका कहना है कि परिषद् में कम-से-कम ये दस सदस्य हों—चार वेदों के पूर्ण ज्ञानी, चार व्यक्ति, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु तथा पृथक् पृथक् धर्मशास्त्रों के ज्ञाता तीन व्यक्ति ॥ ४७ ॥

असंभवे त्वेतेषां श्रोत्रियो वेदविच्छिष्टो विप्रतिपत्तौ यदाह ॥ ४८ ॥

एतेषां व्यस्तानां समस्तानां च बहूनामसंभवे श्रोत्रियः साङ्गस्य वेदस्याध्येता । वेदवित्तदर्थज्ञः । शिष्टः स्वधर्मनिरतः । एवंभूत एकोऽपि विप्रतिपत्तिविषये यदाहेदमत्र युक्तमिदं कार्यमिति तत्कार्यम् । तथा च मनुः—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येत्समाहितः ।
स धर्मः परमो ज्ञेयो नाज्ञानामुदितो युतैः ॥ इति ॥ ४८ ॥

इन अनेक व्यक्तियों के न होने पर अङ्गों सहित सम्पूर्ण वेद का ज्ञाता श्रोत्रिय ही अकेला पर्याप्त होता है (उसके वचन मान्य होते हैं क्योंकि) ॥४८॥

कस्मात्पुनरेकस्यापि श्रोत्रियस्य वेदविदः शिष्टस्य वचनं कर्तव्यमित्यत आह—

यतोऽयमप्रभवो भूतानां हिंसानुग्रहयोगेषु ॥ ४९ ॥

प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम् । तन्न विद्यते यस्य सोऽप्रभवः । यस्मादयं भूतानां हिंसानुग्रहयोगेषु दण्डप्रायश्चित्तादिष्वगृह्यमाणकारणः केवलं शास्त्रनेत्रस्तस्मादेकस्यापि वचनमनुष्ठेयमिति । अपर आह—प्रभवनं प्रभवः प्रभुत्वं तद्यस्य नास्ति सोऽप्रभवः । न ह्यसौ शास्त्रनिरपेक्षः स्वतन्त्रः किंचिदनुगृह्णाति निगृह्णाति वा । तस्मादस्य वचनमनुष्ठेयमिति ॥ ४९ ॥

वह प्राणियों के हिंसा और अनुग्रह मे दण्ड और प्रायश्चित्त में कारण होता है ॥ ४९ ॥

सांप्रतं ये केवलं धर्ममनुतिष्ठन्ति तेभ्यो ज्ञात्वाऽनुतिष्ठन्विशिष्ट इत्याह—

धर्मिणां विशेषेण स्वर्गं लोकं धर्मविदाप्नोति ज्ञानाभिनिवेशाभ्याम् ॥ ५० ॥

धर्मिणो धर्मवन्तो धार्मिकाः । तेषां मध्ये यो धर्मविद्धर्मशास्त्रं यावतोऽर्थतोऽधीत्य धर्मं तावतो वेत्ति सः । ज्ञानाभिनिवेशाभ्याम् । ज्ञानं समर्थावगतिः—अभिनिवेशस्तात्पर्येणानुष्ठानम् । ज्ञानेनाभिनिवेशेन च केवलानुष्ठातृभ्यो विशेषेण स्वर्गं लोकमाप्नोति ॥ ५० ॥

धार्मिक व्यक्तियों में धर्म को जानने वाला ज्ञान और उसके अनुष्ठान द्वारा विशेष रूप से स्वर्गलोक प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

इति धर्मो धर्मः ॥ ५१ ॥

सोऽयमादितो वेदो धर्ममूलमित्यारभ्यैवमन्तो धर्म उक्तः । द्विरुक्तिः शास्त्रपरिसमाप्त्यर्था ॥ ५१ ॥

गौतमोक्ते धर्मशास्त्रे हरदत्तकृताविह ।
अष्टाविंशोऽयमध्यायो वृत्तौ दायः समापितः ॥

इति श्रीगौतमीयवृत्तौ हरदत्तविरचितायां मिताक्षरायां
तृतीयप्रश्ने दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार धर्म की व्याख्या समाप्त हुई ॥ ५१ ॥

गौतमधर्मसूत्र समाप्त

समाप्तोऽयं ग्रन्थः